अभिनिष्क्रमणं

महाकाव्यम्

रचयिता

श्री चन्दन मुनि

★

प्राक्कथन :

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी

★

भूमिका .

डा० लूडो रोचर
पैनसिलवानिया यूनिवर्सिटी
(अमेरिका)

★

हिन्दी अनुवाद .

मुनिश्री मोहनलाल 'शार्दूल'

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह की स्मृति में

प्रकाशक .

जवरीमल डालमचन्द

१०३, प्रिन्सेस स्ट्रीट बम्बई-२

★

जवरीमल डालमचन्द

३, पोर्चुगीज चर्चस्ट्रीट

कलकत्ता–१

★

सोहनलाल मोहनलाल बैंगानी

बीदासर (चुरु-राजस्थान)

★

प्रथम प्रवेश .

जून १९७१

★

मुद्रक

रामनारायण मेडतवाल,

श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस

आगरा–२

मूल्य . आठ रुपए

ABHINISHKRAMNAM

MAHAKAVYAM

Author

Shri Chandan Muni



Foreword :

Yugpradhan Acharya Shri Tulsi



Preface :

Dr. Ludo Rocher

Professor. Pennsylvania University

(U. S. A.)



Hindi Translator :

Muni Shri Mohanlal 'Shardul'

IN THE MEMORY OF TERAPANTA DWISHATABDI CELEBRATION

Publishers
Jawarimal Dalamchand,
103, Princece Street, Bombay-2



Jawarimal Dalamchand
3, Portuguese church Street
Calcutta-1



Sohanlal Mohanlal Bengani,
Bidasar (Churu-Rajasthan)



First Edition
June 1971



Printers .
Ramnarayan Maratwal
Shri Vishnu Printing Press,
Agra-2

Price : Rs. *8.00*

प्राक्कथनम्

साहित्य-सरिता सतत प्रवहमाना विलसति। तस्या उद्गमोऽस्ति गभीरा हृदयानुभूतिः। यदा श्रद्धा स्फूर्तिमाप्नोति, भावना भवति तरङ्गिता, अनुभूतिरुन्निनीषा नयति, तदा काव्यधारा प्रस्फोटमाव्रजति।

'अभिनिष्क्रमण' सञ्ज्ञकं काव्यमपि श्रद्धाप्रेरितमस्ति। यद्यपि श्रद्धाया उत्कर्षोऽस्मिन् सभ्राजते तथापि शब्द-विन्यास-सौष्ठव, वाक्यलालित्य, प्रयोग-नैपुण्य च काव्यात्मानं पूर्णरूपेण सुरक्षयन्ति सन्ति।

अधुनातने काले सस्कृतभाषाया काव्यलेखन प्रायः कल्पनालोक-विहरणमिवाभाति। सस्कृत मृतभाषेति गीयते साम्प्रतिकैर्विज्ञैः।

चन्दनमुनिना संस्कृत-भाषायामनेकान् ग्रन्थान् विरचय्य न केवल तेरापथ-धर्मसघस्य गौरववृद्धिः कृता, अपितु अस्या जीवितत्वमपि प्रसाधितम्। एतन्नूनमेव प्रमोदास्पद सस्कृतानुरागिणाम्।

प्रस्तुत-काव्ये भिक्षुस्वामिनोऽभिनिष्क्रमण वर्णित-मस्ति। यस्मिन् युगे एतत् सर्व घटितम्, तदासीत् सम्प्रदायकोलाहलाकुलम्। इदानी धर्मसमन्वयस्य, साम्प्र-दायिकसद्भावनायाश्च गौरव वृद्धिगतमस्ति। यद्यपि प्राचीनघटनाया वर्णने कतिचित् प्रसगाः किञ्चिदप्रिया अपि भवन्ति, तथापि तै सद्भावेन भवन्ति सोढव्या। लेखकस्य एतत् महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वमस्ति यत् स प्राचीनघटनाप्राप्त गरलमपि समन्वयसुधास्नात प्रस्तुवीत। यत त्रुटितमपि पारस्परिक प्रेम पुन सघटना सस्पृशेत्। शब्दात्मन सौन्दर्यमिव अर्थात्मनोऽपि तदपेक्षितमस्ति। कविना अस्मिन् विषये जागरूकता प्रदर्शिता।

आशासेऽह अन्येऽपि काव्यग्रन्थास्तद्लेखनी-प्रसूता भविष्यन्ति जनाना पुरत प्रस्तुता।

वि० स० २०२७ चैत्रकृष्णा षष्ठी
लाडनूं

—आचार्य तुलसी

अपनी ओर से

तेरापथ के आद्यप्रवर्तक प्रात स्मरणीय स्वनामधन्य श्रीमद् भिक्षुस्वामी के द्विशताब्दी महोत्सव (केलवा एव राजनगर) के अवसर पर स्वामीजी के विषय मे, मैं कुछ सस्कृत मे लिखूँ, ऐसी प्रेरणा मुझे आचार्य श्री तुलसी द्वारा मिली। अपने आराध्य के प्रति मेरे हृदय मे अटूट श्रद्धा रही है। मै स्वामीजी की अनेक अन्यान्य विशेषताओ मे दो के प्रति सर्वाधिक आकृष्ट हूँ—उनकी सत्य-निष्ठा एव निर्भीकता के प्रति। मैं उन्हे साकार सत्य रूप मे देखता हूँ। जो उन्हे सत्य प्रतिभासित हुआ, उसे उन्होने नि सकोच प्ररूपित किया, समझाया और अपनाया। उनके वज्रसार हृदय ने कभी यह भीतिकम्पन महसूस नही किया कि जनता मुझे क्या कहेगी ? मेरे साथ कैसा व्यवहार करेगी ? मुझे किस दृष्टि से देखेगी ? सत्य का ही अपर रूप अभय है, भयाक्रात कभी सत्यनिष्ठ नही हो सकता। **'माया भयम्'** यह उक्ति यथार्थ है—छल, प्रपच माया ही भय है, सत्य हमेशा अभय ही है। मेरे कहने का यह अभिप्राय नही है कि स्वामीजी ने जो कुछ निरूपित किया उसके आगे पीछे चिंतन का अवकाश ही नही है, क्योंकि कोई कितना ही मेधावी क्यो न हो, फिर भी वह सत्याश को ही अनावृत कर सकता है। पूर्ण सत्य शब्दो के परिवेश मे आ ही नही सकता, यह निश्चित तत्व है। हाँ, उन्हे जो प्रतीत हुआ उसे अपनाते हुए वे जी-जान से अपने गम्य पथ पर चरण बढाते चले। इसी भावना को लेकर 'अभिनिष्क्रमण' काव्य-प्रबन्ध की रचना हुई। एक प्रतिष्ठापित सम्प्रदाय से पृथक् होकर अनेक असुविधाओ और बाधाओ को चीरते हुए उन्होने महान् अभिनिष्क्रमण किया। उसके प्रेरणा-बीज किस तरह पनपे, इस प्रश्न के सदर्भ मे यह काव्य गुरु-शिष्य के सौहार्दपूर्ण वार्तालाप से प्रारम्भ होता है।

मेरे लिए कठिनाई

मेरे लिए बडी कठिनाई यह थी कि इस ऐतिहासिक चरित्र को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय, जबकि आज हम उन्ही अन्यान्य जैन सम्प्रदायो के

साथ समन्वय की दिशा मे अग्रसर हो रहे है, विना किसी घृणा। पर नवीन के परस्पर सौहार्द से मिलते जुलते है। फिर यह ऐतिहासिक वृत्त और सम्बद्ध वर्णन क्या उनके हृदय को कुछ अप्रिय नही लगेगा ? क्या वे मेरे इस कार्य को ऐकातिक श्रद्धा से प्रेरित तथा साम्प्रदायिकता से अनुप्राणित नही मानेगे ? किंतु मेरी अंतरात्मा की यह आवाज है, कि यदि लेखक का हृदय वास्तव मे साम्प्रदायिक विग्रह से विपायत नही है तो यथार्थ निरूपण करती हुई उसकी लेखनी की नोक किसी भी विज्ञ चिंतक-हृदय मे चुभन पैदा नही करेगी, क्योकि यह एक ऐतिहासिक घटना है। आज के सम्बन्ध से उसे नही जोड़ना चाहिए। फिर लेखक सत्य का आराधक है, उसे अपनी रचना के परिणामो की अपेक्षा मूल प्रेरणाओ को ही विवेकपूर्वक दृष्टिगत रखना चाहिए।

सत्य से समझौता

मेरी स्वय की भी यही मान्यता है कि सत्य सत्य ही है। उससे कभी समझौता नही हो सकता। यूनान की एक कहावत है—'प्लेटो मुझे प्रिय है, सुकरात मुझे प्रिय है, किन्तु सत्य मुझे सर्वाधिक प्रिय है।" जैन-परम्परा सत्य को भगवान मानती है। यही गांधीजी मानते थे। समझौता तो "कुछ बाण झुके कुछ कमान झुके" की कहावत को चरितार्थ करते हुए होता है। इसीलिए तो नग्न सत्य प्राय कटु ही प्रतीत होता है—कहा भी है—"हितं मनोहारि सुदुर्लभ वच"। पर किया क्या जाए ? इसका कोई दूसरा मार्ग भी नही है। समालोचको से मेरा नम्र निवेदन है कि इतिवृत्तो मे एकरूपता न होने के कारण और श्रद्धा के केन्द्रो की विभिन्नता होने के कारण ही मेरा ऐतिहासिक वर्णन उन्हे अतिरजित एव केवल श्रद्धा-प्रेरित ही लगे। लेकिन स्वय उन्होने भिक्षु स्वामी को किस रूप में चित्रित किया है इस ओर भी दृक्पात करले तो स्वत मेरी वर्णन-शैली कुछ कोमल-सी ही प्रतीत होगी। अस्तु; मेरे साक्षात्द्रष्टा न होने के कारण जयाचार्य-रचित 'भिक्षु जस रसायन' और मुनि हेमराज जी एव मुनि वेणीरामजी द्वारा रचित स्वामीजी के चरित्र ही इस रचना की आधारशिला है। काव्य-शैली मेरी है, पर मूल तथ्य तो प्रागुनिरूपित ही है, अत "अह निर्दोषोऽस्मि" कहने का मुझे हक है।

काव्य की दिशाएँ

इस काव्य मे प्रमुखतया मेवाड एव मारवाड के प्राकृतिक स्थलो का, तत्सामयिक स्थितियो का, लोगो के रहन-सहन का और यथासमय परिवर्तित होती हुई ऋतुओ का सजीव चित्रण किया गया है। काव्यकर्त्ता स्वय इस

प्रदेश का परिव्राजक होने के कारण इस काव्य मे उसके द्वारा अनुभूत तथ्यो का यथार्थदर्शन होना असम्भावित नही है। यथासम्भव काव्य के एकाकी कल्पना-लोक मे विहरण न करते हुए जीवन-चर्या मे घटनेवाले दैनदिन व्यवहारो का विशद विवेचन करने की ही मैंने सदैव चेष्टा की है।

जिनका मै आभारी हूं

सर्वप्रथम मैं अणुव्रतअनुशास्ता श्री आचार्य-चरण का आभारी हूँ, जिन्होने इस काव्य का प्राक्कथन लिखना सहर्ष स्वीकार किया। रायपुर के दुर्घट वाता वरण ने इस कार्य को सम्पन्न नही होने दिया। वाद मे प्रलम्ब विहार करते हुए बीदासर पहुँचते ही माघ-महोत्सव के अवसर पर आप विशेषत अस्वस्थ हो गए। अनेक भारी सघीय कार्यो के होते हुए भी आपने किंचित् स्वास्थ्य लाभ करते ही अपने वचन का निर्वाह किया। आचार्यप्रवर ने सक्षिप्त किन्तु शिक्षाप्रद एव मार्मिक प्राक्कथन लिखकर इस काव्य को गौरव प्रदान किया। मुनि श्री मोहनलाल जी 'शार्दूल' ने, "इस काव्य का अनुवाद तुम्हे ही करना है", इस मेरे कथन को सविनय स्वीकारते हुए शीघ्रातिशीघ्र अनुवाद जैसे श्रम-साध्य कार्य को सुन्दर रूप मे सम्पन्न किया। अन्यथा यह काव्य इस रूप मे जनता के सामने नही आ पाता। उनके प्रति मैं किन शब्दो मे कृतज्ञता ज्ञापित करू ? श्री सुन्दरलाल भाई जवेरी ने पैनसिलवानिया यूनिवर्सिटी के सस्कृत विभागाध्यक्ष डा० लूडोरोचर से सपर्क स्थापित कर प्रस्तुत काव्य के लिए भूमिका लिखवाई है, अत. उनका सहयोग भी मेरे आल्हाद का कारण बना है बस, मुझे अपने हितैषीजनो का समय-समय पर ऐसा ही सौहार्द प्राप्त होता रहे, यही कामना करता हूँ।

अन्यान्य सहयोगी

इसी प्रकार मुनि श्री मधुकरजी ने भाई श्री जुगलकिशोरजी भोजक द्वारा इस काव्य की धारणा करवाकर मेरे श्रम को हल्का बनाया। मुनि श्री धर्मरुचिजी ने इस काव्य के पारिभाषिक शब्दो की तात्पर्य-युक्त शब्द सूची बनाकर जैनेतर पाठको के लिए इस काव्य को सहज पठनीय बना दिया है। इन सभी सहयोगियो के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। अन्त मे मेरी इस सहज बुद्धि-गम्य कृति को गुण-ग्राही सहृदय कविजन स्वीकार करते हुए मेरा उत्साह बढाएगे, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

सवत् २०२८ वैशाख कृष्णा-द्वादशी —चन्दन मुनि

सरदार शहर।

अनुवादकीय

आधारभूत माध्यम

मानव जति की उन्नति मे साहित्य का अनन्य सहयोग रहा है। मानव-समाज साहित्य के आधारभूत माध्यम से ही इतना सुसम्कृत और सभ्य बना है। उसके हर आरोहण मे साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। साहित्य के द्वारा ही उसका अतीत सुरक्षित रहा है। दर्शन, धर्म, सस्कृति, विज्ञान सभ्यता आदि सभी विषयो का विकास साहित्य की सुदृढ नीव पर ही हुआ है तथा हो रहा है। साहित्य जहाँ अतीत को संजोकर रखता है, उसी तरह वर्तमान को प्रकाशित करता है और भविष्य की उजली रेखायें खीचता है।

साहित्य का प्रयोजन.

साहित्य-मर्मज्ञो और विद्वानो ने साहित्य के अनेक प्रयोजन बताए हैं। पर उसका अन्तिम लक्ष्य आत्म-दर्शन, अनन्तशान्ति, पूर्ण विकाश की उपलब्धि है।

आध्यात्मिक प्रतिष्ठा ही साहित्य का साध्य हो सकता है, क्योकि सारी भौतिक समृद्धिया अस्थायी और क्षरण-शील है। साहित्य अविचल तथा अविकल का साधक है।

सर्वश्रेष्ठ भाषा :

"सस्कृत भाषा ससार भर की भाषाओ मे श्रेष्ठ है। हमारा सस्कृत साहित्य समग्र सभ्य साहित्यो से प्राचीनता, व्यापकता तथा अभिरामता मे बढकर है। यदि इस भूमि-वलय पर कोई भी भाषा सब से प्राचीन होने की अधिकारिणी है, तो यही हमारी सस्कृत भाषा ही हैं।

'भारत मे तो सस्कृत की बहुत गरिमा रही, इसे राजभाषा की मान्यता दी गयी। विक्रम के आरम्भ से लेकर १४ वी शताब्दी तक अनेक भारतीय राज्य यहाँ बने रहे जिनमें सस्कृत राज-भाषा के रूप मे व्यवहृत होती थी।'[1]

---

१ सस्कृत साहित्य का इतिहास

विशालता :

"संस्कृत साहित्य विपुल मात्रा मे लिखा गया है, इसे भारत के विद्वान ही नही, पाश्चात्य विद्वान भी स्वीकार करते है।

पश्चिमी विद्वानो का कहना है कि सस्कृत साहित्य का जो अश छपकर प्रकाशित हुआ है वह भी ग्रीक और लैटिन साहित्यो के समग्र ग्रन्थो से दुगुना है, जो अभी तक हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप मे पडा हुआ है या किसी प्रकार नष्ट हो गया है उसकी तो गणना ही अलग है"।[२]

भारतीय संस्कृति का वाहन

"सस्कृत साहित्य भारतीय सस्कृति का प्रधान वाहन रहा है। भारतीय संस्कृति का प्राण आध्यात्मिक भावना है, त्याग से अनुप्रणित, तपस्या से पोषित तथा तपोवन मे सर्वधित भारतीय सस्कृति का रमणीक आध्यात्मिक रूप सस्कृत भाषा के ग्रन्थो मे अपनी सुन्दर झाकी दिखाता हुआ सहृदयो के हृदय को बरबश खीचता है"।[३]

जैन आचार्यो एव मुनियो ने प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश, तमिल, कन्नड और हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओ मे प्रचुर मात्रा से साहित्य लिखा है। वह क्रम वर्तमान मे भी चालू है।

जैनो का समग्र दार्शनिक साहित्य सस्कृत भाषा के माध्यम से ही पल्लवित-पुष्पित हुआ है। काव्य, व्याकरण और कोष आदि सभी साहित्यिक प्रकारो मे जैनो ने अपनी लेखनी खुलकर चलाई है।

उनके अर्थ-गभीर और भाषा लालित्य से परिपूर्ण साहित्य का अतिशय मूल्याकन हुआ है।

तेरापथ ने भी सस्कृत साहित्य के भडार को भरने के लिए उल्लेखनीय हाथ बढाया है। गद्य-पद्य मे अनेक महत्वपूर्ण कृतिया विनिर्मित की हैं।

अभिनिष्क्रमण महाकाव्य युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के सतीर्थ्य मुनि श्रीचन्दनमलजी की सस्कृत गद्य मे एक ऐतिहासिक रचना है। इसमे तेरापन्थ के प्रवर्तक आचार्य श्रीभिक्षु के जन्म से लेकर स्थानकवासी सम्प्रदाय से अलग होने तक के इतिवृत्त का सजीव चित्रण है।

---

२ सस्कृत साहित्य का इतिहास

३ सस्कृत साहित्य का इतिहास

काव्य मे भावपक्ष और कलापक्ष दोनो का सुन्दर समन्वय है। कवि ने तत्त्व, प्रकृति, ऋतु, मनोभाव आदि का मार्मिक विवेचन किया है। भाषा भी सरल सुवोध है।

सत्य के लिए कवि की अडिग आस्था है। उसके विषय मे अपना अभिमत व्यक्त करते हुए कवि ने वारहवे समुच्छ्वास के प्रारम्भ मे ही कितना तथ्यपूर्ण कहा है—" सत्य ही सत्य है, सत्य ही शिव है और सत्य ही सुन्दर है, इस को सभी विद्वत्-शिरोमणि जानते हैं और बताते हैं तथापि सरल होते हुए भी उसका अनुशीलन प्राय मनुष्य नही कर सकते। फल-निष्पत्ति मे सुन्दर होते हुए भी वह प्रारम्भ मे सत्यप्रिय के धैर्य की परीक्षा लेने का इच्छुक-सा प्राय. थोडा कटु होता है। इसीलिए उसके अखण्ड लाभ पर दृष्टि लगाने वाले सत्यान्वेषी मनुष्य को पहले उसके प्रति पूर्ण विश्वस्त होना चाहिए।"

इसीप्रकार विचारभेद और विचारऐक्य की महत्ता पर ग्यारवें समुच्छ्वास मे लिखा है"—विचार भेद सुदृढ एकता के सूत्र मे बधे हुए राष्ट्रो मे भी भेद डाल देता है। विचारो की एकता से ही एक धागे मे पिरोए हुए मणको की तरह हजारो आदमी परम प्रेम से साथ मे रह सकते हैं।"

प्रत्येक वस्तु का मूल्य अवसर पर है, विना समय हर चीज विषम बन जाती है। अवसर पर जरा सी भी वह फलदायक सिद्ध होती है। इस तथ्य को वडे रोचक व मर्मस्पर्शी ढग से कहा गया हैं। जैसे—

"हन्त अनवसरेऽमृतमपि विषायते, विषमप्यवसरप्रयुक्तममृतमतिरिच्यते। एकमेव वस्तु महद्धस्तोपढौकितं सन्महर्घ्यत्वमालिङ्गति, वहुमूल्यरत्नमपि कौलटनेयकरक्रोडस्थ शतमूल्यमपि नार्हति। अवसरे प्रयुक्तमेकमपि सूक्त स्वात्या शुक्तिगत पानीयपृषदिव मौक्तिकतामाराधयत् सेवते सार्वभौमाना मञ्जुलमुकुटानि।"

भारतीय सस्कृति त्याग प्रधान है। धर्म की उत्पत्ति व्रत सयम से ही होती है। कवि ने अच्छे ढग से इसकी व्याख्या वारहवे समुच्छ्वास मे प्रस्तुत की है—"व्रतो मे ही धर्म है अव्रतो मे नही। दया मे ही धर्म है, हिंसा मे नही। हृदय परिवर्तन करने वाले उपदेश से ही धर्म है और बल प्रयोग से नही। धर्म आत्मा से ही पैदा होता है और स्वर्णरुप्यक आदि द्रव्य से नही। ये सार्वजनिक सार्वभौम सर्वज्ञ के सिद्धान्तो मे प्रसिद्ध सिद्धान्त है।"

समाज मे दो प्रकार के कार्य चलते है—पारमार्थिक और व्यावहारिक। दोनो का अपना अलग-अलग मूल्य है। दोनो को उलट पुलट कर दिया जाये तो महान अनर्थ हो जाता है। काव्यकार ने बडी हृदयग्राही उपमा के साथ इसे प्रस्तुत किया है—"जीभ की औषधि यदि आँखो मे डाल दी जाय और आँखो की दवा यदि जिह्वा पर लगा दी जाय तो जीभ फट जाती है और आँखे फूट जाती हैं। वैसे ही पारमार्थिक कार्य को व्यवहार मे और व्यावहारिक कार्य को पारमार्थिक मे डाला जाता है तो दोनो का ही विनाश हो जाता है।'

ऋतु वर्णन मे भी कवि ने अपनी लेखिनी को सशक्त बनाया है। ग्यारवे समुच्छ्वास मे शीत ऋतु का वर्णन बडा सरस किया है, जैसे—

"समस्त-वस्तु-विसरं लघु-हिमकण-मौक्तिकैर्मण्डयन्निव, प्रचण्डोऽपि रोषो न क्षान्ति-शक्त्याहत स्थातु शक्तः इतीव निजापरिमेय-शीतलतयोष्णता निर्गमयन्निव, न सर्वत्र समेषा सदृशी सपर्येति धूमयोनेरवमाननामभिव्यञ्जयन्निव, चिरबद्धकपाटाना गर्भ-गृहाणा द्वाराण्युद्घाटयन्निव, कामेन सह शीतेन कम्पमानतनुना प्रवासिना पत्या विरहिणी श्यामा स्मारयन्निव, पुष्टिकृते वाताद-पिस्तका-हिफेनबीज-घुसृणाम्बर - देवकुसुम-शुण्ठि - सितोपलादि-पोष्टिक-द्रव्य-मिश्रितान् मुद्ग-माष-दालि-मोदकान् धन्यान् भोजय-न्निव, सुलभसर्ववस्तूना सौभाग्यभाजा पूर्णसम्माननीयः शीतर्तुः समाजगाम।"

इसी प्रकार वसन्त ऋतु का भी चित्र खीचते हुए चौदहवे समुच्छ्वास मे कवि ने कहा है—

मन्द-मन्द वहमानेन मधुमासपवनेन माधुर्येणेव सिक्तः सर्वोऽपि जीवलोक। चित्रम्! अप्राप्तवर्षापि वनराजि केवल चैत्रिक-श्वसनेनाऽनुप्राणिता कृतकायकल्पेव स्वजीर्णशीर्णानवयवान् पृथक् कृत्वा नवपल्लवती, पुष्पवती चाजनि! प्राप्तनवमञ्जरीभिः सुरभितः सहकार कोकिलाना काकलीभिर्भूमावेव स्वर्गमवतारयामास। कटुसत्यकथकसोदरो निम्बोऽपि चुल्लान् कोष्ठगतोष्णिमनिहन्त्री-स्वकटु मञ्जरीपानाय निमन्त्रयामास। वर्षास्वपल्लवितोऽपि यवासो

वसन्तर्तु-कृपासुधासिक्तो विकस्वरमुख प्रोन्नतकन्धरो विललास। अस्ति पुष्पफलोऽहमिति नाऽपत्रपिष्णुनाऽभावि पत्रशून्यशरीरेणापि करीरेण। परिपक्वप्रायाणि वप्रेषु विलसन्ति स्म शूकधान्यानि। पीतता प्राप्ताश्चणकक्षुपा क्षपानाथज्योत्सनया लब्धसौवर्णकान्तयो दीप्यन्ते स्म।"

इस प्रकार प्रस्तुत काव्य विविध वर्णनो से भरापूरा एक भण्डार है। आशा है पाठको के लिए रोचक सामग्री उपस्थित करेगा।

इसका हिन्दी अनुवाद मैने किया है। किसी भी भाषा के अनुवाद का कार्य जटिल होता है। मैंने सर्वप्रथम साहित्य परामर्शक मुनि श्री बुद्धमलजी के संस्कृत काव्य 'उत्तिष्ठत जाग्रत' का हिन्दी रूपान्तर किया था। तदनन्तर कई पुस्तको का अनुवाद किया। प्रस्तुत अनुवाद कैसा है, इसका निर्णय तो पाठकजन के हाथ मे ही है।

मुनिश्री एक अच्छे साहित्यकार है। उन्होने प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि विभिन्न भाषाओं मे साहित्य सृजन का प्रभूत कार्य किया है। आशा करता हूँ प्रस्तुत रचना का सम्यक् समादर होगा।

१०, कैनिग स्ट्रीट
वेद भवन, कलकत्ता-१

—मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'

सर्वेन्द्रियसंयम-साधनासंलग्न-मीठालाल मुनेः—

अभिमतम्

साधनाप्रवणेन पटुव्यवहारचणेन धिषणाधनेन मुनिना 'चन्दनेन' 'गुम्फितमभिनिष्क्रमणाख्य' सप्तदशसमुच्छ्वासमय' गद्यकाव्य प्रारम्भप्रान्त मननपुरस्सर पठित्वा मम स्वान्त अत्यधिक कान्त समजनि। तेरापन्थ-प्रवर्त्तक महामनसमाचार्यकिरीट 'भिक्षुस्वामिन'-मधिकृत्य सन्दृब्धमेतत् काव्य महाकाव्य-तुलामधिरोहति। काव्यस्याऽस्य सरससरलललिताऽभिनवभाषाप्रवाह स्वस्याऽद्वैतीयीकतामाविर्भावयन् पाठकाना चेतासि सद्य स्ववशीकरोतितमाम्। यथार्थताचित्रणपरायणा सर्वत्राऽश्लथा विशदाऽस्य वर्णनशैली प्रारम्भोपान्तसदृशी स्वक्षेत्र सर्वथाऽधिकृतवती। कश्चिदेनत् पठितुमारभेत तदानी न तस्य पिपठिषा उपन्यासस‍ाहित्यवद् मध्ये विरन्तु विहितवशा स्यात्। ऋतु-पर्वत-काननादि-प्राकृत-दृश्याना-मनुभवपरिप्लुतेन सहजवर्णनेन समलङ्कृत काव्यमिद ग्रन्थित्वा विदुषा लेखकेन न केवल स्वस्याऽदुष्प्यवैदुष्यमाविष्कृत, पर सस्कृत-साहित्यायाऽद्भुतमभिनवममरफल प्राभृतीकृतम्। पुराऽपि लेखक-महोदयेन 'आर्जुनमालाकारम्, 'प्रभव-प्रबोधाख्य' गद्यकाव्य-द्वय विरचय्य सुरसरस्वतीसाहित्यस्य श्रिय प्रकाममभिवृद्धिर्व्यधायि। लेखकस्य गद्यकाव्यत्रयीमधीत्य गद्यकाव्यरसज्ञो लेखक प्रति सहज-श्रद्धालु स्यादिति स्वाभाविकम्। लेखकोऽवरुद्धप्रवाहा श्रुतदेवी समुज्जीवयितु कृतसकल्पोऽस्तीति स्फुट प्रतीयते। लेखक आयताःवेतादृशानि युगभावसन्दृब्धानि कियन्ति काव्यानि, महाकाव्यानि च निर्माय काव्यरसज्ञेभ्य समर्पयिष्यति तदायतिरेव ज्ञापयिष्यति।

विक्रमाब्द २०१७
माघशुक्ला त्रयोदश्याम्
आमेट (राजस्थान)

—मुनि मीठालाल

सर्वेन्द्रियसंयम-साधना संलग्न मुनिश्री मीठालालजी का—

अ भि म त

साधनाशील, व्यवहारपटु, प्रतिभावान् मुनिश्री चन्दनमलजी द्वारा विनिर्मित सप्तदशसमुच्छ्वासमय 'अभिनिष्क्रमण' नामक गद्यकाव्य को मैने आद्योपान्त मननपूर्वक पढा । मेरा मन परितृप्त हो गया । तेरापथ के प्रवर्तक महामनस्वी आचार्य शिरोमणि श्रीभिक्षुस्वामी को लक्ष्य करके लिखा गया यह काव्य महाकाव्य के समान प्रतीत होता है । इस काव्य का सरस, सरल और अस्खलित भाषा-प्रवाह अपने अनूठेपन के कारण पाठको के हृदय को तत्काल खीच लेता है । यथार्थता का चित्रण करनेवाली अशिथिल और विशद इसकी वर्णन शैली आदि से लेकर अन्त तक एक समान रोचक है । कोई इसका अध्ययन प्रारम्भ करे तो उसकी पढने की चाह उपन्यास साहित्य की तरह विना पूर्ण पढ़े वीच मे विराम लेना नही चाहती । विद्वान् लेखक ने ऋतु, पर्वत, कानन आदि प्राकृत-दृश्यो का अनुभव से परिप्लुत और सहजवर्णन से अलकृत यह काव्य वनाकर न केवल अपने प्रकाण्ड पाडित्य का परिचय दिया है, अपितु सस्कृत-साहित्य को एक अद्भुत अभिनव अमरफल भेट किया है । लेखक महोदय ने पहले भी 'आर्जुनमालाकारम्' और प्रभवप्रबोध काव्यम्' नामक दो काव्यो की रचना कर सस्कृत साहित्य की पर्याप्त अभिवृद्धि की है । लेखक के तीनो गद्यकाव्य का अध्ययन करके गद्यकाव्य का रसिक लेखक के प्रति सहज श्रद्धालु हो यह स्वाभाविक है । लेखक देव-वाणी के अवरुद्ध प्रवाह को पुनरुज्जीवित करने के लिए कृत-संकल्प है—ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । लेखक भविष्य मे युगीनभावो से परिपूर्ण कितने काव्य और महाकाव्यो का निर्माण कर काव्यरसज्ञो को समर्पित करेगा यह भविष्य ही वताएगा ।

वि० स० २०१७
माघशुक्ला त्रयोदशी
आमेट (राजस्थान)

—मुनि मीठालाल

प्र का श की य

भापा के किमी एक विगिप्ट कवि ने क्या खूब कहा है—

'सवल क्षमा, निर्मद धनी, कोमल विद्यावत ।
भूमि-भूपण तीन ये, उपजत-खपत अनत ।।

सच है, जन्म से और मृत्यु से कोई व्यक्ति महान् नही वनता, क्योकि प्रतिसमय अनतप्राणी उत्पन्न होते है और नष्ट होते है। हॉ, किसी विगिप्ट-गुण के द्वारा ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व को उभारता है, चमकाता है एव असाधारण उज्ज्वलता को अवकाश देता है। पूज्य पिता श्रीमोहनलालजी वैंगाणी कुछ अनूठी विशेपताओ के धनी थे। आपका जन्म विक्रम स १९६० माघ कृष्णा अष्टमी को राजस्थानान्तर्गत वीदासर मे हुआ था। जव आपकी आयु ५ वर्ष की थी, तभी आपके पिता श्री सुजानमलजी का स्वर्गवास हो गया था।

विद्या के प्रेमी

वाल्यकाल मे ही आपको विद्याभ्यास के लिए तीव्र उत्कठा थी। आपने अग्रेजी मे मेट्रिक तथा सस्कृत की प्रथमा परीक्षा अच्छे नम्वरो से उत्तीर्ण की थी।

तीन 'वकार' का योग

विद्या के साथ-साथ आपमे विनय एव विवेक भी विगद वनता जारहा था। आपका नम्र तथा कोमल व्यवहार सभी को आकृष्ट किये

हुये था। आप वकालत भी पढना चाहते थे, पढना प्रारम्भ भी कर दिया था, लेकिन स्थिति की अनुकूलता न होने के कारण उसे छोड़कर अपने ज्येष्ठभ्राता श्री सोहनलालजी बैगाणी के साथ कलकत्ते मे व्यापारिक कार्य मे भाग लेने लगे।

धार्मिक एवं सामाजिक

आप श्रीजैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा के प्रतिष्ठाताओ मे से एक थे। सभा की उन्नति के लिए आप आजीवन विशेप प्रयत्नशील वने रहे। आपका विवाह वि० स० १६७६ मे सम्पन्न हुआ था। आप शरीर से कोमल, सुडौल एव सुन्दर थे। विधियोग से युवावस्था मे ही आपकी धर्मपत्नी (मेरी माताजी) का वियोग हो चुका था। पारिवारिकजनो का अत्यन्त आग्रह होते हुये भी आपने फिर से विवाह करना स्वीकार नही किया, यह आपकी अतरग वैराग्यवृत्ति का परिचायक था। कुछ समय के बाद तो आपने आचार्यश्री की साक्षी से आजीवन ब्रह्मचर्य भी अगीकार कर लिया था। आपने अपने जीवन का समय ज्यादातर धार्मिक एव सामाजिक विशिष्ट कार्यो मे लगा दिया। आप वडे ही धैर्यवान एव मिष्टभाषी थे। अनेक लोग आपसे सामाजिक एव व्यावहारिक समस्याओ का समाधान पाने के लिये भी आया करते थे। आप उनको उचित मार्गदर्शन देकर उनकी उलझन भरी समस्याओ का समाधान करते थे।

आपकी विचारधारा अत्यत पवित्र तथा धार्मिक भावनाओ से ओत-प्रोत रहती थी। आप हर एक को स्पष्ट कहने मे कतराते नही थे। पर आपके कहने का ढग वडा ही कोमल एव स्नेहभरा होता था। अत सुननेवालो को वह सहजतया हृदयगम हो जाता था। श्रावक के १२ व्रतो को आप वडे विवेचन के साथ पहले से ही धार चुके थे। सत-सतियो की सेवा मे आप हमेशा अग्रणी रहा करते थे। तात्विकज्ञान की आपको विशेप अभिरुचि थी। सस्कृत भाषा के कुछ अभ्यासी होने के कारण सस्कृत के अनेक पद्य आपने

कण्ठस्थ किये थे। अक्षरलिपि भी आपकी सुन्दर थी। आपने सस्कृत के अनेक पद्य धार-धार कर लिपिवद्ध भी किये थे। आपको प्राचीन एव अर्वाचीन घटनास्थलो का विशिष्ट ज्ञान था। हम वालको को भी समय-समय पर वडो मधुर एव हितकारी शिक्षा दिया करते थे। वस्तुत आप अन्यन्त ही सतोपवृत्ति वाले आत्मार्थीविज्ञ-पुरुप थे।

समाधिमरण

वि० स० २००३ मे आप पुन राजयक्ष्मा (T B) से पीडित हो गये थे। उपचार लागू न होने के कारण आपका शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण होता गया। किंतु धैर्यअविचल रहा। आपने कभी मु ह से 'ओह, हाय' शव्द नही निकाला। आप निरन्तर 'अरिहत देव, भिक्षुस्वामी' जपते रहते थे। प्राप्त वेदना को समभाव से सहने का आदर्श सचमुच सभी के सामने आपने प्रस्तुत किया था। धार्मिक गीतिकाए तथा आराधना आदि सुनने की आपको विशेप रुचि रहा करती थी। अतिम समय मे मुनिश्री चपालाल जी का सान्निध्य पाकर विशेप त्याग-प्रत्याख्यान कर लिए थे। अत मे वडी समाधि के साथ ४४ वर्प की अवस्था मे इस नश्वर शरीर का परित्याग कर दिवगत हुए।

खरे श्रावक

जव आपके देहावसान का समाचार आचार्यश्री तुलसी ने सुना तो आपने उनकी अनेक विशेपताओ का उल्लेख करते हुए उन्हे "खरे श्रावक" कहकर सम्वोधित किया। ऐसे सुसस्कारी एव गुणी पिता पाने का मुझे गौरव है।

पावन स्मृति मे

मेरी वहुत वर्पो से यह हार्दिक अभिलापा थी कि पूज्य पिताश्री की पावन स्मृति मे उनकी अतरग रुचि के अनुसार कोई एक सत-साहित्य को प्रकाश मे लाकर उनकी साहित्य-निष्ठ लोकोपकारी भावना को साकार वनाया जाय। सौभाग्य से अध्यात्म-साधनारत

साहित्य-सेवी मुनिश्री चन्दनमलजी का चातुर्मास हम वम्वईवासियो को फिर से मिल गया। हम फूले न समाये। उनके तात्त्विक व्याख्यानो को सुनने का आनन्द मिला। साथ-साथ सतत प्रवहमान उनके साहित्यरूपी सुरसरिता का प्रवाह भी हमे अतरग शीतलता प्रदान करने लगा। तव स्वत यह प्रेरणा जगी कि क्यो न मुनिश्री के सत् साहित्य-प्रकाशन के कार्य मे यत्किचित् सहभागी वना जाय। फलस्वरूप 'अभिनिष्क्रमण महाकाव्यम्' के प्रकाशन का सौभाग्य पिताश्री की पावन स्मृति मे मुझे मिला। क्योकि मेरे पिता श्री स्वामीजी के अयन्य श्रद्धालु भक्त थे। मुझे भी तो सचमुच स्वामीजी ही नवजीवन देनेवाले है, ऐसा एक मरणान्तकष्ट मे अनुभव हुआ था, स्वामी जी के प्रति मेरे मन मे अगाधभक्ति का एव श्रद्धा है। अत स्वामीजी से सम्वन्वित काव्य को प्रकाशित कराने का विशेप आकर्पण होना भी स्वाभाविक है। आखिर इस कार्य को हाथ मे लिया। भाई श्री ब्रह्मदेवसिह जी का इस साहित्यिक कार्य मे असाधारण सहयोग रहा, वर्ना मेरे जैसे व्यापारिक कार्यव्यस्त व्यक्ति के लिए ऐसा कार्य अवश्य कुछ कठिन पड जाता। वैसे ही प्रकाशन मे श्री श्रीचन्द सुराना 'सरस' का सहयोग प्रशसनीय रहा। इसीप्रकार प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूपेण सहयोगियो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हुआ मै इस काव्य रूपी अमूल्य भेट को लेकर प्रस्तुत हू।

वीदासर

(वि० स० २०२८)

—झूमरमल वेंगानी



PREFACE

I am very happy to have been invited to write a short preface to the new mahakavya composed by Muni Chandanmalji. I had the pleasure to meet Muni Chandan in Bombay in December 1963, and have been impressed by his learning and his versatility in Sanskrit

My personal acquaintance with the Jain Swetamber Terapanth sect goes back to 1953, when I had the opportunity to spend about two weeks in the presence of Acharya Sri Tulsi and several Terapanthi Munis in Beawar [Rajasthan] These two weeks have remained an unforgettable experience in the life of a student of Indian culture and Indian religion I remember the periods of discussions with the Acharya and some of his learned Sadhus There were also the young bright Sadhus who received their training under the guidance of the Acharya and the older Munis Perhaps most impressive of all were the addresses by Acharya Sri Tulsi to hundreds of simple villagers, who came a long way to have his darshana and to listen to his words

Muni Chandanmalji, who was born in the Punjab about sixty years ago, is the author of several works in Sanskrit, in Prakrit, and in Hindi. If I remember correctly, I read the first publication by Muni Chandan nearly ten years ago : his charming booklet entitled **Antardhvani** [published by Atmaram and Sons, 1962]

The present work is what we might call an historical kavya. It tells the story of the founder of the Terapanth sect, who, although he had been initiated in the Sthanakvasi sect, left the latter about 1760, more than two hundred years ago The first Western scholar ever to describe the separation of

both sects was probably Hermann Jacobi. In an article on Jainism, published by the German periodical "Archivfur Religioswissenschaft" in 1915, Jacobi briefly mentioned the separation of the Terapanthis from the Sthanakvasis

At that time Jacobi referred to the Terapanthis as "a sect which is practically unknown in the West" The situation has changed drastically since 1915. Especially under the impulse of the present Acharya, Acharya Sri Tulsi, the Terapanthis have become well known in the Western world, through an impressive number of publications The place of honour should undoubtedly be given to the Acharya's own **Jainasiddhanta-dipika** [with a Hindi translation by Muni Nathmalji], a concise but lucid treatise on all aspects of Jaina philosophy, written in the true traditional sutra style. I have used this volume myself, to teach European and American students the principles of Jainism. It is to be regretted, that there is not yet a good English translation of the Dipika Dr Satkari Mookerji announced a translation in the foreword to the book, yet, as far as I know, it has never been published

I should also mention the voluminous publications sponsored by the Anuvrata Samiti, not only on the Anuvrata Andolan itself [again a creation of Acharya Sri Tulsi], but on all aspects of Jaina thought A few pamphlets on the Anuvrata Movement have been published in English, this, together with the sympathetic support by a number of prominent figures such as the then President Rajendra Prasad and Vice President Radhakrishnan, made the movement and its publications known not only throughout India, but abroad as well

In the present volume Muni Chandan provides us with another document that will make the Terapanth sect and its history better known in India and among Indologists abroad. He describes in beautiful and clear Sanskrit prose the **abhiniskramanam** of Acharya Sri Bhiksu, his courage and determination to live as a true Jain Sadhu, in strict accordance with the Jain canonical scriptures, even if this meant disagreement with his

own Guru, who had initiated him into the Sthanakvasi sect. It is an interesting story, which at the same time clarifies the basic peculiarities of the Terapanthis. As such, it is bound to become an important document for all those interested in Jainism in general, and in the origin and development of the Jaina sects in particular A complete history of the Jaina sects is still to be written, Muni Chandan's work will perhaps incite a scholar in India or abroad to undertake this useful task I know that Acharya Sri Tulsi, Muni Chandanmalji, and the other Terapanthi Munis will provide all help they can

Finally, Muni Chandan's book demonstrates once again that the tradition of elegant Sanskrit composition is still very much alive among the learned in India. In this field too, the Terapanthis have been very active The Acharya and several munis have a thorough knowledge of Sanskrit and Ardhmagadhi literatures, and they speak both languages fluently They also maintain among themselves and develop among their students the capability to compose in both languages in verse and in prose Keeping up these traditions in modern times is a difficult task, even among Sadhus

Muni Chandanmalji deserves to be congratulated on his achievement Sanskrit scholars all over the world look forward to reading other works by him in the future. Some of these works have already been written, and merely await publication

Ludo Rocher
Professor of Sanskrit
Chairman, Department of Oriental Studies
University of Pennsylvania
PHILADELHIA, U. S A

अनुक्रमणिका

१.	प्रथम समुच्छ्वास		१
२.	द्वितीय.	,,	१४
३	तृतीय	,,	२६
४	चतुर्थ	,,	५०
५	पञ्चम.	,,	६०
६	षष्ठ	,,	७८
७	सप्तम	,,	९२
८.	अष्टम.	,,	१०६
९.	नवम.	,,	१२२
१०,	दशम	,,	१३८
११	एकादश.	,,	१५२
१२	द्वादश	,,	१५२
१३	त्रयोदश.	,,	१५८
१४	चतुर्दश·	,,	१८२
१५	पञ्चदश	,,	२०८
१६	षोडश	,,	२२२
१७	सप्तदशः	,,	२३८
●	परिशिष्ट		२६१–२६८

★

अभिव्यक्ति संचालक

॥ अर्हम् ॥

प्रथमः समुच्छ्वासः

प्रशस्तये-काव्यद्वयम्

उपजाति-वृत्ते

(१) अपेक्षिता यस्य महीयसीह दृग्,
न्यग्राहि तस्मात् कुनयैर्न यद्वचः।
वाण्यां तत प्रस्फुटिता विरागता,
देवाधिदेवाय नमोनमस्तत ॥

(२) प्रतिष्ठिता प्राणपणेन साधुता,
मायाविनामुद्यदसाधुता धुता।
मनस्विमूर्धन्यमनन्यधीसखं,
तं भिक्षुराजं स्मृतिमार्गमानये ॥

काव्यारम्भः

विभावितमथान्यदा विभावर्या व्यवहारकोविदेन अन्तेवासिना चिन्ता-हिमानीहतमिव विमनायित विभोर्वदनारविन्दम्। तद्रहस्य-मन्वेष्टुकामो नित्यमवामो भिक्षुर्ननु 'रघुनाथ' इत्याख्यया प्रख्यात-माचार्यचरणमुपेयिवान्। विदधद् राद्धान्तपद्धत्या पृथ्वीचुम्बिप्रणामान्

पहला समुच्छ्वास

मगलाचरण

जिनकी महान् दृष्टि अपेक्षामयी थी, इसलिये उनके वचन (निरूपण) को कुनय (निरपेक्ष सिद्धान्त) निगृहीत नही कर सके, इसीकारण उनकी वाणी मे विरागता (रागशून्यता) का श्रोत फूटा। इसी कारण वे देवाधिदेव कहलाए, इसीलिये उनका बार-बार अभिनन्दन है।

दम्भीजनो ने जिस असाधुता को प्रसारित कर रखा था, उसे मिटाकर प्राण-पण से जिन्होने शुद्ध-साधुता की प्रतिष्ठा की, उन मनस्वि-मूर्धन्य अद्वितीय मेधावी श्री भिक्षुराज की स्मृति करता हूँ।

• काव्यारम्भ

एकवार रात्रि के समय व्यवहार-निष्णात अन्तेवासी शिष्य ने अपने आचार्य का चिंता-हिम से आहृत अन्यमनस्क वदन-कमल देखा। इस चिता के रहस्यान्वेषण के इच्छुक सदा गुरुदेव के अनुकूल रहने वाले, भिक्षु (आचार्य-भिक्षु) शीघ्र ही रघुनाथ नाम के प्रख्यात गणनायक के समीप पहुचे। सिद्धान्तो मे वर्णित पद्धति से पृथ्वीचुम्बी प्रणाम करते हुये बद्धाजलि होकर विनय-गर्भित वाणी से पूछने लगे।

मुकुलित—पाणिर्विनय - भारवत्या भारत्या पिपृच्छिषाञ्चकार— "देव ! कस्मिन् विचार - वाहिनी - प्रवाहे प्रवाहितं भवता स्वान्तं विलोक्यते ? यदत्रभवता ललाट - पट्टे कामपि गभीरां भावभङ्गीं बिभ्रती विभ्राजतेतरां मुहुरूर्ध्वाधो विलोला त्रिवली। अलक्षितलक्ष्या प्रतिक्षणमितस्ततो—निरीक्षमाणा सार्थ - भ्रष्ट - हरिणाऽक्ष्णोर्वर्त्म कक्षीकुर्वाणा प्रतिहतेक्षणयुगली ।[१] स्फुरदोष्ठ-कोष्ठेऽपि नहि पोस्फुरीति प्रेङ्खद्धासस्यैकापि रेखा। आलस्य-लास्यं चारभमाणा वदन - सदनादुज्जृम्भन्ते पौन पुन्येन जृम्भा। को नामाऽत्र हेतुरिति प्रवेदितुमनर्हं पृच्छा - प्रागल्भ्यमातनोति नूनमयं शिशुः। उपतिष्ठते च तज्जिज्ञासुर्यदि भवन्तो नानुभवन्ति किमप्यसाम्प्रतं साम्प्रतम्।"

यत्पुरतः कथनं व्यथनं दूरयिष्यतीति निश्चिन्वानेन तत् कालमुरुणा प्रेम्णा गुरुणा गदितुमारेभे—"वत्स ! कुशलोऽसि यन्मच्चेतसि चरिष्णु चिन्ताचक्रवालमाकलयितुमलबभूविथ। इङ्गिता-कार - संपन्नानां विलक्षणं लक्षणं त्वयि सुजाघटीतीति नारेकः। आधिपत्यं पदविभाजनेनाऽऽधीनां[२] पतित्वमुररी[३]करोतीत्य-नुभववतां विश्रुता जनश्रुतिः सत्येति मे प्रतीति - गोचरतामगात्। प्रत्यहमभव्या भव्याश्च कतिचन नव्या-नव्या समाचारा मस्तिष्क-मन्दिरमनुप्रविशन्ति दुष्प्रतीकाराः। हन्त ! जटिलतमा जाता जगतामद्यतनी जीवन - पद्धतिः। शैथिल्यं सेवते ग्लास्नूनामग्-नेष्विव श्रद्धास्पदेष्वपि श्राद्धानां श्रद्धा। उन्निद्रा दरीदृश्यते दमिनामप्यवद्यान्वेषणपरा गृध्राणामिव दम्भिनां दृष्टिः। अलब्धाऽऽलोक - सम्पर्काण्यन्धानामिव शुष्कतर्कमद्रुपर्कं कर्तुकामा भृशमुन्मिपतितरामसाधूनां धिषणा। अतीरणीया खलु प्राप्तरया

---

१ नेत्रयुगलम्। २ मानसीव्यथानाम्। ३ स्वामित्वम्।

"देव ! आज आपका हृदय किसी विचारो की नदी के प्रवाह मे प्रवाहित हो रहा मालुम पडता है, क्योंकि आपके ललाट पर किसी गंभीर भावभङ्गी को धारण करती हुई; कभी ऊर्ध्व और कभी अध होती हुई त्रिवली चंचल हो रही है। प्रतिक्षण इधर-उधर देखती हुई यूथभ्रष्ट लक्ष्यहीन हरिणी की आंखो का अनुसरण करती हुई आपकी आंखे स्तव्ध हैं। स्फूर्त होते हुए भी अधरो पर कोई मुस्कान रेखा नही उभर रही है। आलस्य का नर्त्तन करती हुई मुख मे वार-वार जँभाइयां आ रही हैं। इन सबका क्या कारण है ? यह जानने मे असमर्थ शिष्य पूछने को उत्सुक है। आप यदि किंचित् भी अनुपयुक्त नही मानते हो तो इन सबका जिज्ञासु आपके सम्मुख उपस्थित है।"

इसके आगे कही वात व्यथा को दूर करेगी, यह निर्णय करते हुये तत्काल उन्मुक्त स्नेह से गुरु ने कहना प्रारम्भ किया—"वत्स ! तुम कुशल हो, जो कि मेरे मनमे चलने वाले चिता-चक्र को पहचानने मे समर्थ हुए। इङ्गिताकार सम्पन्न शिष्यो का विलक्षण लक्षण तुम्हारे मे है, इसमे कोई सशय नही। आधिपत्य को पद-विभाजनपूर्वक देखा जाये तो आधियो (मानसिक चिताओ) का स्वामित्व स्वीकार करता है यह अनुभवशालियो की प्रसिद्ध किंवदती सत्य है—यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। प्रतिदिन नये-नये, जिनका कोई प्रतिकार नही है, ऐसे अच्छे और बुरे समाचार मेरे मस्तिष्क-मंदिर मे प्रवेश करते हैं। खेद है, संसार की विद्यमान जीवन-पद्धति वडी ही जटिलतम हो गई है। जैसे रुग्ण व्यक्तियो की भोजन के प्रति रुचि शिथिल हो जाती है, वैसे ही श्रद्धास्पदो मे भी भक्तो की श्रद्धा शिथिल हो गई है। सज्जन व्यक्तियो मे भी बुराई खोजने के लिये गीधो के समान दम्भियो की दृष्टि वडी जागरूक हो रही है। जिन्होने प्रकाश का सपर्क नही पाया है, उन अन्धो के समान असज्जनो की बुद्धि शुष्क तर्करूप मधुपर्क (यज्ञ) करने के लिये वडी विकसित हो रही है। तुच्छ व्यक्तियो के द्वारा तो छोटी-सी त्रुटि भी वेग-वाली नालो की तरह नही तैरी जा रही है। अन्तर मे खाली होते हुये भी

प्रवाहिकेव[1] तुच्छैस्तुच्छापि त्रुटिः। पटहवदन्तःशून्या अपि निर्घोष-पटव प्रायेण पञ्चजना। विचित्रम्! गुरूणा गौरवं गर्हाया विलिल्ये। स्वाभिमतमेव साधु नतरामाचार्य-सम्मतम्। भगवन्! किं भावि यत् साम्प्रतिकेऽपि काले जातेदृशी धर्मावहेला! इत्थं गुर्वी पृष्ठभूमिं निबध्नन्तो गुरवः सखेद मेदपाट-घटनाभेदं प्रकटितवन्त —"यथाऽद्यैव ममाभ्यर्णमागताना केषाञ्चन मेदपाटीय-श्रावकाणां मुखादाकर्णि मया यद्राजनगरीया गरीयासः श्रावका श्रावकाचारचतुरा अजनिषत सन्देह-सदन-बन्दयः। संशेरते विविध-साध्वाचारचर्चा विचारयन्त, शेरते च कर्कश-कुतर्क-शय्यायाम्। अपेक्षते हि गरिष्ठागमज्ञानमपि सिंहीपय इव पवित्राष्टापदपात्रम्। अपात्र-नियुक्तं विशदमपि कौलेयक-कुक्षिगत-क्षीरमिव[2] स्पष्ट कष्टप्रदम्। अहो! 'सुष्टु दत्त'[3]मिति ज्ञानातिचारेषु वरमाविष्कृतमत्यन्तानुभूतिभाजा भगवता। नहि वदान्याना दानमेव पुण्य-निदानं, यावत् सूक्ष्मेक्षिकया नहि परीक्ष्यते क्षेत्रम्।

हन्त! विलोलदविनयस्पन्दना वन्दनाऽपि परित्यक्ता पण्डितंमन्यैस्तै पारम्परिक-साधूना पुरत। विनयगुणविकसन्त सन्तस्त्वसद्भि साधमपि नहि व्यवहाररेखा रहयन्ति[4]। भव्यताया सभ्यतैव कारणमिति प्रत्यक्षमनुभूतम्। विद्या-विभववन्तोऽप्येतद्विरहिता अहिता इव प्रतिभान्त्यचक्षुष्याः। चरणचुम्बिनीरो हि वानीरो[5] निषेवितकूलङ्कषाकूलोऽपि विच्छिन्न-मूलो नहि भवति विनततया। द्वैधीभवनायैव न किमु शुष्कतामासेवते काष्ठम्? अल्पज्ञानामेव सहभावि लक्षणमवलेप। बहुज्ञातेऽपि बहुविज्ञातव्यमवशिनष्टि शिष्टानाम्। चञ्चच्चटकचञ्चुचोषित-[6] सप्ताष्ट-

१ लघु प्रवाह—प्रवाहिका [पानी का छोटा नाला, इति भाषा]
२ श्वान-कुक्षिगत०। ३ सुट्ठु-दिण्ण' [पात्र सेज्यादा दिया हो, इतिभाषा]।

पटह (ढोल) की तरह आजकल के लोग निर्घोष-पटु बने हुये है। बडा विस्मय है, गुरुओ का गौरव भी गर्हा मे विलीन हो चुका है। अपना अभिमत ही समुचित और सुन्दर समझा जा रहा है। आचार्य के अभिमत का कोई मोल नही। हे भगवन्! क्या गजब होने वाला है, वर्तमान काल मे धर्म की कितनी अवहेलना हो गई है।" इस प्रकार लम्बी पृष्ठभूमि बाँधते हुए गुरु ने मेदपाट की घटना का भेद खोला—"आज ही मैंने मेवाड से आये हुए कुछ श्रावको के मुख मे सुना है कि राजनगर के बहुत से श्रावक जो कि श्रावकाचार मे बडे निष्णात है, सदेह-सदन के बंदी हो गये हैं। साध्वाचार की विभिन्न बातो पर संशय-ग्रस्त हैं और कर्कश कुतर्क करते हैं। लगता है गरिष्ठ-आगम ज्ञान भी सिंहनी के दूध की तरह पवित्र स्वर्ण-पात्र की अपेक्षा करता है। अपात्र मे डाला विशद-ज्ञान भी कुत्ते के उदर मे गये दूध के समान स्पष्ट ही दुखदायक होता है। ज्ञानातिचार मे अत्यन्त अनुभूतिशाली भगवान् ने जो 'मृष्ठुदत्त' पात्र से अधिक दिया हो) कहा है, वह सही है। दानवीरो का दान पुण्य का निदान ही है, ऐसा तब तक नही जब तक वे सूक्ष्म बुद्धि से पात्र की पूर्ण परीक्षा नही करते है।

बडे खेद की बात है, उन पण्डितमन्य श्रावको ने परम्परा से चले आ रहे साधुओ को जिसमे विनयगर्भित है, उस वन्दना-व्यवहार का भी परित्याग कर दिया है। विनयगुण से विकासमान सन्तजन तो असज्जन पुरुषो के साथ भी व्यवहारिकता का परित्याग नही करते। भव्यता का लक्षण सभ्यता ही है, यह प्रत्यक्ष अनुभव किया है। विद्या-विभव से सम्पन्न भी जो विनयगुण से रहित होते है वे शत्रु के समान अप्रिय लगते है। चरणो के माध्यम से पानी खीचने वाली वेत नदी के तीर पर स्थित भी विनीतता के कारण कभी छिन्नमूल नही होती। काष्ठ की शुष्कता केवल टूटने के लिए होती है। अभिमान अल्पज्ञ व्यक्तियो का ही सहभावी लक्षण है। शिष्ट व्यक्तियो के तो बहुत जान लेने पर भी बहुत ज्ञातव्य शेष रह जाता है। चिडिया का बच्चा अपनी चोंच से सात-आठ बूँद पानी पी ले तो क्या समुद्र खाली हो सकता है? मनुष्य की बुद्धि की यह परम मन्दता है कि वह अन्तिम निर्णायक अपने आपको मानता है।"

---

४ त्यजन्ति, 'रहण् त्यागे' इत्यस्य धातोरूपम्। ५ 'वानीरो वेतसोऽपि च' इति हैम (बेंत)। ६ चूष पाने, चोषितम् पीतमित्यर्थः।

वारिबिन्दु किं नाम सिन्धु-शून्यतामाविर्भर्ति ? परममान्द्यमिदं मनुष्यस्य मनीषाया यदन्तिमनिर्णायकमात्मानमेवाङ्गीकुरुते ।

अस्तु, उत्तिष्ठन्तमेव गदं निर्वर्हितु[1]मिच्छन्ति शीघ्रमगदंकारा[2] । व्यतीतेऽनेहसि[3] सोऽपि बद्धमूलशाखीव दुरुच्छेद्य-संज्ञामङ्गीकुरुते । अतः किं करणीयमथ मयेति मुहुः परामृशति विचिकित्सितं[4] चेतः । कथंकारमयं व्याधिः प्रतीकारपद्यामुप-पद्यतेतमामिति चिन्त्यम् ।"

इत्थं गुरुहृदयगतां गुर्वी व्यथामनाकुलमाकलय्य तद्व्यपनेतुमनाः सुमना शिष्यसत्तमो व्यजिज्ञपत्—"भगवन् ! स्फुटमवसितं मया यया चिन्तया भवतामन्तःकरणमुद्विग्नम् । नूनमयं जीवनपाथःप्रवाहो निम्नोन्नत-गतिमासादयतितराम् । किमिह तद् वस्तु वस्तुत्वमञ्चति यन्न चञ्चति ध्रुवमुत्पाद-व्यय-ध्रुवदशाम् ! दृष्टमपि विनष्टं, विनष्टमपि च स्पष्टं चकास्ति । इयमेव ज्ञानिनां पराकाष्ठा यत् साम्यसूत्र-सूत्रिता विलसति सुखाऽसुखेषु दृष्टिः । सृष्टिः सर्वापि समानतामावहेदित्यारेकणीयम्", समता तु कस्यचित्प्रकटित-प्रकृष्टबोधस्य भवितुमर्हतीति मन्तुं शक्यम् । गुरो ! नायं कोऽपि चिन्ताया विषयः, सायं प्रातः समायान्त्येव जीवन-यात्राया मनोज्ञाऽमनोज्ञाः परिणामाः । कीदृक्षा प्रतिभाति कर्मठानां क्रिया या प्रक्रियया न स्यात् प्राप्त-प्रतिक्रिया ? सर्वमपि साफल्यमसाफल्यं संकल्पतल्पासीनमेव । सर्वदा शुभसंकल्पानां सर्वतः शुभमुज्जृम्भते । तेषां स्वप्नायितमपि प्रत्यक्षायते, तेषामनघाः प्रवृत्तयो जाजायन्ते कामदुघाः, तानुपतिष्ठन्ते साफल्यश्रेणयः स्वयम्वराः, तेषां यत्र पादन्यासस्तत्र सर्वासां श्रियां निवासः, तेषामारब्धं प्रत्यूहव्यूहैरपि नहि भवति स्तब्धम्, तेषां प्रयासो नहि प्रयास-

---

१ प्रशमयितुम् ।   २ अगदंकारा—वैद्याः ।   ३. काले-समये ।

'अस्तु, चिकित्सक लोग उत्पन्न होते ही रोग को प्रशान्त करना चाहते हैं; समय बीतने पर वह बद्धमूल वृक्ष की तरह दुश्छेद्य बन जाता है। इसलिये मुझे क्या करना चाहिये ? संदेहग्रस्त चित्त यह बार-बार परामर्श करता है। जिस प्रकार इस व्याधि का प्रतिकार हो, यह चिन्तनीय है।"

इस तरह गुरु के हृदय की महान् व्यथा को अनाकुलता से अवधारण कर उसे दूर करने के लिये स्वच्छ-हृदय सुशिष्य ने विज्ञापना की—

"भगवन् ! आपका चित्त जिस चिता से उद्विग्न है; मैंने उसे अच्छी तरह समझ लिया है। यह जीवन का प्रवाह निश्चित ही कभी निम्न और कभी उन्नत गति से चलता है। यहाँ वह कौन-सी वस्तु है जो नित्य ही उत्पाद-व्यय और ध्रुव दशा को प्राप्त नहीं होती। दृष्ट है, वह विनष्ट है और विनष्ट है, वह विद्यमान है।

ज्ञानियों की यही पराकाष्ठा है कि सुख-दुख में उनकी दृष्टि साम्य सूत्र से सूत्रित रहती है। सारी सृष्टि समान बन जाए यह असभव है, समता तो किसी प्रबुद्धचेता के हो सकती है, यह माना जा सकता है। गुरुवर ! यह कोई चिंता का विषय नहीं है। जीवन-यात्रा में सुखह-शाम, मनोज्ञ अमनोज्ञ परिणाम आते ही रहते है। कर्मठों की ऐसी कौन सी क्रिया है, जिसकी प्रक्रिया से प्रतिक्रिया न हो। सब सफलता-असफलता सकल्प के आधीन है। सदा शुभ-सकल्पा का सब जगह शुभ परिणमन होता है। उनके स्वप्न भी साक्षात् होते है। उनकी निष्पाप-प्रवृत्तियाँ उनके लिये कामधेनु सिद्ध होती है। सफलता की सन्ततियाँ उन्हे स्वय ही वरण करती है। उनका जहाँ पादन्यास होता है वहीं सब समृद्धिया का निवास होता है। उनका प्रारब्ध कार्य-विघ्नो के प्रचड आक्रमण से भी नहीं रुकता। उनका प्रयास कोरा प्रयास-मात्र होकर

---

४ विचिकित्सित—सशयितम्। ५ मगयितव्यम्।

मात्रभ्राजिष्णुर्विश्राम्यति, तेषां विरोधो नहि विधातुमीशस्तत्पथाऽवरोधम्। अलमलमनया चिन्तया, किमुचितमनुष्ठेयमिति विशिष्ट-दृष्ट्या दिष्ट्या स्पष्टनीयमाचार्यचरणैः।"

मनस्विनो भिक्षोर्हृदय-द्रढिमानमनुभूय विस्मयमाना स्मयमाना गुरव सावष्टम्भ व्याजह्रिरे—"वत्स! सत्यन्तेवासिनि त्वादृक्षे वीत-साध्वसे[1] स्वत एव जातजानमाचार्याणां चित्तं चिन्ताचक्रमुक्तम्। स किंधराधिपो[2] यस्य न दण्डनायको धृतमायक। तत् किं शरीरं यस्य न स्वकीया अप्यपघना[3] शासनमानिन। किं तेन बहुवरेणापि करेण यस्य न साङ्गुष्ठा कश्शाखा साम्मुख्यमाख्यान्ति! तदानीमेवैको बलीयान् यदा तदानुपदिका बहीयांस स्यु। प्रभुस्तदानीमेव प्रभुर्यदाऽनुचरा स्युरनुचरा[४]। अतोऽहं निर्णये, यत् कांश्चन समयज्ञान् साधून् तत्र प्रहिणोमि," अनुमिनोमि च ते तत्र गत्वा श्राद्धसन्देहान् समाधाय तान् सुस्थिरान् विधास्यन्ति, पाययिस्यन्ति च गुरूणां निर्भरं भक्तिरसम्"।

वृक्षावलीनां तदैव रक्षा संभविनी यदा वनमाली दक्षतया ऽवधत्ते। यतस्तत्कालमुपचेतव्या तडागपालिरितरथा लब्धपथं पाथ[६] स्वतलं स्थले परिणमयति। प्रादुर्भवन्नेव विपाङ्कुर समूलकाषं कषणीय, पश्चात्तु तदुद्धारो नैषत्कर[७]।

विमर्श-विशिष्टान् गुरुशब्दान् नेत्राभिनयै सह बाढमित्युररीकुर्वाणो भिक्षु पुन प्रष्टुमुत्सेहे—"स्वामिन्! तत्त्वतो नाराद्[८] वरिवर्त्ति विभूनां विचारधारा। भूरय सन्ति भवतां शिष्यास्तर्कभूरय, भवदादेशाद् येऽनुगृहीता भविष्यन्ति त एव तत्र प्रबोधदानकुशला साहृष्टिक[९] फलं लप्स्यन्ते। यान् यान् श्रीमतां शेमुषी[१०] तन्निमित्तं विशिनष्टि तांस्तान् समाहूय सुखमाज्ञापयन्तु।"

---

१ वीत-भये। २ किंक्षेपे—कुत्सितो धराधिप. ३ अवयवा।

विश्राम नही लेता। उनका विरोध करके कोई उनकी गति मे अवरोध नही डाल सकता। छोडिए इस व्यर्थ चिंता को। आप तो 'क्या समुचित अनुष्ठान किया जाये, यह विशिष्ट चिन्तनपूर्वक प्रसन्नता से निर्देशन दे।"

मनस्वी भिक्षु के हृदय की यह दृढता देख विस्मत होकर मुस्कराते हुए गुरु ने विश्वासपूर्वक कहा—"वत्स! तुम्हारे जैसे निर्भीक शिष्य के होते हुए आचार्यो का चित्त स्वत ही चिंता-चक्र से मुक्त हो जाता है। वह क्या राजा, जिसका सेनापति सदा शस्त्रो से सुसज्जित न रहे। वह क्या शरीर, जिसके अपने अवयव भी आज्ञा मे न हो? उस बहुत सुन्दर हाथ का भी क्या मूल्य, जिसके अगूठे सहित अगुलियाँ अधीन न हो। एक मनुष्य तभी वर्चस्वशाली माना जाता है जब उसका अनुगमन करने वाले अनेक व्यक्ति हो। स्वामी तभी स्वामी होता है जब उसके अनुचर वास्तव मे अनुचर (पृष्ठगामी) होते हैं। इसलिए मैं निर्णय करता हूँ कि किन्ही आगम-विशारद साधुओ को वहाँ भेजूँ और अनुमान करता हूँ कि वे वहाँ जाकर श्रावको के सदेहो को समाहित कर उन्हे सुस्थिर बनाएँगे और गुरु-भक्ति का पर्याप्त (निर्भर) रस पिलाएँगे।"

"वृक्ष-पक्तियो की तब ही रक्षा होती है, जब वनमाली दक्षता से सावधान रहे। तालाब की फूटी दीवार का तत्काल उपचार करना चाहिये, अन्यथा निकलता हुआ पानी अपने तल को स्थल रूप मे परिणत कर देता है। उत्पन्न होते ही विष-अकुर को जड से उखाड देना चाहिये, नही तो उसको विनष्ट करना मुश्किल हो जाता है।"

गुरु के विमर्श से सजे हुए विचारो को सुनकर आँखो के अभिनय के साथ स्वीकृत करते हुए शिष्य भिक्षु ने पुन निवेदन किया—"स्वामिन्! आपकी चिन्तनधारा उपयुक्त है। आपके पास बहुत से योग्य तार्किक शिष्य है। आपके आदेश से जो अनुगृहीत होगे वे ही वहाँ श्रावको को प्रबोध देकर तत्काल लाभान्वित होगे। आपकी दृष्टि मे जो-जो उस कार्य के योग्य हो, उन्हे आमत्रित कर आनन्द से आज्ञा दीजिए।"

---

४ अनुगामिन इत्यर्थ। ५ प्रेषयामि। ६ पानीयम्। ७ नेषत्कर—न सुकर। ८. न दूरम्। ९ तात्कालिक—फलम्। १० शेमुषी—दृष्टि।

श्रीभिक्षुणोपढौकितं कर्णामृतं निपीय प्राप्तसौहित्येन गुरुणा पुनरऽभाणि—"वत्स ! कं प्रेषयामि तत्रेति चिन्तया प्रत्येकं मुनीनामुपरि सूक्ष्मया दृशा व्यलोकि, परन्तु त्वा विरहय्य नहि कस्याप्युपरि मम मति स्थितिमनुबध्नाति । नहि किमासन् रामसेनायामसङ्ख्या सैनिकास्तथापि लङ्का-दौत्याय हनूमत्येव राममति रतिमाससाद । यतस्तस्यैव प्रेषण प्रेष्ठं श्रेष्ठं च यस्तत्रत्यं कृत्य सम्यङ् निर्वोढुमीश स्यात् । तत्र का परिस्थितिस्तत्सम्मुखीना स्यादिति नावसातुमत्र[1] शक्यते । अनवबुध्य परिस्थिति केवलं कथनवत्कारक प्रेष्य प्रायो मारक एव जायते । अत कतिभिश्चन साधुभि सार्धं त्वमेव तत्र गच्छ, स्वच्छप्रतिपदा[2] प्रत्यावलयस्व तान् स्व-संप्रदाय-निष्ठायाम् । यद्यपि विधेय-धुरन्धरं[3] त्वा दूरयितुं नहि मम मानस वष्टि, किन्तु नान्यैस्तत्कार्यं सुशकमिति मन्वानेन मया त्वमेव निर्वाचित । अतस्त्वमेव प्रस्थातुमाशु सज्जो भव, चातुर्मास्यमपि तत्रैव निर्गमयितुमुत्सहस्व, वहस्व सुख गुरु गुरुप्रदत्तं च कार्यम् ।"

इत्थं गुरुभि सावष्टम्भं स्वनाम निर्घुष्टं निशम्य शमिश्रेष्ठो भिक्षुर्विनतकन्धरं विज्ञपयामास—"प्रभो ! सन्त्यनेके भदन्ताना शासने प्राचीना अर्वाचीना मनीषिणो मुनयस्तथापि तत्र गन्तुं यदहमनुगृहीतस्तद् गुरुचरणाना गौरवम् । तत्कार्यं सम्यक् सम्पादयितुमनेके वाचयमा प्रभूष्णवस्तथापि भावत्की दृष्टिमामेव विशिनष्टि तन्ममोत्कृष्ट सौभाग्यम् ।"

इत्थं गुरु शिष्यौ परस्परमालपन्तौ सुखं संलीयेते स्म[4] ।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये महाकाव्ये गद्यप्रबन्धे प्रथम समुच्छ्वास ॥

---

१ नावगन्तुम् । २ निर्मलबुद्ध्या । ३ विनयि—प्रमुखम् ।

श्री भिक्षु के द्वारा उपहृत वर्णामृत को पीकर सुतृप्त होकर गुरु ने कहा—"वत्स ! वहाँ किसे भेजू ? इस चिंतन से सब मुनियो के ऊपर अपनी सूक्ष्म-दृष्टि डाली है, परन्तु तुम्हारे अतिरिक्त मेरी बुद्धि किसी पर नही टिकती । राम की सेना मे क्या असख्य सैनिक नही थे ? फिर भी लका की दूतता के लिये राम को हनुमान ही विश्वस्त लगे । इसीलिए उसे ही भेजना उपयुक्त और श्रेष्ठ होगा, जो वहाँ के कार्य को सम्यक् प्रकार से निभा सके । वहाँ उसके सम्मुख क्या परिस्थिति पैदा हो जाए, यह यहाँ से नही जाना जा सकता । परिस्थिति को नही पहचानने वाला, केवल कथन मात्र को करने वाला व्यक्ति अक्सर बहुत अयोग्य साबित होता है । इसलिए कितनेक साधुओ क साथ तुम्ही जाओ यही अच्छा रहेगा । अपनी निर्मल बुद्धि के द्वारा उन श्रावको को समझाकर अपनी सम्प्रदाय मे निष्ठावान् बनाओ । यद्यपि तुम जैसे परम-विनीत को दूर करने को मेरा मन नही चाहता, पर दूसरो से वह कार्य सम्पन्न नही हो सकता यह मानते हुए ही मैंने तुम्हारा निर्वाचन किया है । इसलिए तुम ही प्रस्थान करने के लिए शीघ्र तैयार हो जाओ । चातुर्मास्य भी तुम्हे वही बिताना है, और गुरु द्वारा प्रदत्त इस महान् कार्य को सम्पन्न करना है ।"

इस प्रकार गुरु के द्वारा विश्वासपूर्वक अपना नाम उद्घोषित सुनकर मुनि-प्रवर भिक्षु ने नतमस्तक होकर निवेदन किया—"भगवन् ! आपके शासन मे अनेक प्राचीन, नवीन मनीषी मुनि है, फिर भी वहाँ जाने के लिये जो मेरे पर अनुग्रह किया है वह आपके चरण कमलो का ही गौरव है । उस कार्य को अच्छी तरह से सम्पादित करने के लिये अनेक साधु समर्थ हैं, तथापि आपकी दृष्टि मे 'मैं ही' उपयुक्त पात्र हूँ, यह मेरे लिये परम सौभाग्य की बात है ।"

इस प्रकार गुरु शिष्य ने परस्पर विचार विमर्श करते हुए सुखपूर्वक निद्रा की शरण ली ।

प्रथम समुच्छ्वास समाप्त

---

५ शयाते स्म ।

द्वितीयः समुच्छ्वासः | ★

स्वगर्भे मार्तण्ड-मण्डलमाबिभ्राणा परिपूर्णमासा योषावत् किञ्चित् पीतिमानमाप्ता प्राची । परित प्रसृमरे प्रकाशे को मा दोषाकरं[1] बहुमन्येति चिन्तयेव चन्द्रो निस्तेजस्तां जगाम । हतप्रभे प्रभौ किमस्माभि करणीयमितीव स्वसत्तां तिरोदधत्यो जगता दृष्टिपथोऽपसृता अपारास्तारा । जनाना सकाशादलब्ध-स्नेहा बालतपस्विन इवाऽग्निमासेवमाना अप्यहो ! निर्वाणमापन्ना तम —प्रतीपा दीपा । पुन पुन कोकूयमानै कुक्कुटैरदायि ब्राह्म-मुहूर्त्तस्य सूचना । सद्य स्वपत्युर्दर्शनोत्सुकाऽभवद् रोमाञ्च-कञ्चुकिता चक्रवाकी । प्रलम्बित-सस्तारा निद्राधारा अजनिषत पर्यटनखिन्ना प्राहरिकाः । पूर्वा सन्ध्यामुपासमाना वन्दनाध्यान-तल्लीना विरेजे महर्षीणा राजि । शयितान् प्रबोधयन्त्य इव नदितु लग्ना निर्घोषनिपुणा प्रासादाना घण्टा । चक्रभ्रम भ्रमितु प्रवृत्ता आलस्य-पेपण्य पेपण्य[2]-श्वश्रू-वधूनामेकीभूतै करै प्रतिगृहम् । प्रकटित-नवनीतपोषो दधिमन्थनघोष शुश्रू-यते स्म समन्तत । कुम्भद्वयशोभितमूर्धानः कूपमुपकण्ठयामासुर्वा-रिहारिण्योऽ[3]पीत स्तत ।

उपनत स्वर्ण-सन्निभोऽयमवसर इतीव प्रचकटयिषु स्वर्णभो-ऽहर्मणि स्तत्कालमुदयाचलमलञ्चकार । विष्वग् विसारिभिर्वसुभि[4]

---

१ दोषाकरम्—चन्द्रम् । पक्षे दोषाणाम् आकर त दोषाकरम् ।

★ | दूसरा समुच्छ्वास

अपने गर्भ मे मार्तण्ड-मण्डल को धारण करती हुई पूर्णमास वाली स्त्री के समान प्राची दिशि ने किंचित् पीतिमा धारण करली है। 'सब ओर प्रकाश फैल जाएगा तब मुझ दोषाकर-दोषों के आकर को कौन बहुमान देगा' मानो इस चिंता से चन्द्रमा निस्तेज बन गया है। हमारा स्वामी ही जब प्रभाहीन हो गया है तो हमसे क्या होना है, मानो इसी चिंतन मे अपने अस्तित्व को छुपाते हुए असख्य तारे ससार की दृष्टि से विलुप्त हो गये हैं। बाल-तपस्वियो की तरह अग्नि का सेवन करते हुए भी मनुष्यो से स्नेह (तेल) न पाकर तम को पीने वाले दीपक बुझ गये है। बार-बार उच्च स्वर से बोलते हुए मुर्गों ने ब्रह्ममुहूर्त की सूचना दे दी है। 'अभी पति के दर्शन होंगे' इस उत्सुकता से चकवी रोमाञ्चित हो उठी है। रात भर पहरा देने वाले पर्यटन से चूर-चूर होकर अपने शयन-वस्त्र बिछाकर निद्राधीन हो गये। पूर्व सध्या की उपासना करते हुए योगीजन वन्दना, ध्यान आदि मे तल्लीन हो गए हैं। सोये हुओ को जगाने के लिये ही मानो मंदिरो की निर्घोष-पटु घटाएँ बजने लगा है। प्रत्येक घर मे आलस को एकदम उडा देने वाली चक्कियाँ सास-बहू के सम्मिलित करो से चक्र की तरह चलने लगी है। जिसमे नवनीत उभर आया है, ऐसा दही-मन्थन का घोष चारो ओर सुनाई पड रहा है। दो घडो को सिर पर रखकर पनिहारिने भी कुएँ के निकट चारो तरफ पहुँच गई है।

यह बहुत स्वर्णिम अवसर मिला है, मानो इसी को प्रकट करने के इच्छुक स्वर्णप्रभ दिनपति ने उदयाचल को अलकृत किया। सब ओर प्रसार पाने

---

२ 'चक्कियाँ, इतिभाषा'। ३ 'पनिहारियाँ, इतिभाषा'। ४. किरणें।

प्रवासित नैश तमो नागित-सत्ताकमिवाऽभवत् । जातानि कमलाकरेषु कमलानामुन्मिषितानि मुखानि । सुख सम्पन्ना कुशेशय[1]-कोशेभ्या मकरन्द-तुन्दिलाना मधुकराणा मुक्ति । निद्रामुद्रित-लोचनानलसानह दर्शन ददामीतीव निसर्गादरुणोऽपि कृतकरुणोऽरुण शनै शनैरूर्ध्वगमनमारेभे ।

इतो भिक्षुरपि विजिहीर्षया गुरुसमीपमुपाजगाम । चतुरैश्च-तुर्भिर्मुनिभि सत्रा गुरोरन्त्या शिक्षा कुसुमीकृत्य सेनानीरिव मरुधर-[2] प्रदेशान्मेदपाटाय[3] सहज-शान्तया गत्या प्रतस्थे । प्रचण्ड-ग्रीष्मर्तौ प्रस्थितानामेषामुष्णिमा सहिष्णुता परीक्षितुमिव तीक्ष्णमा-चक्राम । कृशानुमनुकुर्वाणा विगतविटपिच्छाया सकटा सरणिर्मन्ये ऽनुपानत्कानेतान् व्यथितुमुत्का बभूव । उभयतो बबूलकण्टक-वृतिर्धूल्यामीपत्स्वकण्टकान् पिधायैतेषा चारित्र-चूडामणीना चरणान् स्प्रष्टुकामेव स्वानुरूपं स्वागतमुद्भावयामास । कीलकवदन्त-प्रविष्टान् कण्टकान् नि सारयतामेषामङ्घ्रितलतो झगिति नि·सृता कण्टकै सह रक्त-धारा मन्ये विरक्ताना विरक्तिरक्तिमान व्यनक्ति स्म । समस्त - वस्तुजातमत्युष्णता नयन्ती ग्रैष्मकालिक - मरुल्लहरी प्रतिष्ठासूना[4]मेतेषामन्त शीतलतां निरीक्षितुमुपक्रमते स्म । क्वचन निर्भर - धूलिधवलितपरिसरा प्रलम्बायमाना निर्गतनीरा नद्यस्त्यक्त-पदत्राणैरेभि कथमुल्लङ्घनीया इतीव पथि विषमा समस्यामुपढौ-कन्तेस्म । क्षीरमिव दुर्लभ नीर पौन·पुन्येन पीतमपि लोभाकुलाना-मिव नहि तृष्णा व्यपनेतुमलम् । अहो ! कूपानामतिगभीरिमानमाप्तेषु तोयेष्वपि रोमकूपेभ्यो निस्सरत्युपरित प्रस्वेदजलम् । अल्पान्तर सूचितमपि प्रलम्बीभूत प्रान्तरं[5] यथाकथाचमुल्लङ्घनीयं श्रान्त - पान्थानाम् । खेदापनोदाय विच्छायवदनैरध्वन्यैरध्वनि मृगयमाणा छायापि घुणाक्षरीयन्यायात् क्वचिदेव सुप्रापा ।

१ कमलकोशेभ्य । २ मारवाड से, इतिभाषा' । ३ 'मेवाड के लिये,

वाली किरणो के द्वारा प्रवासित निशा का अंधकार अस्तित्व-शून्य-सा बन गया। सरोवरों मे कमलो के मुख विकस्वर हो गये। कमल-कोशों मे बद्ध, मकरन्दपान मे मुग्ध मधुकरो की अनायास मुक्ति हो गई। 'नींद से मुंदी आखो वाले आलसो को मै दर्शन दू', मानो यह सोचकर स्वभाव से अरुण (लाल) होते हुए भी सकरुण बनकर अरुण (सूर्य) ने धीरे-धीरे ऊँचा उठना शुरू किया।

इधर सुयोग्य शिष्य भिक्षु भी विहार करने की इच्छा से गुरु के निकट उपस्थित हुए। चतुर चार मुनियो के साथ गुरु की अन्तिम शिक्षा धारण कर सेनापति की तरह मरुधर प्रदेश से मेदपाट (मेवाड) के लिये सहज शांत गति से प्रयाण किया। प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतु मे प्रस्थान करने वालो की भयकर गर्मी ने, मानो उनकी सहनशीलता की परीक्षा लेने के लिए, तीक्ष्ण आक्रमण कर दिया। आग का अनुसरण करने वाली वृक्षो की छाया से रहित सकडी सरणि (सेरिया) मानो इन पादुकाहीनो को व्यथित करने के लिये उत्सुक हो गई। उसके दोनो तरफ बबूल के काटो की बाड थी। धूल मे थोडे अपने कांटों को छुपाकर चारित्र-चूडामणि के चरणो का स्पर्श करने की इच्छुक मानों अपने स्वभाव के अनुकूल स्वागत किया हो। कीलो की तरह अन्त.-प्रविष्ट कटको को निकालते हुए इनके पादतल से निकली हुई रक्त की धारा मानो इन विरक्तो की विराग की रक्तिमा कितनी है, इसे अभिव्यक्त कर रही थी। प्रत्येक वस्तु को गर्म बनाती हुई ग्रीष्म-काल की लू इन प्रस्थान करने वालो की मानो आन्तरिक शीतलता का परीक्षण कर रही थी। कही पर धवल-धूल से भरी हुई लम्बे पाट वाली शुष्क नदियाँ 'ये नगे पैर वाले हमे कैसे लाँघते हैं, मानो इसी भावना से पथ मे विषम समस्या खडी कर देती थी। दूध की तरह दुर्लभ पानी बार-बार पीने पर भी लोभियो की तृष्णा के समान प्यास बुझाने को समर्थ नही था। बडा विस्मय है कुओ का पानी बहुत गहरा होने पर भी रोम कूपो से ऊपर से प्रस्वेद जल निकल रहा था। थोडी दूर पर बताया हुआ भी मार्ग बहुत दीर्घ निकल जाता और श्रान्त पथिको को उसे जैसे-तसे लाँघना पडता था। पथ-श्रम से कान्ति-विहीन पथिको के द्वारा थकान को दूर करने के लिये छाया खोजने पर भी घुणाक्षर-न्याय की तरह कही पर ही मिलती थी।

इतिभाषा'। ४. प्रस्थानमिच्छूनाम्। ५. प्रान्तर–दूरशून्योऽध्वा इति हैमः।

किमेभिरानुषङ्गिकैः परीषहैः कार्यपरायणानामितीव मन्वानो भिक्षुर्निष्कम्पहृदयं सह सहगामिभिः पथि पुरस्सरतां सिषेवे। मध्येमार्गमुपेयुषामुपवसथानां[1] श्रद्धालवोऽनायासमागतानां मुनीनां दर्शनान्मुदिराणां मयूरा इव भृशं मुमुदिरे। अत्रैव विधातव्या प्रावृषेण्या[2] वसतिरित्यनुनयत्स्वपि तेषु गुरुशासनमेव पुरस्सरयन् पुरतः ससार सः। प्रतिग्रामं दायं दायं धर्मोपदेशं स्पर्शं स्पर्शं पुलिनप्रदेशं[3] सुखमर्बुदाऽद्रिमूलमाससाद।[4]

धैर्यशौर्यादिसद्गुणैर्यत्रत्यानां जेगीयमाना गुणगाथास्तेभ्यः प्रकृतिरपि प्रोन्नतपदमदादितीव मेदपाटदेशः शिखरिशिरःस्थानमधितस्थौ। भविष्यन्त्यत्र यवनानामनवरतमाक्रमणानीति चिन्तयेव विष्वग् विस्तृतैर्बहुप्राचीरैरनिर्दुर्गमैरद्रिदुर्गैर्यं प्रकृतिः परिवेष्टयामास। गुणस्थानश्रेणिमारुरुक्षुभिक्षुरिव भिक्षुरपरभिक्षुभिः सह सानुमच्छ्रेणिमारोढुमुपचक्रमे। प्रलम्बायमाने शुष्कप्राये वाहे[5] किञ्चिदार्द्रायां पद्धतौ पदानुपदमभिसरन्ती व्रतिनामियं ततिश्चण्डांशुताप - तप्ताऽपीपत्सहज - शीतलतामन्वभवत्। अतिभीष्मोऽपि ग्रीष्मर्त्तुः पार्वतीय - पवनसम्पृक्तः सत्सङ्गरक्त पापीव किञ्चिच्छ्लथपथमादिद्रिये। तत्र जङ्गम्यमानानां क्वचिदुत्पाद - व्यय - ध्रौव्यात्मिकां विभु - त्रिपदीमनुस्मारयन्तीव पलाशानां पत्त्रत्रयी मर्मरखैरमीषां श्रोत्रोत्सवमातेने। क्वचिद् धव-खदिर-पलाशमध्येकत्र तिष्ठद् व्याकरणोदितं द्वन्द्वैकत्वं साक्षादमून् दर्शयामास। क्वचित् श्वास - कफघ्नं वन्याऽऽटरूषपर्वतं नास्माकमत्र कोऽप्युपयुक्तेति व्याकुर्वदिव विमनायितमेभिर्विलोकितम्। क्वचिज्जटाजालजटिलो वटः स्वं कृष्णावासमादिशन्निवैतान् विश्रान्त्यै प्रोत्साहयाञ्चक्रे। क्वचिदारण्य - कर्णिकारक्षुपाणाममीषुरभितो कुसुमावलिर्मूर्द्धानां श्रेणिरिव मौनावलम्बिनी दूरादेव शोभमाना प्रफुल्लमेतान्

---

१ ग्रामाणाम्। २ चातुर्मासिकी। ३ "काण्ठा प्रदेश" इति भाषायाम्। ४. "अरावली की पहाड़ियाँ" इति भाषा। ५. वाहे—वाहेला, इति भाषा।

कार्य-निष्ठा के लिये ये सब विघ्न बाधाएँ कुछ नहीं, यही मानते हुए निष्कम्प हृदय से भिक्षु अपने सहगामियों के साथ मार्ग में आगे बढ़ रहे थे। मार्गवर्ती ग्रामों के श्रद्धालु श्रावक अनायास आये मुनियों के दर्शन पाकर मेघागमन से मयूरों की तरह हर्ष से नाच उठे। "आप चातुर्मासिक प्रवास यहीं करें" यह अनुनय बहुत करने पर भी उन्होंने गुरु की आज्ञा को ही आगे रखा और बढ़ते गये। मार्गवर्ती प्रत्येक ग्राम की जनता को धर्मोपदेश देते हुए और कांठा-प्रदेश का स्पर्श करते हुए वे अरावली पर्वत की तलहटी में पहुंच गये।

धैर्य, शौर्य आदि सद्गुणों के आधार पर जहाँ के लोगों की, गुण-गाथा गाई जाती है, उन्हें प्रकृति ने भी उन्नत स्थान दिया है, मानो इसी बात की साक्षी-रूप सारा मेदपाट (मेवाड़) पर्वत चोटियों पर बसा है। यवनों के अनवरत आक्रमण होते रहेंगे, मानो इसी चिन्ता से सब ओर फैले बहुत प्राचीर वाले अति दुर्गम पर्वत-किलों में प्रकृति ने जिसे परिवेष्टित कर रखा है। गुणस्थान, श्रेणी आरोहण के इच्छुक मुनि की तरह भिक्षु ने अपने सहयोगी साधुओं के साथ शैल-श्रेणि पर चढ़ना प्रारंभ किया। बहुत प्रलम्ब शुष्कप्राय प्रवाह की कहीं-कहीं थोड़ी गीली पगडंडी पर चलती हुई इस साधुओं की पंक्ति ने सूर्य के प्रचण्ड ताप से तप्त होने पर भी थोड़ी सहज शीतलता अनुभव की। अति भीष्म ग्रीष्म ऋतु भी पार्वतीय पवन के संपर्क में आकर सत्संगरत पापी की तरह तनिक शांति के मार्ग को प्राप्त कर चुका था। कहीं पर, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक त्रिपदी बड़ी व्यापक है, इसका स्मरण कराती हुई मानो पलाश वृक्षों की पत्रत्रयी अपने मर्मर शब्दों के द्वारा इनके कानों को आनन्द-निमग्न कर रही थी। कहीं पर, धव, खदिर और पलाश एक जगह में खड़े हुए व्याकरण में कथित 'द्वन्द्वैकत्वम्' समास का मूर्त-रूप दिखा रहे थे। कहीं पर इन्होंने दमा और कफ को नष्ट करने वाले अड़ूपे[6] के वन को यहाँ पर मेरा कोई उपयोग करने वाला नहीं है, मानो इस बात को प्रकट करते हुए, उसे श्री विहीन देखा। कहीं पर जटा-जाल में जटिल वट-वृक्ष, मेरी छाया में तो श्री कृष्ण ने विश्राम लिया है, मानो इस बात को निर्दशित करता हुआ उसने भिक्षुक पथिकों को विश्रान्ति के लिए प्रोत्साहित किया। कहीं पर जंगली कणेर[7] के वृक्षों की सौरभहीन कुसुमावलि ने मौनावलम्बिनी मूर्खों की श्रेणी की तरह इन सबको दूर से देखा। कहीं पर

६. जंगली अड़ूपा, इतिभाषा। ७. जंगली कणेर, इतिभाषा।

प्रेक्षाञ्चक्रे। क्वचन फलप्राग्भारनम्रा कम्रा आम्रवृक्षास्तपोधनानमून् प्रणिपिपतिषव[1] इव शुशुभिरे। कुहचन मादकफलजनयिता मधुद्रुमो मद्यनिषेधिनोऽमी इति भीतिमाभेजानो निज नाट्यनाटकं निदर्शयामास।

एवमुभयत सानुमना मध्यगमध्वानमाव्रजन्तोऽमी परमरमणीयामुपत्यकामतिक्रम्य विशेषमूर्ध्व ब्रह्मद्वारमुपेतुकामा योगिन इवाधित्यका चटितुमुच्चेलु। अवरोह इवाऽऽरोहो न सुखसाधीयानित्यनुभवन् भूघनस्तेषा[2] भृशं कृच्छ्रायते स्म। शनकैरुपर्युपरि व्रज्या विदधाना यद्यपि मन्दायिता पादाना गतिस्तथापि हृद्रोगिणामिव निरामयानामप्येषा श्वासोच्छ्वासगतिर्वेगवती बभूव। कायिक-विनयभेदेषु सआउत्त गमणमिति" प्रभुणा प्रतिपादित मन्येऽत्रैवाऽमीषा स्थपुट-"कटाया[3] पद्धतावटाट्यमानाना याथातथ्येन परिणतम्। एकोऽपि पदस्तत्रानुपयुक्तपदे निक्षिप्तो दारुणा विपदमाकारयतीति निर्विवादमभ्युपगच्छन्तीर्यासमितिश्चक्षुष्मती[4] विललास तेषाम्। दृष्टानुमेयाऽत्यन्तगभीरिम-भैरवा दर्शनमात्र-कम्पितहृदयापि तत्रत्या गर्त्ता नाऽमीषामनुभवजुषा गतिमवरुरोध। क्वचित्कर्पूरनिकरधवलधाराभिरनवरतपातुक स्रोत समीरेण सह शीकरव्यपदेशतः सत्कारयदमून् स्वोपकण्ठमुपस्थातुमनुरुरोध। विश्ववत्सलोऽयमुत्स. प्रतिक्षणं निर्मलममृतायमान जल दददपि नहि केभ्योऽपि प्रतिदानमाकाङ्क्षति, किमु न शिक्षणीयमिदमनागसिवशजैरस्माभिरितीवाऽनल्पं कल्पयामास तेषामुन्मिषितं मानसम्। न जागृयाद् यदि क्षुत्-पिपासादि-पीडा को नाम प्रकृति-क्रीडास्थल परममभिराममिद पदमवगणय्य कोलाहलाकुलं व्याकुल यन्त्रवद् व्यस्तकार्यभर वृहन्नगरमधिवस्तुमुत्सहेत, सहेत वा ,विविध-वीवध"-

---

१. प्रणन्तुमिच्छव। २ शरीरम्। ३ विषमोन्नत–सकीर्णायाम्, 'ऊची-नीची और सकडी, इति भाषा'। ४ ईर्यासमिति–जैन पारिभाषिक

फलो के भार से नम्र कमनीय आम्र-वृक्ष इन तपस्वियों के प्रणिपात मे मानो झुक हुए शोभित हो रहे थे। कही पर मादक फलो को उत्पन्न करने वाला महुआ 'ये मद्य का निषेध करने वाले है' इस भय से भीत, पत्र, पुष्पो से रहित अपना नग्न नाटक दिखा रहा था।

दोनो तरफ की पर्वत-श्रेणियों के बीच मार्ग से चलते हुए ये परम-रमणीय उपत्यका (तलहटी) को लाँघकर अधिक ऊँचे ब्रह्मद्वार को पाने के इच्छुक योगियो की तरह अधित्यका (पर्वत की ऊपरी भूमि) पर चढने के लिए आगे बढे। अवरोहण की तरह आरोहण सुख-साध्य (सरल) नही है, यह अनुभव करते हुए इनका शरीर खूब थकान की अनुभूति करने लगा। धीरे-धीरे ऊपर चढने मे यद्यपि इनके पैरो की गति मंद हुई, फिर भी हृदय रोगियो की तरह इन नीरोगियों के भी श्वासोच्छ्वास की गति वेगवती हो गई। ऊँचे-नीचे और सकडे मार्ग मे चलते हुए इनके कायिक विनय के भेदो मे जो "आउत्त गमणं" भगवान् ने बताया मानो यहाँ वह इनके यथार्थ मे परिणत हो गया। एक भी कदम यदि अनुपयुक्त स्थान पर रख दिया है, तो निर्विवाद भीषण संकट का सामना करना पडेगा, इसे स्वीकार करती हुई उनकी ईर्या-समिति बडी जागरूक बनी। देखने पर ही अनुमान हो, अत्यन्त गहरे, भयानक और जिनके दर्शन-मात्र से हृदय थरा उठे—ऐसे वहाँ के खोह भी उन अनुभव-शालियो की गति को अवरुद्ध नही कर सके। कही पर कपूर-समूह के समान धवल धारा मे निरन्तर गिरता हुआ झरना पवन के साथ शीकर के बहाने सत्कार करता हुआ उन्हें अपने पास बैठने का अनुरोध कर रहा था। विश्व-वत्सल बृहद् स्रोत प्रतिक्षण अमृत के समान निर्मल जल देता हुआ भी किसी से प्रतिदान की आकाक्षा नही करता।' 'क्या निष्काम वश वालो को हमे यह नही सीखना चाहिए?' इस पर उनका प्रबुद्ध-मानस अनेक कल्पनाएँ करता रहा। यदि भूख-प्यास की पीडा न सताये तो ऐसा कौन हो जो प्रकृति के क्रीडा स्थल, इस परम सुन्दर स्थान को छोड़कर कोलाहल से परिपूर्ण, व्यग्रता से युक्त, यन्त्र की तरह व्यस्त कार्यक्रम वाले बड़े नगर मे जाकर बसना चाहे और कौन विविध भारवाली जीवन निर्वाह की यत्रणा को सहे,

---

शब्द जो गमनागमन की सावधानता बतलाता है। ५ भारे विवध-वीवधौ-इति हैम।

स्वरूपां जीवन-निर्वाह-यन्त्रणामित्थं मन्त्रयामास तेषामन्तःकरणम्।
अहह! खलु सत्यमिदम्, यत् पुरातनैर्मुनिपुङ्गवैर्दुष्करतपः
शुष्ककाययष्टिभिर्यावत्[1] कथितमनशनमाश्रयद्भिः पार्वतीयगह्वरमेव
विविक्तपदमन्वेषितम्। कदाऽस्माकमप्यवरुद्धाश्रवप्रवाहमीदृक् पुण्याहं
समेष्यति, यस्मिन् वयमपि लययोगमुपयुञ्जाना भुञ्जानाः सहजा-
नन्द-कन्दं निस्पन्दं विजनमुपासिष्यामहे। इत्थं शुभसंकल्पमय-
मन्तर्जल्पमारचयन्तस्तेसन्तः पुनरूर्ध्वंगमनाय प्रयेतिरे।

क्वचिच्छैलेषु नयनपथमवतीर्णा विशाला शिलाः स्वनामधन्यै-
र्धन्यर्षि-प्रभृतिभिः कृतपादपोपगमनैः[2] पवित्रितं पृथ्वीशिलापट्टकं
स्मारयामासुः। क्वचिदचला दन्तकाना[3] मिषतः स्वग्रीवां
बहिर्निगमयन्तो "भवद्भिरप्यदग्नि-परीक्षायामचलधैर्यवद्भिर्भाव्य"-
मितीव संकेतयामासुः। क्वचिद् दृषदां विशाल-खण्डा गण्डा[4]
एकैकशः पतिता स्वपतित्वमाविश्चिकीर्षव इवैतेषां पुरः प्रशस्तमे-
कत्वतत्त्वमुद्बोधयामासुः। क्षमाभृत एव प्रकर्षामुन्नतिमाप्स्यन्तीति
महीयसी शिक्षा क्षमाभृतां सकाशाद् मुदाऽऽद्रियमाणा इवैते
तच्छिखरमारुरुहुः। एवमेते प्राकृतरस-पानतः कवय इव पेप्रीयमाणाः
भिक्षवः पोस्फुरद्-नैसर्गिक-निवेशं मेदपाटदेशं प्रविविशुः।

विविधधन-धान्यादिवस्तुसवित्री विलोकिताऽमीभिर्मनोहारिणी
मेदपाटीया पार्वती धरित्री। आनाभि परिवेष्टितोपलप्राकारा
नयनाऽयनमागताहरितभरिता लघुलघुकेदाराः।[6] क्षीरसौदर्यं
मधुरनीरं दधाना ददज्जीवन-दाना शुण्डाकारा उदपाना[7] क्षेत्र-
शोभां वर्धयमाना निशमिताः। तन्निर्गता निर्मलजलधारिणी
वप्रान्तःचारिणी शस्यतृषामसहमाना इव सत्वरं वहमाना

---

१ यावज्जीवमनशनम्। २ पादपोपगमननामकं, अनशनं कृतं यैः।
३. दन्तकास्तु बहिस्तिर्यक्प्रदेशा निर्गता गिरेः इति हैमः ४ गण्डाः शैलोपलाः

यो उनका अन्तःकरण मन्त्रणा कर रहा था। अहा! यह बहुत ठीक है कि पुराने मुनिवर्गों ने दुष्कर तपस्या के द्वारा अपने शरीर को सुखाकर यावकिंचित (यावज्जीवन का) अनशन के लिये पर्वत की गुफाओं के एकान्त स्थान को चुना। हमारे भी कब ऐसा पुण्य दिवस आयेगा जब हम लययोग में लगे सहजानंद को भोगते हुए निस्पन्द एकांत की उपासना करेंगे।" यो शुभ संकल्पमय अन्तर्जल्प करते हुए वे साधु-जन और ऊँचे चढ़ने के लिए प्रवृत्त हुए।

मार्ग में उन्हें कहीं पर विशाल शिलाएँ मिलीं, जिन्होंने स्वनामधन्य धन्यऋषि-आदिमियों के द्वारा पादपोपगमन अनशन में पवित्रित पृथ्वी शिलापट्टक की स्मृति करादी। कहीं पर अचल पर्वत दांतों के बहाने मानो अपनी ग्रीवा बाहर निकाल कर "आपको भविष्य की अग्नि-परीक्षा में अविचल धैर्यवान रहना है" इसका संकेत कर रहे थे। कहीं पर चट्टानों के बड़े-बड़े पत्थर एक-एक गिरे हुए अपनी पतित-अवस्था को प्रकट करते हुए मानो इनके समक्ष, एकत्व ही प्रशस्त तत्व है इसका उद्घोष कर रहे थे। क्षमाशील ही प्रकृष्ट उन्नति को पायेंगे, क्षमाधारी के पास से यह महान् शिक्षा ग्रहण कर मानो इन्होंने पर्वत-शिखर पर आरोहण किया। ऐसे ये साधुजन प्रकृति के रसपान में कवियों की तरह प्रीणित होते हुए, जिसकी प्राकृतिक छटा निखर रही है, ऐसे मेदपाट देश में प्रविष्ट हुए।

इन्होंने विविध धन, धान्य आदि को उत्पन्न करने वाली मेदपाट की मनोहर पर्वतमयी भूमि को देखा। नाभि तक उपल प्राकारों से परिवेष्टित हरे-भरे छोटे-छोटे खेत देखे। क्षीर के सदृश मधुर जल को धारण करने वाले और जीवन दान देने वाले शुण्डाकार (सूंडिया) खेत की शोभा को बढ़ाने वाले कूएँ देखे। उनसे निकलने वाली, निर्मल जलमय खेत के अन्त तक जाने वाली शस्य की प्यास को न सह सकने के कारण मानो शीघ्र बहने

च्युता -इति हैम। ५ क्षमाधारका, पक्षे क्षमामृत पर्वता। ६ क्षेत्रे तु वप्र केदारौ, इति हैम। ७ उदपाना कूपा।

क्वचिदमीभि सारणि[1] दृष्टा। क्वचिन्माधुर्य-जन्यये सांवत्सरिक-तपश्चर्यामारचयन्तीव किञ्चिदुद्गता घनेक्षूणां वाटिका भिक्षूणां दृष्टिगोचरमापन्ना। क्वचिद् वृष्टिं प्रतीक्षमाणा कार्षिका वप्रान् शम्बाकुर्वाणा[2] निध्याता।

स्वातन्त्र्य-संग्रामेभ्यो भूयो भूयो युध्यमानो बुध्यमान प्राण-रक्षातोऽपि विशिष्टां धर्मरक्षाम्, सहमानोऽपि धनजनादीना-मसह्यां हानिं, वहमानोऽतिप्राचीनशुचिपरम्पराम्; यो देशोऽपि भारतीय-नरेशैर्विशिष्टया दृष्ट्या विलोकितस्तज्जानपदीया जना प्रायेण कृषिप्रधाना, स्वहस्तविन्यस्त-समस्तकार्यकलापा। तेषां स्वल्पाऽऽगमव्ययेन संतुष्टा पुष्टा वृत्ति। विहिताऽऽडम्बरवारणा साधारणा स्थिति। एकमग्रत कृत्वा तदनुगमन-कुशला वीतशङ्का मति। स्वल्पप्रचारो विद्यायास्तथाप्यनवद्याऽऽचार-सहिता। प्रतिग्राममग्रा[3] जैनी वसति। आगमरहस्यमन्वेष्टार[4] साध्वाचारं वेदितार श्रावका। लसद्धार्मिकानुरक्तिर्येषामकृत्रिमा भक्ति। नितान्तमदोलायिता तर्काभिघातै प्रतिकूलवातैरपि श्राद्धानां श्रद्धा। कृतमितव्ययरतिरपि यदीया दानार्थमकृपणा मति। चिरस्मृतिनेयं यत्रत्यमातिथेयम्। यवनैरनामितोत्तमाङ्गानां सूर्यवंशशिरोमणीनां महाराजप्रतापप्रभृति-वीराग्रणीनामुज्ज्वलं गौरवं येषां हृदि। निरञ्जन-पातिव्रत्यपद्धतीनां पद्मिनी-प्रमुख-महासतीनां पवित्रैश्चरित्रैर्धृताऽखर्वगर्वा यद्देशीया योषित। सर्वमपि भव्यं भव्यमनुभवन्तो ग्रामानुग्रामं विहरन्त एते तपोधना परमां मुदमातेनिरे।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये महाकाव्ये 'गद्यप्रबन्धे' द्वितीयः समुच्छ्वासः

---

१ कुल्या—'पाणी का धोरा' इति भाषायाम्। २ अनुलोमं कृष्टं क्षेत्रं

वाली पानी की सारणि देखी। कही पर माधुर्य की प्राप्ति के लिए मात्सरिक तपश्चर्या करती-सी थोडी उगी हुई ईक्षु की सघन-वाटिका देखी। कही पर वृष्टि की प्रतीक्षा करते हुए और खेतो को जोतते हुए किसानो को देखा।

स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए जिसने बार-बार युद्ध किया है, प्राणरक्षा से भी अधिक जिसने धर्म रक्षा को विशिष्ट माना है। अपनी शुद्ध प्राचीन-परम्परा का निर्वाह करते हुए जिसने धन, जन आदि की असह्य हानि को सहन किया है, और जो देश भारतीय सब नरेशो के द्वारा विशिष्ट दृष्टियो से देखा गया है, उस देश के निवासी जन प्राय. कृषि प्रधान, अपने हाथो से समस्त कार्य करने वाले हैं। उनका आय-व्यय बहुत सीमित है, अत. वे सन्तुष्ट वृत्ति वाले हैं। प्रदर्शन और आडम्बर रहित उनकी साधारण स्थिति है। एक को आगे कर उसका अनुगमन करना उनकी निःशंक धारणा है। यद्यपि विद्या का प्रचार अल्प है, फिर भी वहाँ के लोग उच्च आचार वाले हैं। प्रतिग्राम मे जैन बस्ती की प्रधानता है। आगमो के रहस्य को पहचानने वाले और साध्वाचार को जानने वाले श्रावक हैं। जिनकी धार्मिक अनुरक्ति बडी विशिष्ट है और कभी न डोलने वाली जिनकी स्वाभाविक भक्ति है। तर्कों के आघातो से और प्रतिकूल वातावरण से भी जिन श्रद्धालुओ की श्रद्धा प्रकम्पित नही होती। परिमित व्यय मे ही जिनको आनन्द है, फिर भी दान के लिए मति कृपण नही है। जिनका अतिथि-सत्कार सदा स्मरणीय है और जिनके हृदय मे यवनो के आगे सिर न झुकाने वाले, सूर्यवंश शिरोमणि महाराणा प्रताप आदि वीरवरो का उज्ज्वल गौरव विराजमान है। जिन्होने निश्चल पतिव्रत-धर्म का परिपालन किया है, ऐसी पद्मिनी आदि महासतियो के पवित्र शील से जहाँ की स्त्रियाँ परिपूर्ण गौरवान्वित है। सब कुछ सुन्दर-सुन्दर अनुभव करते और ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए ये साधुजन परम आनन्द को प्राप्त हुए।

द्वितीय समुच्छ्वास समाप्त

पुन. प्रतिलोम कर्षति शम्बाकरोति' इति सिद्धान्त-कौमुद्याम्। ३ अग्रा-प्रधाना। ४. 'शील-धर्म-साधुषु तृन्' तद्योगे द्वितीया।

तृतीयः समुच्छ्वासः | *

प्रखरतर-दिवाकर-करनिकरैस्तातप्यमानमुर्वीतलं शीतलयन्निव, चिराय निपीतनीर-समूच्छित-तृणोत्करमङ्कुरयन्निव, दाघज्वरकर-निदाघनृ-तेजो निराकुर्वन्निव, अत्युष्णता प्राप्तप्रसारातिसाराद्युपता-पान् निर्मूलयन्निव, अलमालिङ्गितातिनिम्नतल कूपजलमुन्नयन्निव, नग्नीभूताखिलविभागान् धूलिधवलितान् मरुतडागान् वा:प्रवाहै-स्तृप्नावयन्निव, मालिक-मनोरथै सहोद्यानानि सफलयन्निव, अखिलजगज्जन्तुजात जीवयन्निवाऽकस्मादुदीचीनो नवीनो विभ्रज्ज-लवेगो मेघो विहायस्युन्ननाम।

श्याममपि काममाह्लादकरं जात नभस्तलम् जलदागम-मह-प्रदर्शनशूरैरिव मयूरै सशब्द नृत्यमारब्धम्। सम्मुखीनं स्वागतमुद्भावयन्त वोड्डीनगतयोऽभवन् शकुनयः[१]। भ्रमितुं लग्ना बला-हकराज वर्धापयन्त्य इव विहायसि बद्धपंक्तयो बलाका[२]। मेघानुगामिनी सौदामिनी स्वभर्तु शुभागमन सूचयन्तीव चमच्चरी-कर्तुम् प्रवृत्ता। तत्कालं तस्तरिरे[३]ऽखिलमपि विष्णुपदं[४] काद-म्बिन्य[५]। तद् दुर्दिनमपि[६] मुदिनमिवाऽऽनन्द जगज्जीवातु-जलद-दर्शनाज्जाग्रज्जीवलोक। पुरास्तोकरूपेण शनैः किमप्यारभणीयमितीव नीतिज्ञो नीरदो धीर ध्वनयन् विरलाभिर्धाराभिर्मन्दं प्राक् वर्षितुं

१ चिल्लपक्षिण। २ वगुला, इतिभाषा। ३. आच्छादयामासु।

तीसरा समुच्छ्वास

सूर्य की प्रचण्ड किरणो के समूह से अत्यधिक उत्तप्त भूमि-तल को शीतल करता हुआ, बहुत देर से पानी न मिलने के कारण समूर्छित तृण-समूह को अंकुरित करता हुआ, दावज्वर को पैदा करने वाली ग्रीष्म ऋतु के तेज को निस्तेज बनाता हुआ, अतिशय घोर गर्मी के कारण पसरे हुए अतिसार आदि उपतापो को निर्मूल करता हुआ जिसने तल का आलिगन कर लिया और जो बहुत नीचा हो गया है ऐसे कुँए के पानी को ऊँचा उठाता हुआ, जिनके सब हिस्से नंगे हो गये है और धूल से धवल हो गये है ऐसे मरुधर भूमि के तालाबो को पानी के प्रवाह से छलाछल करता हुआ, बागवानो के मनोरथो के साथ ही उद्यानो को सफल बनाता हुआ, समग्र ससार के प्राणी-वर्ग को जीवनदान देता हुआ मानो जल से परिपूर्ण नया मेघ आकाश मे अकस्मात् ऊँचा उठा।

आकाश पटल काला होते हुए भी बहुत आकर्षण और आनन्ददायक बन गया। जलद आगमन के उत्सव मे प्रदर्शन-शूर मयूरो ने अपनी मधुर आवाज के साथ नृत्य प्रारम्भ कर दिया। चीले आकाश मे उडने लगी, मानो मेघ का सम्मुख जाकर स्वागत कर रही हो। मुदिर को बधाई देती हुई-सी बद्ध-पक्ति बलाकाएँ गगन मे पर्यटन करने लगी। मेघ की अनुगामिनी बिजली अपने पति के शुभागमन की सूचना देती हुई बार-बार चमकने लगी। सारे नभो-मडल को तत्काल ही मेघमालाओ ने आच्छादित कर लिया, उस दुर्दिन को भी जगज्जीवन औषध के समान जलद-दर्शन के कारण सब प्राणियो ने सुदिन की तरह आदर दिया। पहले पहल थोडे रूप मे ही कुछ प्रारम्भ करना चाहिये, मानो इस नीति को जानते हुए 'पहले मेघ ने धीमे शब्द करते हुए

---

४ विष्णुपद—नभ। ५ कादम्बिनी—मेघमाला। ६ दुर्दिनं मेघजं तमः।

प्रवृत्तः। दानशौण्डीरैर्न स्तोकं स्तोकं विश्राणितु[1] शक्यमितीव वेगमागतस्तडित्वान्[2] धारासारैः समन्ततो दानशीलतां दर्शयामास। नेयं पेयं करगेहृत्य कैरपि मदीयमम्भ इत्यूर्जितगर्जित-व्याजेन घोषणा-पटहं वादयन्निव पुनर्वारिदान-वदान्यतामुत्कर्षयामास। नहि व्यधायि निम्नोन्नत-भूभेदोऽमृत[3] वितरता विशालहृदयेन जलमुचा। जवेनाऽजनिष्ट रोदसी[4] जलमयी। मौनमालम्बिरे नभोऽम्बु पेपीयमाना वनीहाः[5]। हिमालयात्पतत्स्वर्गापगापयः पूरमनुकर्त्तुमुत्सहिरे पर्वतेभ्योऽवतरन्तः पानीय-प्रवाहाः। नदीयन्ति[6] स्म नगरवीथयोऽपि क्षणं पाथोद-कृपाकटाक्ष-लक्षिताः। क्रीडासलग्नचित्ता दिगम्बरीभूता गतव्रीडा बाला सलिलमध्ये पलायाञ्चक्रिरे निर्भयमितस्ततोऽनिर्वचनीयसुखमनुभवन्तः। सर्वा अपि मलाविला आपः स्वपापमपाकर्त्तुकामा इव सिद्धापगा[7]—सधर्मिणीं कामपि महानदीमशिश्रियन्। नद्योऽपि सद्यः पातुकैः प्रसृतैः पानीयप्रवाहैः परिपूर्णोदरा यौवनोन्मादमादधाना युवतय इव वक्रगतयः कुल-मर्यादामुपेक्षमाणाः सवेगं समुद्राभिमुखं[8] प्रचेलुः।

अहो! अन्याहशेव सपत्नं, सकलमपि वर्त्तावरणम्[9]-परिहितहरित-चीनांशुक-परिधाना नव्यवधूरिव शुशुभे वसुन्धरा तदानीम्। अनालस्याः शस्यवाप-प्रसिता धृतहलाद्युपकरणा वृषभैः सह स्व-स्वक्षेत्रेषु प्रतस्थिरे सोत्साहं कार्षिकाः। पूर्वमेव शम्वाकृतेषु क्षेत्रेषु बीजाचक्रिरे शुभोदर्कमाशंसवस्ते। केचिद्धलिनः सलिलमये क्षेत्रे शालीनुवाप, केचिन्मुद्ग-माष-मकुष्ठ-कलाय-कुलत्थादीनामुप्तिं विदधिरे, केचिदाढकीपरिवृतं जूर्णा[9]ह्वयमवापिषुः; मकोयधान्य[10]मवापि/पुनर्भूरिशो जनैः। इत्थं प्रावृट् सर्वैरपि हृदा सदकारि हिरुक् पतिविरहितायाः हरिणाक्ष्याः।

---

१ दानुम्। २ मेघः। ३ जलम्। ४ द्यावाभूमी तु रोदसी इति हैमः।

सामान्य बूँदा बूँदी से वर्षा प्रारम्भ की। दानवीर कभी थोडा-थोड़ा दान नहीं दे सकते मानो इसी बात का विज्ञापन करते हुए मेघ ने फिर चारो तरफ बडे जोर शोर से वर्षा कर अपनी दानशीलता का परिचय दिया। कोई भी मेरा पानी मनचाहा ले जाये अथवा पीये, प्रचण्ड गर्जा-व्याज से मानो यह उद्घोषणा पटह बजाते हुए पुन गहरी वर्षा कर अपनी दान-उदात्तता का उत्कर्ष दिखाया। जल वरसाते हुए मेघ ने ऊँची-नीची भूमि का कोई भेद नही रखा। सब जगह समान रूप से बरसा। बहुत जल्दी ही आकाश और धरती जलमय बन गई। चातको ने गगन का निर्मल जल पी तृप्त होकर मौन धारण कर लिया। पर्वतो से गिरते हुए पानी के प्रवाह हिमालय से उतरती हुई गगा नदी के पूर का अनुकरण करने को उत्साहित हो उठे। मेघ की कृपा-कटाक्ष-लक्षित नगर की गलियाँ भी एक क्षण के लिये नदी का सा आचरण करने लगी। क्रीडा मे सलग्न वस्त्र-रहित लज्जा से अनभिज्ञ बच्चे अनिवर्चनीय सुख का अनुभव करते हुए बहुत देर तक पानी मे इधर-उधर दौडते रहे। इधर-उधर के सारे मैले पानी ने मानो अपने पाप को मिटाने के लिये गगा के समान किसी महानदी का आश्रय ले लिया। नदियाँ भी अपने मे चारो तरफ से गिरने वाले जल-प्रवाहो से परिपूर्ण भरी हुई यौवन का उन्माद धारण करने वाली युवतियो की तरह बाँकी गति वाली बनकर कुल मर्यादा की उपेक्षा करती हुई अति आकुलता से समुद्र की ओर चलने लगीं।

सारा ही वातावरण दूसरे ही प्रकार का हो गया। वसुन्धरा हरे रग के बहुमूल्य वसन को धारण करने वाली नववधू के समान खिल उठी। आलस्य को छोडकर हल आदि साधनो को लेकर धान्य बोने को उद्यत कृषको ने बैलो के साथ अपने-अपने खेतो को प्रस्थान किया और शुभ फल की कामना करते हुए उन्होंने पहले से जोते हुए खेतो मे बीज बोये। कुछ किसानो ने पानी से भरे खेतो मे चावल बोये। कई किसानो ने मूँग, उडद, मोठ, मटर और कुलत्थ आदि अनाज का वपन किया। कुछ किसानो ने आढकी (तूवेर) से परिवृत ज्वार बोई और बहुतेरो ने मकई (मक्का) का वपन किया। इस प्रकार प्रिय-वियोगिनी स्त्री के सिवाय सब लोगो ने वर्षा काल का हृदय से स्वागत किया।

---

५ चातका। ६ नद्य इवाचरन्ति। ७ गङ्गा। ८ पक्ष-मुद्रा-द्रव्य तत्सहिता समुद्रा घनिन। ९ जुवार। १० मक्का (मकई), इतिभाषा।

इतोऽत्रासाथि राजनगरवासिभिस्त्रासकैर्यन्चतुर्भिरनगारैः सह भिक्षुनामा महामुनिरत्र प्रावृड् - निवासार्थमागच्छति । भृशमौत्सुक्य माभेजाना लघवो गुरवश्च श्रद्धालव संभूता प्राप्तसन्देशविषये परस्परमित्थमालेपु—"कौतस्कुतोऽय , वाचिकोऽथवा लिखित सन्देश आगत ? के सन्त्यमी महामनसो भिक्षुरित्याख्यया ख्याति-माप्ता महामुनय । कीदृशी प्रकृतिरेतेपाम् । कैस्तत्र विनयपत्र प्रेषि । कथमतर्कितमेतेपामत्रागमनम् ।' इत्याद्यान् पन्ति परी-पृच्छ्यमानान् प्रश्नान् समाधानुकाम कश्चिन्मर्मज्ञो वाक्पटुर्नर सविस्तर तद्वृदन्तमाविर्भावयितु लग्न —"अद्यैव कश्चिद् विश्वस्त सन्देशवाहको, वाचिक लिखितमपि च सन्देशमादाय समागात् । ततो मया सम्पूर्ण रहस्य सम्यक् पर्यज्ञायि । अहो ! किं वच्मि ।-अस्ति परममस्माक सौभाग्यम्, यद् वीतदम्भा स्फीत-कीर्तयो वैराग्यभाजो मुनीश्वरा एतत् पुरं पावयिष्यन्ति । श्रीभिक्षु-स्वामिना पूर्वाऽऽचरितं चरितमपि श्रोतव्यमस्ति यत् कथमेभिर्गार्हस्थ्य परित्यक्तमिति अवदधता सर्वेऽपि श्रोतुमुत्सुका श्रावयाम्यह तद् यथाश्रुतम् ।"

विलसति मरुधरदेशे नद्युपकण्ठ-काण्ठा-प्रदेशे योधपुर-शासनान्त-र्वर्त्ति 'कण्टालिय' नामक समृद्धमधिष्ठानम् । राष्ट्रवरवंशीया[१] योधपुरेशितु[२] सामन्तता स्वीकुर्वाणा महामान्या राजन्यवंशजा मदनसिंहाभिधाना , धर्म - राजनीतिविदोऽधिपा । तत्रोसवशीयाना जैनानामुदारा वसति । तेषु शुक्लार्चागोत्रजो[३] धर्मिष्ठो भद्रप्रकृति-र्व्यापारकुशलश्च- वल्लभजिन्नामक[४] श्रेष्ठी प्रतिवसति स्म । तस्य कुलीना शालीना प्रवीणा प्रतिव्रता धर्मनिरता कुलदीपिकेव

---

१ राठोड, इतिभाषा । २ जोधपुर नरेश की, इतिभाषा । ३ सुकलेचा

इधर राजनगर निवासी श्रावको ने भी जाना कि चार मुनियो के साथ भिक्षु नाम के महामुनि यहाँ वर्षावास विताने आ रहे है। अतिशय उत्सुकता से बडे-छोटे श्रावको ने मिलकर प्राप्त सन्देश के विषय मे, बातचीत की—"यह वाचिक अथवा लिखित सन्देश कहाँ से आया है? ये भिक्षु नाम से ख्यातिप्राप्त महामना महामुनि कौन है? इनका स्वभाव कैसा है? इनके लिये वहाँ किसने प्रार्थना पत्र भेजा। इनका आगमन ऐसे अकल्पित ही कैसे हुआ?" इत्यादि चारो तरफ से पूछे जाने वाले प्रश्नो का समाधान करने के लिए कोई एक मर्मज्ञ और वाक्पटु मनुष्य विस्तारपूर्वक उस बात को प्रकट करने लगा—"आज ही कोई विश्वस्त सन्देशवाहक वाचिक और लिखित सन्देश लेकर आया है। उससे मैंने पूरा रहस्य अच्छी तरह से जाना है। अहा! क्या कहूँ? हमारा परम सौभाग्य है कि निश्छल, उज्ज्वल कीर्ति वाले वैराग्यवान् महामुनि इस शहर को पवित्र करेंगे। श्री भिक्षु स्वामी का पूर्ववृत्तान्त भी सुनने योग्य है कि कैसे इन्होने गृह परित्याग किया? सब ध्यान से सुनो! मैं उसे यथाश्रुत सुना रहा हूँ।"

"मरुधर देश मे जोधपुर राज्य के अन्तर्गत काठा-प्रदेश मे नदी के निकट 'कण्टालिया' नामक एक समृद्ध ग्राम है। वहाँ जोधपुर राजा के सामत राठोड-वंशीय, राजकुल मे उत्पन्न धर्म और राजनीति मे दक्ष, महामान्य श्री मदन सिंह नाम के राजा हैं। वहाँ ओसवाल जैनो की बहुत बडी बस्ती है। उसमे सुखलेचा गोत्र मे उत्पन्न, धर्मिष्ठ, भद्र प्रकृति और व्यापार कुशल 'बल्लू जी' नाम के एक सेठ रहते थे। उसके कुलीन, शालीन, हर कार्य मे प्रवीण, और धर्म-निरत कुलदीपिका के समान 'दीपा' नाम की पतिव्रता सहधर्मिणी

गोत्र, इतिभाषा। ४ बल्लूजी नाम के, इतिभाषा।

दीपाभिधा सधर्मिणी। सा मुमुखापि दुर्वाक्योच्चारणे विमुखा, सोत्कृष्टा सत्यपि कापथप्रस्थितानामुपस्थितावसती[1], नियमादि-मानिन्यपि वृत्तितो नित्यममानिनी। तस्या अलक्षितकैतव दाक्ष्यम्, अपश्यद्दुर्गुणा दृष्टि, अनरुन्तुदा[2] वचनावलि, अनाशंसिनी शुश्रूषा, अकृतप्रदर्शना प्रवृत्ति, असाधारणा भक्ति, अकारणिकी प्रीति, अनालस्य कृत्यम्, अरूढिमती मेधा, अविच्छिन्न प्रारम्भ, अनुत्सेकि साफल्यम्, निसर्गनिर्मला नीति, शुभोदर्क[3] प्रारम्भ, सद्गुणेष्वाकर्षणम्, नित्यमुपयुक्ता क्रिया, इङ्गितज्ञा प्रज्ञा, लज्जानमिता च दृष्टि शोभते स्म।

सैकदा सुखशय्यायां शयाना क्ष्वेडानादैर्निनादितकाननं पञ्चाननं स्वप्ने प्रेक्ष्य मुक्ति[4] सन्तोषमिव गर्भं बभार। आपन्नसत्त्वा[5] साऽम्बा यातातथ्येनाऽऽपन्नसत्त्वा समजनि। तेजस्विनमुदरे दधाना प्राचीव सा तेजस्विनी सवृत्ता। क्षमशीलापि भीतेर्नामापि सोढुमक्षमा बन्धुजनैर्व्यलोकि। ब्राह्मीव सत्वरमुत्तरोत्तरदानै परान् निरुत्तरीकुर्वतीव सा सर्वैरन्वभावि। विषमया समस्यया तस्या पुरस्तत्काल सरलयाऽभावि। देव्या-इवाऽऽपातकटुरपि[6] परिणामपटुस्तस्या आदेश पारिवारिकै ससम्मान प्रत्यश्रावि। शुक्लपाक्षिकी ज्योत्स्नेव तस्या धार्मिकी रुचि शुभ्रीभवन्ती प्रत्यहमदीपि[7]। इत्थ शरीरावयवै सह गुणैरपि गुर्व्वी जायमाना सा भृशमशोभत। गर्भस्थिति परिपालयन्ती तात्कालिक दोषान् मुञ्चन्ती कृष्णमिव श्यामलच्छायं भूरिशुभलक्षणोपेत सुन्दराकृति-संस्थान पिण्डीभूतमालोकमिव नश्यत्तमोजातं स्वतोऽन्वीयमान-शुभ-मुहूर्त्त घटी—करणलग्नादिव्रातं निरामय जातमसूत सा।

---

१ असती—अविद्यमाना। २ अमर्मस्पृग्। ३ उदर्कस्तद् भवफलम्, भाविशुभफलमित्यर्थ। ४. निर्लोभता। ५ गर्भवती। ६ अङ्गीकृतम्।

थी। वह समुख होते हुए भी दुर्वाक्य बोलने मे सदा विमुख थी। उत्कृष्ट सती होते हुए भी कुमार्ग मे प्रस्थान करने वालो की उपस्थिति मे सदा अविद्यमान रहती थी। नियम आदि मानवाली होने पर भी व्यवहार मे नित्य अमान-वाली थी। उसकी दक्षता कपट से रहित थी। किसी के मर्म को नही स्पर्श करने वाली उसकी वाणी थी। उसकी सेवा-वृत्ति भी निस्पृह थी। विना प्रदर्शन की प्रवृत्ति थी। असाधारण भक्ति थी। स्वार्थहीन उसकी प्रीति थी। आलस्यरहित उसका कार्य था। रूढि के आग्रह से मुक्त उसकी वुद्धि थी। वीच मे नहीं टूटने वाला और शुभ्र फल वाला उसका प्रारम्भ था। किसी कार्य मे सफलता मिलने पर वह घमण्ड नही करती थी। उसकी स्वभाव से ही निर्मल नीति थी। जिसका परिणाम शुभ हो ऐसा ही कार्य वह प्रारम्भ करती थी। उसका सद्‌गुणो मे ही आकर्षण था। वह नित्य उपयुक्त क्रिया ही करती थी। इंगित से समझने वाली उसकी प्रज्ञा थी। दुर्गुणो को नहीं देखने वाली और लज्जा मे विनत उसकी दृष्टि थी। इन सद्‌गुणो से वह बहुत सुशोभित थी।

एक वार वह सुख-शय्या पर सोई हुई थी। क्ष्वेडानाद से सारे जगल को गुंजाता हुआ सिह उसने स्वप्न मे देखा। सिह-स्वप्न देखकर, निर्लोभता जैसे सन्तोष को धारण करती है, उसने गर्भ धारण किया। गर्भवती होने पर वह यथार्थ मे सत्वशालिनी वन गई थी। अपने उदर मे एक तेजस्वी को धारण करती हुई वह प्राची की तरह तेजस्विनी वन गई थी। वह क्षमाशील होती हुई भी उसे भय का नाम तक न सुहाता था। वह सरस्वती की तरह शीघ्र उत्तर देकर लोगो को निरुत्तर कर देती थी। विषम समस्या भी उसके सामने सरल वन जाती थी। पहले कटु लगने वाला भी उसका आदेश सव परिवार वाले परिणाम-सुन्दर होने से देवी के आदेश की तरह ससम्मान स्वीकार करते थे। उसकी धार्मिक रुचि शुक्ल-पक्ष की ज्योत्सना की तरह प्रतिदिन वृद्धिगत हो रही थी। इस तरह वह शरीर अवयवो के साथ गुणो से भी गुर्वी (महान्) वनती हुई वहुत शोभित हो रही थी। गर्भकाल के दोषो का परिहार करती हुई और गर्भ-स्थिति का सम्यक् परिपालन करती हुई उसने कृष्ण के समान श्यामल द्युतिवाले वहुत शुभ लक्षणो से युक्त, स्वस्थ पुत्र को जन्म दिया। अन्धकार को मिटाने के लिए पिडीभूत आलोक जैसा वह वहुत सुन्दर आकार एव सस्थान वाला था। उसके जन्म के समय शुभ-मुहुर्त, घडी, करण, लग्न आदिक स्वत अनुगामी वने थे।

---

७ कर्तरि णिच्–'दीप–जनेति' सूत्रेण।

पृथ्वी कल्पवृक्षमिव, मेघमाला जलमिव, शुक्तिर्मौक्तिकमिव च त असाधारणमर्भकं प्रसूयमाना सा सम्यक् सवित्रीपदं पवित्रयामास । कति न सन्ति समासमीनास्ता[१] मातरा या अस्तोकानि तोकानि सुवाना अपि नहि जगज्जनवदनारविन्देषु नर्तितनामधेया भवन्ति । गुणवत् त्वेकमपि वंशमुज्ज्वलयति धवलयति चातीत-तिमिर-तिरोहितान् पूर्वपितॄनपि । पूर्णतामिते शुचिकर्मण्यविषमे दशमेऽहनि भविष्यद् - भिक्षु - भावमालोकमानेनेव मौहूर्त्तिकेन नवजातस्य शिशो 'भिक्षु.' इति मङ्गलमभिधानमुदघोषि । उज्ज्वलायतीना प्रसूतीना विलसन्ति बाल्येऽपि विलक्षणानि लक्षणानि । न भवति किमुत जातमात्रोऽपि भासुरगात्रो गभस्ति[२] । न जायते किमु कोटिकोटिनेत्राभिनन्दनीयोऽविकसितकलोऽपि वन्दनीयोऽत्र बालचन्द्र. । अङ्कादङ्क समाह्वियमाणोऽत्यन्त-प्रेम परवतीभिर्युवतीभिरुरोजोपपीडमाश्लिष्यमान सुधाधौतं तन्मुखसरोजं निपीय दृग्दोषाशङ्कया तत्काल थुत्क्रियमाण स स्तनन्धयो विनयवतो बोध इव प्रतिदिन ववृधे । कदाचिज्जानुभ्या हस्तौ पुरस्सयन् धावमानो जायते स्म दृष्टेरविषयो जनन्याः । 'क्व गतो' मे गृहमणिरित्यधीरध्वनिना शब्दायितायामम्बायामन्यया रमण्या वलात् प्रसूपकण्ठ नीयमान स्फुरद्धास्य स्मेरास्य स शिशुर्भृ श तोषं पुपोष । अस्फुटापि स्खलिताक्षरापि विशृङ्खलार्थापि तस्य सारल्यतरलिता सरस्वती[३] सुधातोऽपि स्वादीयसी सर्वैरन्वभावि । यदा स जातो रिङ्खणक्षमस्तदा[४] मातरमङ्गुलिग्राह गृह्णन् चलन् सन् जातु 'मामङ्के कुरुष्व' इति रोरुद्यमानोऽम्बामनुरुरोध । कदाचित्समवयस्कैः शावैः सार्धं भोजन-पानादि-समयमतिवाहयन्नागतो मात्रा किञ्चिदरुणया दृशा विलोक्यमान कमपि व्यपदेशमादाय स्वमनागस[५] निदर्शयामास स ।

---

१. प्रतिवर्षविजननशीला । २ सूर्य । ३ वाणी । ४ घुटनो से चलने

पृथ्वी कल्पवृक्ष को, मेघमाला जल को और सीप मोती को, इसी तरह असाधारण बच्चे को जन्म देकर उसने जननी के पद को सम्यक् चरितार्थ किया। प्रतिवर्ष सन्तानो को जन्म देने पर भी जिनका नाम ससार मे मनुष्यो के मुखारविन्दो पर नही नाचता ऐसी अनेक माताएँ है। गुण-शून्य अनेक सन्ताने भी कुछ नही करती पर गुणवान तो अकेली भी वश को उज्ज्वल और अतीत के अन्धकार मे डूबे हुए पूर्वजो को प्रकाश मे ला देती है। सूति-कर्म के पूर्ण होने पर दसवे दिन भविष्य मे यह 'भिक्षु' होगा, मानो इस बात को आलोकित करते हुए ज्योतिषी ने नवजात बच्चे का मगल नाम 'भिक्षु' रखा। उज्ज्वल भविष्यवाली सन्तानो के बाल्यकाल मे भी विलक्षण लक्षण होते हैं, क्या उदयकाल मे सूर्य भासुर कान्तिवाला नही होता ? अविकसित कलावाला भी द्वितीया का चन्द्रमा क्या कोटि-कोटि नेत्रो के द्वारा अभिनन्दनीय और वन्दनीय नही होता ? गोद से गोद मे लेती हुई अत्यन्त प्रेमवती युवतियाँ उसे अपनी छाती से चिपका लेती थी। उसके सुधा-धौत मुख-कमल का चुम्बन करती हुई दृष्टि-दोष की शंका से तत्काल थुत्कारती थी। इस तरह वह बच्चा विनयवान के ज्ञान की तरह प्रतिदिन बढने लगा। कभी-कभी वह हाथो एव पैरो से रेगता हुआ माता की आँखो से ओझल हो जाता था। 'कहाँ गया मेरा गृहमणि' ऐसा बोलती हुई माँ व्याकुल हो उठती थी, तभी अन्य स्त्री द्वारा बलपूर्वक लाया हुआ वह स्मितानन खिलखिलाता हुआ बच्चा उसके सुख को अतिशय बढा देता था। अस्फुट-स्खलित उच्चारण वाली और विशृ खल अर्थवाली भी उसकी सारल्य से आप्लावित वाणी सबको सुधा से भी अधिक स्वादिष्ट लगती थी। जब वह थोडा घुटनो के बल चलने योग्य हो गया तब माँ की अँगुली पकड कर चलता हुआ कभी 'मुझे गोद मे ले' रोता हुआ हठ करता था। कभी वह समवयस्क बच्चो के साथ भोजन-पानी आदि के समय को लाँघकर घर आता तो माँ के लाल आँखे करने पर कोई बहाना बनाकर अपने को निर्दोष सिद्ध कर देता था।

वाला, इतिभाषा। ५ निर्दोषम्।

एवं विशद-विवेकेन सह वयसा वर्धमानो यदाऽभवत् सप्ताष्ट-वर्ष-देशीयस्तदा तत्रस्थ - स्थविरोपाध्याय - सकाशादग्रहीद् वणिग्-जनोचिता तृतीय-नेत्र-संकाशा विशिष्टा विद्याम् । तैलबिन्दुरिवाम्भसीति निदर्शनेन सूत्ररूपेण शिक्षितापि विद्या तस्योर्वर-मस्तके महाभाष्यरूपेण परिणाममाप्ता । निसर्गजा तस्यौत्पातिकी[1] सर्वतोमुखी प्रतिभा बृहतोऽपि विदुषो विस्मापयाम्बभूव । नेत्र-मुखकराद्यभिनयै परचेतोगतं चेतितु[2] सम्यक् शशाक स । विहित-वृथा कैतव-कलापाना पापानामपि कपट-नाटकपाटवं प्रत्यक्ष मुद्घाटयामास च । समग्रेऽपि तत्र प्रदेशे तस्याऽवदाता कीर्त्ति र्ननर्त्त नराणा चञ्चद् - वदनमञ्चके । पुनर्व्यापार - कौशलेन समस्तगृह-भारमपि युग्यवत्स इव तस्मिन् वहमानेऽनाधिमयं जीवनं व्यतीयन्तो ज्येष्ठा अस्य सत्पुत्रस्यानृण्यमुद्भावयामासु । यदा कदाचिदागच्छता जैन-मुनीना संसर्गाज्जैन-तत्त्वाना सामान्य-ज्ञान-माकलितमेतेन । सार्था नवपदार्थास्तल्लक्षणानि स्पष्टयताऽनेन साधु हृदयसात्कृता । अभव्यैरलभ्याना षड्द्रव्याणामैदम्पर्यमपि[3] वर्यतया विविक्तिमानीतवानसौ । विषयकषायोपशमनमेव मुक्तिगमनमस्तीति निःसन्देहं प्रतीतिपथमायातमेतस्य । मृत्-स्वर्णयोरिव देहदेहिनो पार्थक्यमन्तर्दृशा निभालितमेतेन । बाल्यकालादेवास्य संस्कृतान्तः-करणभूमौ वैराग्याङ्कुर प्रस्फुटतामाजगाम ।

विरज्यमानोऽपि स्वजनानामत्याग्रहात्पाणिग्रहणविधिं निर्व्यूढ-वानसौ । रूप-लावण्यवती सतीमतल्लिका पुण्यात् स धर्मिणी सधर्मिणी-मवाप । पत्युरनुगमनमेव तस्या मानस व्रतम्, निरुपधि मधुरभाषणमेव तस्या मुखस्य व्यसनम्, देवानामिवाऽभ्यागताना सेवाहेवाकिनी नित्यमस्यावृत्ति', याचकेभ्य कराभ्यामेवोत्तरदानमनया शिक्षित, नहि

---

१ हाजिर–जवाबवाली बुद्धि, इतिभाषा । २ ज्ञातुम् । ३ तात्पर्यम् ।

ऐसे विशद विवेक के साथ वय मे बढता हुआ जब वह सात, आठ वर्ष का हुआ तब उसने वहाँ के निवासी एक वृद्ध अध्यापक से तृतीय नेत्र के समान वणिक जन-योग्य विशिष्ट विद्या ग्रहण की। पानी मे तैल-बिन्दु की तरह सूत्र रूप मे सीखी हुई विद्या भी उसके उर्वर मस्तिष्क मे महाभाष्य के रूप मे परिणत हो गई। उसकी नैसर्गिक सर्वतोमुखी औत्पातिकी प्रतिभा ने बडे-बडे विद्वानो को भी विस्मित कर दिया। वह नेत्र-मुख और कर आदि के अभिनय से दूसरे के दिल की बात को अच्छी तरह समझ जाता था। बडे आडम्बरवाले दम्भियो की पोल खोलकर उनके कपट-नाटक का भी पर्दाफास कर देता था। उस प्रदेश मे उसकी उज्ज्वल कीर्ति मनुष्यो के मुख पर नाच रही थी। व्यापार-कौशल से समस्त गृहभार को जुए मे जुते वृषभ की तरह वहन करने लगा। निश्चिन्त जीवन जीते हुये ज्येष्ठजनो ने इस सत्पुत्र की उऋणता उद्घोषित करदी थी। जब तब आनेवाले जैन मुनियो के सम्पर्क से जैन-तत्वो का ज्ञान भी इसने सीखा था। अर्थ-सहित नव पदार्थ और उनके लक्षण भी इसने भली-भाँति हृदयगम किये थे। अभव्यो को अलभ्य षड्द्रव्यो का रहस्य भी इसने भलीप्रकार भिन्न-भिन्न पहचाना था। विषय-कषाय का उपशमन ही मुक्ति गमन है, इसकी इसे निश्चित प्रतीति हो गई थी। मिट्टी और स्वर्ण की तरह आत्मा और शरीर की भिन्नता इसने अन्तर्दृष्टि से देख ली थी। बचपन से ही इसके शुद्ध अन्त करण की भूमि मे वैराग्य का अंकुर उग गया था।

विरक्त होते हुए भी भिक्षु ने स्वजनो के अत्यन्त आग्रह के कारण विवाह-प्रथा को निभाया। आपने पुण्योदय से रूप लावण्यवती, सती-शेखरा और धर्मवती सद्धर्मिणी पाई। पति का अनुगमन ही उसका मानसिक व्रत था। स्वभाव से ही वह निश्छल मधुर-भाषिणी थी। देवो की तरह वह अतिथियो की सेवा-टहल किया करती थी। याचको को उसने हाथो से ही उत्तर देना

सुखोत्तरं दानम् । गुरूणां पुरतो विनयवती तद्वत् स्नेहशीला च लघीयसामग्रतः ।

परभागासहेन[1] खलेन नास्या जिह्वाग्रेण स्पृष्टम् । विहित-विवेकलोपेन कोपेन नान्दोलिताऽस्या देहयष्टिः । नित्यकुपथ्यया गुणेष्व-सूयया नहि कलुषितमस्याः पूतमन्तःकरणम् । नासीदस्याः शब्द-भाण्डागारेऽपशब्दानां सङ्ग्रहः । लज्जाभग्ननम्रे अक्षियुगलेऽस्या नहि विकाराः लब्ध-प्रसाराः । सामायिकादि-धार्मिकानुष्ठाने निष्प्रकम्प्या निष्ठाऽस्याः । प्राप्ततपोऽवसरा साऽऽसीदनवरतमग्रेसरा । अतो भिक्षोर्दाम्पत्यजीवितं परं स्पर्धनीयं गर्वणीयं[2] नितान्त-सुहितं विललास ।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये महाकाव्ये
गद्यप्रबन्धे तृतीयः समुच्छ्वासः ॥

---

१. गुणोत्कर्षाऽसहेन । २. स्पृहणीयम् ।

सीखा था मुँह से नहीं। गुरुजनों के आगे विनयवती थी, वैसे ही छोटों के सम्मुख स्नेहशीला थी। गुणों के उत्कर्ष को न सहनेवाले कलह ने इसके जिह्वा के आगन का स्पर्श भी नहीं किया था। विवेक को निगल जानेवाला क्रोध कभी इसके देह को छू भी नहीं सका था। दूसरों के गुणों मे दोष दर्शन की वृत्ति असूया जो नित्य-निकृष्ट है, उसने इसके पवित्र अन्त करण को कलुषित नहीं किया था। इसके शब्द भाण्डागार मे कोई अपशब्द नहीं था। आँखें लज्जा से नीची होने के कारण इसके मन मे कोई विकारोत्पत्ति नहीं होती थी। सामायिक आदि धार्मिक अनुष्ठान मे ही इसकी अविचल आस्था थी। तप के अवसर पर वह सदा अग्रेसर रहती थी। इसलिये भिक्षु का दाम्पत्य जीवन दूसरों के लिये नितान्त स्पर्धनीय और वाञ्छनीय था।

तीसरा समुच्छ्वास समाप्त



चतुर्थः समुच्छ्वासः | *

अथैकदा पश्चिमाया रजन्या धर्मजागरणं जागरयता दीपाङ्गजेन व्यचिन्ति—"कोऽहम् ? किं शरीरमहम् ? नैवम्, शीर्यमाणं शरीरम् नात्मनस्तु नाश । किमिन्द्रियाण्यहम् ? नैवम्, अमीभि[1]र्विषयाणा संग्राहक कश्चिदन्य । अभेदादुपचर्यमाण वपुरपि चेद् मामकीनं नास्ति तर्हीतरत्त मदीय स्यादेव किम् ? अहो ! रात्रिदिव धावमानेनापि चेन्नलब्ध गन्तव्यमास्पदम्, तर्हि तेन धावनेन किम् ? अङ्कविरहितै केवलबिन्दुभिर्यत् साध्य तदेवात्मज्ञान-शून्यै शरीरिभि साधनीयम् । प्रातरारभ्य तल्पाऽऽश्रयणावधि सर्वमैहिकं कार्यमास्माकीनम् उत किमपि पारलौकिकम् ! वत ! इद कृतमिदं कार्यमित्येव कुविकल्प-तन्तुसन्तानै मस्मृति-पट सीव्यन् मन्तूयति[2] जन्तु प्रतिपलम् ।

धिग्-धिङ् मौढ्यम् ! ! येषा कृते जीवान् हिनस्ति, मृषावक्ति, अदत्तमादत्ते, अब्रह्म सेवते, द्रव्य सचिनुते, न गणयति शीत-ताप-मानाऽपमानादि-प्रातिकूल्यम्, स्वदेश रहयति[3], चहयति[4] च आश्वस्तानपि विभून्, ते दायादा किं नु तद्विपाकदायादा[5] भवितुमर्हन्ति ? सर्वविदितमवदातसत्यमेतत्, यत्—

"एक उत्पद्यते तनुमान्, एक एव विपद्यते ।
एक एव हि कर्म चिनुते, सैकक फलमश्नुते ।।

---

१ इन्द्रियै । २ 'मन्तु अपराधे' इति धातोरूपम्, अपराध्यति इत्यर्थ ।

★ | चौथा समुच्छ्वास

एक वार पश्चिम रात्रि मे धर्म-जागरण करते हुए दीपागज (भिक्षु) ने सोचा "मैं कौन हूँ ? क्या मै शरीर हूँ ? नही, शरीर तो क्षण-भगुर है, पर आत्मा का कभी विनाश नही होता। क्या मैं इन्द्रिय हूँ ? नही, इनके द्वारा विषयो का सग्राहक कोई दूसरा है। अगर अभिन्न माना जाने वाला शरीर भी मेरा नही है तब दूसरी वस्तु तो मेरी हो ही कैसे सकती है ? अहो ! रात-दिन दौडते हुए भी यदि गन्तव्यस्थान नही मिला, तो उस दौडने से क्या प्रयोजन ? अकरहित केवल बिन्दुओ मे कुछ भी सिद्ध नही होता है, यही आत्म-ज्ञान शून्य प्राणियो की स्थिति है। सुबह उठने से लेकर रात्रि मे सोने तक सव ऐहिककार्य ही किया जाता है, अथवा कुछ पारलौकिक भी ? खेद है ! यह किया, यह करना है, इन दुर्विकल्पो के धागो से ससार के पट को बुनता हुआ प्राणी प्रतिपल अपराध करता रहता है।"

धिक्कार ! धिक्कार ! इस मूढता को, जिनके लिए प्राणियो के प्राण लूटता है, मृषावाद वोलना है, चोरी करता है, अब्रह्मचर्य का सेवन करता है और द्रव्य का सचय करता है, तथा जिनके लिये शीत, ताप, मान, अपमान आदि की प्रतिकूलता नही गिनता, अपने देश तक का परित्याग कर देता है और विश्वास रखने वाले अपने मालिको को भी धोखा दे देता है। वे परिजन क्या उसके कटु परिणाम के भी भागीदार होगे ? यह सर्व विदित तथ्य है कि "मनुष्य अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है, अकेला विविध कर्म करता है और अकेला ही उनका फल भोगता है।" फिर भी वह इस पर चिन्तन नही

३ त्यजति। ४ 'चहण् शाठ्ये' इति धातो रूपम्', वञ्चयति इत्यर्थ।
५ तद्विपाकभागभाज'।

तथापीद न चिन्ताविषयमेत्येतस्य, अहो ! विचित्रमिद मोहमहाशैलूपस्य नर्त्तन-कौशलम् ! अनित्ये नित्यावगम, विषे सुधासम्मोह, स्वप्ने जागर्याग्रह, असारे सार-निश्चय । हन्त ! कीदृक्षोऽय विषमोऽक्षिरोग —यत् सत्सङ्ग वन्हिज्वालमिव, सदुपदेश कर्णकण्टकमिव, तपस्तीक्ष्णशूलाग्रमिव, दानं हस्तदूषणमिव, ब्रह्मचर्य विषपानमिव, सत्यवर्त्म कदध्वमिव च पश्यति । प्रत्यक्ष गतागतिके जगति कथ नास्माक गूढपथमारूढपथ[1] जायते, नायते क्षणोऽपि प्रत्यायनीय:, न ज्ञायते तथाप्युन्मदिष्णुनाऽनेन कष्टसहिष्णुना ।

कष्टम् ! क्व गता मदीया मयि शश्वत् स्नेहमुदीरयन्तश्चिराशापाश-नियन्त्रिता यन्त्रकवद् रात्रिदिव धावमाना पूज्या पितर: ! किमनायि तै परासुतामाश्रयमाणैः स्वमञ्चित स्वापतेयम्[2] ! खलु यदर्जितं तदत्रैव वर्जितम्, स्वय तु रिक्त-हस्तै महाप्रयाणमावर्जितम् ।

अस्तु, कि करणीयमधुना मयेति विमृष्टव्यो विषय । रयप्राप्त-नदीपय इव प्रतिक्षणं वहति जीवनमिदम् । त एवाऽत्र धन्या मनीषिमूर्धन्या येऽन्यत् कार्यशतकमपहाय विधिवत् प्रथम धर्ममाराधयन्ति, साधयन्ति चात्मनीन कार्यम् ।"

इत्यादि-शुभ्र-विचारधाराभि कारानुकारि-जगत्-स्वरूप विभावयन् सत्यमात्मरूप दिदृक्षुर्भिक्षुर्वैरङ्गिको[3] बभूव ।

तद्दिनादारभ्य भिक्षोर्वृत्ति प्रवृत्तिश्चान्यादृशी जज्ञे । परम-कल्याणी वाणी नित्यं वैराग्यभङ्गी तरङ्गयामास । विमर्शगभीरा मुखमुद्रा बाह्यव्यवहारमुपेक्षमाणाऽजस्रमौदासीन्य-सङ्गिनी बभौ । नाट्टहास्यादिकमवकाश लेभेऽस्य परै सह सलपत । न तादृग्

---

१ मन: । २ धनम । ३. द्रष्टुमिच्छु ।

करता। अहो ! मोह रूप नटराज का नर्तन-कौशल कितना विचित्र है ? क्षण-भगुर मे शाश्वत की-सी श्रद्धा, विष मे अमृत का-सा मोह, स्वप्न मे जागरण का आग्रह और असार मे सार का दर्शन ! खेद ! यह कितना विषम नेत्र-रोग है कि मनुष्य सत्सग को अग्नि ज्वाला के समान, सदुपदेश को कर्णकण्टक की तरह, तप को तीक्ष्ण शूल के अग्रभाग के तुल्य, दान को हस्तदूषण के समान, ब्रह्मचर्य को विषपान के सदृश और सीधे सही मार्ग को बीहड पथ के तुल्य देखता है। प्रत्यक्षत ससार क्षण-ध्वसी है और भविष्य के एक क्षण का भी विश्वास नही, फिर भी यह कष्ट-सहिष्णु मन क्यो नही सही मार्ग पर चलता ?

ओह ! मेरे प्रति सदा स्नेह-सिक्त रहने वाले, चिर आशा-पाश से निबद्ध यात्रिक की तरह दिन-रात दौडनेवाले मेरे पूज्य पितृजन कहाँ गये ? क्या मृत्यु का वरण करते हुए वे अपने द्वारा सचित द्रव्य को अपने साथ ले गये ? जो भी अर्जित किया था वह सब यही छोड गये। स्वय तो खाली हाथो ही महाप्रयाण कर गये।

अस्तु, अब मुझे क्या करना चाहिए, यह चिन्तनीय विषय है। वेगवान नदी के पानी की तरह यह जीवन प्रतिपल बह रहा है। वे ही विद्वत्-शिरोमणि यहाँ धन्य हैं जो दूसरे सैकडो कार्यो का परित्याग कर पहले धर्माराधन करते हैं एवं आत्म-साधना करते है।

इस प्रकार शुभ-विचार-धारा के द्वारा ससार के स्वरूप को कारागृह के समान मानते हुए आत्मा का सही रूप देखने के इच्छुक भिक्षु विरागी बन गये।

उसी दिन से भिक्षु की वृत्ति और प्रवृत्ति दूसरी ही प्रकार की हो गई। परम कल्याणी वाणी नित्य वैराग्य को तरगित करती थी। चिन्तन से गम्भीर बनी हुई मुख मुद्रा बाह्य व्यवहार की उपेक्षा करती हुई आभ्यन्तर अन्वेषण मे सलग्न रहती थी। दूसरो के साथ संलाप करते समय उनके चेहरे पर कभी अट्टहास नही आता था। अब भोजन-पान मे भी वह स्वाद नही रह गया था

भोजन-पानादिषु रसलौलुप्यं यादृक् पूर्वमासीत्। स्नानाऽभ्यङ्गनादि-वैषयिक-सुखेभ्योऽतिदूरमेव मनः शान्तिमनुबभूव। यत्र स्थायिका चासिका शायिका चास्य तत्रैव स तत्त्वचर्चां चालयामास, संसाराऽसारतां दर्शयामास, वर्षयामास च ज्ञानामृतम्।

अकारणं पत्यौ किमप्यसाधारणं परिवर्तनं प्रेक्षमाणा भिक्षोः प्रणयिनी भ्रान्ता श्रान्ताऽशान्ता च संजाता। परामृशन्त्यपि तत्त्व-मविन्दमाना[1] वन्दमाना हृदयेशमन्ते पृच्छासाहसमकृत—"प्राणेश! आश्चर्यचकितेयं श्रीमच्चरण-सरोज-चञ्चरीकायमाणा स्नेहग्रथिला गृहिणी अलक्षित-पूर्वां भवद्वृत्तिं लक्षयन्ती, यत् साम्प्रतिकं सर्व-मपि कार्यजातमार्यपुत्राणां कामपि नवीनां रेखामुल्लिखति। जातप्रियवियोगिनामिव योगिनामिव वा श्रीमतां सावेगं वेगमास्ति-घ्नुते विमर्शवर्या चर्या। उच्चैः पतद्धवलवारिसंकाशं कृतदशन-प्रकाशं हासं नहि स्पृशति कर्ह्यपि कान्तानां[2] वक्त्रगतपत्त्रम्। कृतखेचरीमुद्राणां वाचंयमानामिव नाऽशनाया[3] नोदन्या[4] च धन्यानां रुचे प्राचुर्यमारचयति जातुचिदपि। अहिभोगेभ्य इव विषयभोगेभ्यो निर्भीकमपि बिभेति स्वान्तं श्रीमत्कम्। जागर्ति किमत्र प्रयोजनमिति बोद्धुमनर्हा तेऽर्धाङ्गिनी सजिज्ञासमनुयोक्तु-[5]मुदयुङ्क्त[6]।"

गभीरामुत्प्रास[7]लेखामुल्लिखन्ती भैक्षवी सरस्वती प्रणयिन्या प्रेर्यमाणा बद्धाक्षरा विललास—"देवि! आकारे प्रकारे त्वया साधूट्टङ्किता मे मानसी स्थितिः। न मां कापि बाधते बाह्यार्था-नुबन्धिनी शारीरिकी मानसिकी वा बाधा, परन्तु तत्त्वतो विचार्यमाणा सकलापि जागती[8] लीला वञ्चना-प्रपञ्चितेवाऽव-भासते मयि। संयोगलक्षणा बाह्यभावाः स्वभावादेव वियोग-

१ तत्वमलभमाना। २ पतिदेवानाम्। ३ बुभुक्षा। ४ पिपासा।

जो पहले था। स्नान अभ्यंगन आदि वैपयिक सुखो से तो अति दूर रहने मे ही इनका मन शान्ति अनुभव करता था। वे जहाँ खडे रहते, बैठते, सोते, वही तत्त्वचर्चा चलाते, ससार की असारता दिखाते और ज्ञानामृत की वर्षा करते।

पति मे अकारण ही यह असाधारण परिवर्तन देखकर भिक्षु की पत्नी भ्रान्त, श्रान्त और अशान्त हो गई। चिन्तन करते हुये भी जब कोई रहस्य हाथ नही लगा तो अन्त मे उसने प्राणेश से पूछने का साहस किया। "प्रियवर! जो पहले कभी नही देखी ऐसी आपकी वृत्ति को देखकर चरणो की दासी, आपकी स्नेह-विह्वल यह गृहिणी आश्चर्य-चकित है। क्योकि वर्तमान का आपका सारा व्यवहार कोई नई रेखाएँ खीच रहा है। प्रिय वियोगियो की तरह अथवा योगियो की तरह आपकी चिन्तनमय चर्या सवेग (वैराग्य) का वेग पा रही है। ऊँचे से गिरते हुए धवल पानी के समान उजली दन्त-पक्तियो का प्रकाश बिखेरने वाला हास्य कभी भी प्रियवर के मुख कमल का स्पर्श नही करता। खेचरीमुद्रा किए हुए योगियो की तरह आप श्री की भोजन-पान की रुचि अल्प होती जा रही है। आपका निर्भीक मन भी विषय-भोग से सर्प के फण की तरह डरने लगा है। इन सबके पीछे क्या रहस्य है? यह नही जानती हुई आपकी अर्धांगिनी जिज्ञासा पूर्वक पूछने का प्रयत्न करती है।"

पत्नी की जिज्ञासा से उत्प्रेरित हो गंभीर हास्य की रेखा खीचते हुये भिक्षु ने कहा—"देवी! आकार-प्रकार से तुमने मेरे हृदय की स्थिति को सही समझा है। बाह्य-अर्थ से अनुबन्ध रखने वाली मानसिक अथवा शारीरिक कोई भी बाधा मुझे उत्पीडित नही करती है, परन्तु यथार्थ मे जब विचार करता हूँ तो मुझे संसार की सारी लीला छलनामयी-सी लगती है। बाह्य-भाव जैसे संयोग लक्षणवाले है, वैसे ही स्वभाव से वियोग लक्षणवाले भी है।

---

५ प्रष्टुम्। ६ उद्यममकार्षीत्। ७ हास्यरेखाम्। ८ जगत्सम्बन्धिनी।

लक्षणाः। इहत्य सुखमपि दुःखपरिणतम्। परिजनाना प्रीतिरपि दरदस्नेहभीति। अत्रत्य सख्यमपि[1] सिकताभित्ति-प्रख्यम्। वन्धूना सम्वन्धा अप्यनिर्वाहित-निर्वन्धा।

प्रिये! अस्माभिर्वहुकृतमपि कि कृतं यदि न कृतमात्म-साधनम्, वहु ज्ञातमपि कि ज्ञात यदि न ज्ञात स्वरूपम्, वह्वर्जितमपि किमर्जित यदि नार्जित धर्मधनम्, वहु दत्तमपि कि दत्त यदि न दत्तमभयदानम्, पालितमपि कि पालित यदि न पालित ब्रह्मचर्यम्, वहु धृतमपि कि धृतं यदि च न धृत भगवच्छासनम्।

विनयशीले! किमेतादृशस्यैव नृभवस्य शास्त्रे दुर्लभता प्रत्यपादि! यत्र नात्मसाधना, न यत्र भगवदाराधना, न यत्र कोऽहमिति विवेक, न धर्माधर्मयोरपि च विचार। किम-शनायितु[2] उदन्यायितु[3] निद्रातुं रन्तुमन्ते च गन्तुमेवाऽत्रावतारो ह्यस्माकम्? किमिदमेव मानुप-जनुप सारम्? कि तर्हि तिरश्चामतिशयित नाम न कर्तव्यम्।

भद्रे! ततो निर्णीतमिति मया चेतसि यच्छीघ्रतया साधयामि स्वल्प-सुहित स्वहितम्। स एव कृतलक्षणो[4] विचक्षणो यो ज्वलज्ज्वलन-सदीप्तमन्दिरादविलम्वित सारभूत भाण्डजात प्रथमं वहिर्निष्कासयति, जहाति च निस्सारभूतम्, तद्वज्जन्म-मृत्यु-वित्रसामय-शोकादिदाव-दन्दह्यमाने विष्टपे[5] यो द्रुतमात्मानमेव पृथक्करोति स एव सफल-चेष्टो ज्ञानिना प्रेष्ठश्च[6]। अतोऽहं प्राक् स्ववल्लावल सतोल्य प्राप्तेऽनेहसि[7] जगदपि जिहासुरस्मि, एतदेव मदौदासीन्य-कारणम्, नान्यत् किमपि। न चित्रणीयमिदम्-

---

१ मैत्र्यम्। २ भोक्तुम्। ३ पातुम्। ४ गुणै. प्रतीत.।

यहाँ का सुख भी दुःख का ही प्रतिरूप है। परिजनो की प्रीति मे भी सदा कटुता की छाया मडराती रहती है। यहा की मैत्री भी रेत की भीत के समान है। बन्धुओ के सम्बन्धो का भी अन्त तक निर्वाह नही है।

प्रिये! हमने बहुत करके भी क्या किया, यदि आत्म-साधना नही की। बहुत जानकर भी क्या जाना यदि अपना स्वरूप नही जाना। बहुत अर्जित करके भी क्या किया यदि धर्म-धन का अर्जन नहीं किया। बहुत देकर भी क्या दिया यदि प्राणियो को अभय नही दिया। बहुत पालकर भी क्या पाला यदि ब्रह्मचर्य नही पाला। बहुत धारण करके भी क्या धारण किया यदि भगवान की आज्ञा को शिरोधार्य नही किया।

विनयशीले! क्या ऐसे मनुष्य जन्म की ही शास्त्रो मे दुर्लभता बताई है? जहाँ न आत्म-साधना है, न भगवान् की आराधना है, 'मैं कौन हूँ?' न इसका विवेक है, न धर्म-अधर्म का भी विचार है। क्या खाने के लिये, पीने के लिये, नीद लेने के लिये, भोगो का मजा लूटने के लिये और अन्त मे मरण प्राप्त करने के लिये ही हमारा अवतार हुआ है? क्या यही मानव जीवन का सार है? तो फिर हम मे और पशुओ मे क्या अन्तर है?

भद्रे! इसलिये मैंने मन मे निर्णय किया है कि जो आत्मा के लिए अच्छा है, शीघ्रता से उस अपने हित की साधना करूँ। वही पूर्ण मर्मज्ञ कहलाता है जो आग की लपटो द्वारा जलते हुए मकान से अविलम्ब सारभूत वस्तुओ को सर्वप्रथम बाहर निकाल लेता है और नि सार को छोड देता है। वैसे ही जन्म, मृत्यु, जरा, रोग, शोक आदि की दावाग्नि के द्वारा बुरी तरह जलते हुये ससार से जो शीघ्रातिशीघ्र अपनी आत्मा को निकालता है, वही सफल चेष्टा वाला ज्ञानियो का अग्रगण्य है। इसलिए मै पहले अपने सामर्थ्य को तोलकर समय आने पर ससार को भी छोड देना चाहता हूँ। यही मेरे औदासीन्य का कारण है और कुछ नही। यह कोई आश्चर्यजनक नही है

---

५. विज्ञे। ६ अग्रगामी। ७ समये।

यच्छास्त्रश्रवणाऽऽहितरसौ श्रवौ जायेते स्वत एव वाह्य-विकथा-ऽऽकर्णन-श्लथौ । अन्तर्ज्योतिरुद्योतिताक्षिगोलकौ नहीहेते द्रष्टु[1] माया-नटी-नाटक-पाटवम् । भगवद्गुणगान-रसज्ञा रसज्ञा निश्चित गौणीकरोति मिष्टाम्ललवणादिरसान् । अध्यात्मानन्दभोगतृप्तं वपुर्नहि कर्ह्यपि कामयते संस्पर्शजान् भोगान् । अथवा पीतक्षीराब्धिनीरो नहि पिपासति क्षारोदधिनीरम् । आस्वादितमधुधूलि को धीरो धूलिं कवलयति मुख मधुरयितुम्[1] । अत एव मामकी वृत्ति वैराग्यरागरक्ता विरक्तता व्यनक्ति, तेनेद स्वाभाविकं परिवर्त्तनं यत्त्वयाऽऽलोकि तद् यथार्थमेव । साम्प्रत त्वया कि करणीयमिति यदृच्छया भावनानुरूप निर्णेयम्, नहि परिणाम-दारुण किमप्यनुकरणतया साहसिक कार्यमाचरणीयम् ।"

इत्थ परिपृच्छ्य तूष्णीमाभेजाने पत्यौ प्रकृति-धर्मिष्ठा धर्मपत्नी सहर्ष सोत्प्रास वदनसरोजमुन्निद्रयामास-"आर्यपुत्र ! नोत्सूत्रमसूत्रयत् भवता भवोद्विग्ना भारती । भवानिवाहमपि प्रत्यहमिदमेव भावयामि मनोरथत्रयी भावयन्ती, यथा-कदाऽऽरम्भ-समारम्भान् प्रत्याख्याय सर्वाऽविरतित्यागमय सयममङ्गीकरिष्ये ? कदाऽदिप्त-प्रदीप्त-भवदावादात्मानमुद्धरिष्ये पुन. ? साम्प्रत पतिदेवाना चेतश्चेतति चेदिदमेव, जातस्तर्हि मे फलभारभ्राजिष्णु-र्मनोरथ-कल्पतरु ।

प्रियवर ! असकृदस्माभि भुक्ता वैषयिका भोगास्तथापि न तृप्तिरगाधायि विषय-विह्वलेनोच्चलेन[2] । हन्त ! यदस्त्येव मरुमरीचिकासम कल्पनामात्र-मनोरम तत् कथमिव सुखात्मकं सभवि ? यदि सिकतासु स्नेह, जलेषु नवनीतम्, खलेषु सौहार्द्दम्,

---

१ चेष्टते । २ चित्तेन ।

क्योंकि शास्त्र-श्रवण से सन्तृप्त कान स्वत. ही बाह्य-विकथा सुनने मे शिथिल हो जाते है। अन्तर्ज्योति से उद्दीप्त होने पर चक्षु युगल माया-रूपी-नटी का नाटक नही देखना चाहता। भगवान् के गुणगान गाने मे जिसे रस मिलता हो, वह जिह्वा मीठे, खट्टे, और चटपटे रसो को निश्चित ही गौण कर देती है। आध्यात्मिक आनन्द के भोग से तृप्त तन स्पर्श से उत्पन्न होने वाले भोगो की कामना कभी नही करता। अथवा जिसने क्षीर-समुद्र का नीर पी लिया है, वह कभी क्षार-समुद्र का पानी नही पीना चाहता। खाड (शक्कर) का स्वाद लेने वाला कौन धीर मुँह को मीठा करने के लिये धूल का ग्रास भरेगा? इसलिए ही मेरी वृत्ति वैराग्य के राग से रक्त होने के कारण विरक्त बन चुकी है, इस कारण यह स्वाभाविक परिवर्तन है। जो तुमने अनुभव किया, वह यथार्थ ही है। अब तुम्हे क्या करना है यह स्वेच्छा से अपनी भावना के अनुरूप निर्णय कर लो। जिसका परिणाम कष्टप्रद हो, ऐसा साहसिक कोई भी कार्य केवल देखादेखी से नही करना चाहिये।"

इतना कहकर पति के मौन होने पर स्वभाव से ही धर्मिष्ठ उनकी धर्मपत्नी ने मुस्कराकर अपना वदन-कमल खोला—"आर्यपुत्र! संसार से उद्विग्न आपकी वाणी ने बहुत उचित कहा है। मैं भी आपकी तरह प्रतिदिन तीन मनोरथो का चिन्तन करती हुई यही कामना करती हू कि मैं कब आरम्भ समारम्भ का प्रत्याख्यान करके सर्व अविरति त्यागमय सयम ग्रहण करूंगी? कब ज्वलित-प्रज्वलित भवदावाग्नि से आत्मा का उद्धार करूंगी? यदि आपके अन्तःकरण मे ऐसी स्फुरणा हो रही है तो मेरा मनोरथ-कल्पतरु भी फलवान् हुआ समझती हूँ।

प्रियवर! हमने अनेकबार वैषयिक भोग भोगे है। फिर भी विषय-व्याकुल मन को तृप्ति नही मिली। खेद! जो मरु-मरीचिका के समान कल्पना मात्र से ही मनोरम है, वे सुखात्मक कैसे हो सकते है? रेत मे तैल, जल मे नवनीत, दुष्टो मे सौहार्द और कचरे मे अगर सुगन्ध मिले तो विषयो

अवकरेषु सौरभं च प्राप्येत तदानीमेषु 'विषयेषु सौख्य-परम्परा सुप्रापा स्यात् । सन्ति यानि संयमिनि यमिनि बाह्यविषय-विमुखानि वास्तविक-सुखानि, न नाम तेषां तुलामधिरोढुमर्हा इन्द्राऽहमिन्द्रादीनामपि नितान्तपुष्पिता पल्लविता निर्वृतिव्रततयः[1]। इदानीमिव यदि साधना-कालेऽपि सत्यं साहचर्यं निर्वाहयिष्ये तदानीमेव पत्युः सत्या सहचरी भविष्यामि, न संशयावकाशः ।

रहस्येव द्रढिमानमाप्तौ दम्पती देवाधिदेवं साक्षीकुर्वाणौ व्यवधीरितकातर्यं वर्यं ब्रह्मचर्यं यावज्जीवं विभराञ्चक्रतुः, न प्राप्यते यावत् संयमावस्था तावदेकान्तरितं तपः कार्यमिति निश्चितं ताभ्याम् ।

चित्रम् ! यन्नाममात्रश्रवणतोऽपि प्रादुर्भवति कातराणां हृदये कम्पनम्, तद् ब्रह्मचर्यं सर्ववस्तु-सुलभायां परिस्थितौ, विकस्वरे नवयौवनवने, अनामयसंहनने[2], प्रस्फुटत्परस्पर-प्रेमसौरभे चाभ्यां जम्पतीभ्यां निर्व्याजमुररीकृतम् ।

गोपायितमपि यत् किमपि विशिष्टं कस्तूरिकाऽऽमोदवत् नहि चिरं गुप्तिमासेवते वस्तु । बृहत्पुण्यं, पापं चापि सवीतं सवेगमाविर्भावमाकाङ्क्षतीति जनश्रुतिः । यद्यपि 'चतुःकर्णो न भिद्यते मन्त्रः' इति विश्रुता लोकोक्तिः किन्तु नित्यं तातप्यमानं तपः कथमिव नोद्घाटयति किञ्चित् रहस्यं जनानामग्रतः । अपदापि सपदा, अगतिशीलापि गत्वरी शनैः शनैः कर्णाकर्णिकया प्रसारमाप्ताऽनयोर्जायापत्योः वैराग्यवती वार्त्ता ।

कैश्चित् तत् कार्यं भूरि भूरि प्राशंसि । जागर्त्ति किमप्यन्तरङ्गमितरन्निदानमित्याऽऽशङ्कि कैश्चित् बन्धुभिः । निःसत्त्वाना-

---

१. सुखलताः । २. नीरोगशरीरे ।

मे सुख मिले। संयम मे जो बाह्यविषयो से रहित वास्तविक सुख है, उसकी तुलना मे इन्द्र और अहमिन्द्रो का पल्लवित, पुष्पित सुख भी तुच्छ है। अत. अभी की भाति यदि साधना काल मे भी सच्चा साहचर्य निभाऊँगी तभी मैं आपकी सच्ची सहचरी बनूँगी, यह नि·सन्देह है।"

एकान्त मे यो सुदृढ होकर दम्पति ने देवाधिदेव को साक्षी करके मानसिक कमजोरी का सर्वथा परित्याग कर श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत को आजीवन के लिए स्वीकार कर लिया। जब तक सयम-अवस्था न पा सके तब तक एकान्तर तप करेंगे ऐसा उन्होंने निर्णय किया।

आश्चर्य है कि जिसका नाम-मात्र सुनने से विषय-लोलुप जनो के हृदय मे कम्पन पैदा हो जाता है, उसी ब्रह्मचर्य व्रत को उन्होंने भोगानुकूल सर्व-पदार्थ सुलभ परिस्थितियो में, उभरते हुए यौवन मे, नीरोग शरीर एवं परस्पर महकते हुए प्रेम-सौरभ मे भी अत्यन्त निश्छल रूप से अङ्गीकार कर लिया।

जो वस्तु कुछ विशिष्ट होती है वह गुप्त की हुई भी कस्तूरी की सुगन्ध की तरह बहुत देर तक गुप्त नही रहती। आच्छादित महापुण्य अथवा महापाप बहुत वेग से प्रकट होना चाहता है, ऐसी जनश्रुति है। यद्यपि चार कानो वाली बात फैलती नही, यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है, फिर भी निरन्तर की जाने वाली तप.साधना मनुष्यो से छिपी कैसे रह सकती है ? अपद और अगतिशील भी सपद और गतिशील बनकर धीरे-धीरे एक कान से दूसरे कान मे पहुचती हुई इनके वैराग्य की बात जोरो से फैल गई।

कइयो ने इस कार्य की मुक्त कण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की। 'वैराग्य के पीछे अन्तरंग कोई दूसरा कारण है' कुछ बन्धुजनो ने यह आशका की। 'नि·सत्वव्यक्तियो का यह कार्य है' कुछ धर्म-विमुखो ने यो आक्षेप किया।

कार्यमित्याक्षेपि कैश्चिद् धर्म-विमुखैः । न यूना योग्यमिति प्रत्यौहि[1] कैश्चिद् भौतिकसुखोन्मुखैः । विस्मितया दृशा व्यलोकि कैश्चिद् भावुकभावनैः । किमस्माकमित्यभावि[2] कैश्चित् सामान्य-दृष्टिभिः ।

भिक्षोः कश्चित् पांशुक्रीडासखा[3] समाकर्ण्योदन्तमिमं सखायं सम्बोधयितुमनास्तदुपकण्ठमागात्—"मित्र ! श्रुतं मया तव वैराग्य-दशा-पारवश्यम्, खलु सत्यमिदम् ! उत मुधा सीवन्येव[4] मुसल्ला-यिताऽकुशलवृत्तिना केनापि । मया तु न प्रत्यगायि[5] विचारवन्ध्या प्रवृत्तिरियम् । अतः साक्षान्निश्चेतुमना कृतागमनोऽहम् । 'आम्'[6] वा 'मा' शब्दाभ्यामेव तदुत्तरं देहि, भवत्वपरव्याख्यया ।"

"नारेकणीयं त्वया सहचर ! यच्छ्रुतं तत् सम्यगेव", निःसंकोचं भिक्षुणा प्रत्यवाचि ।

अरे ! सत्यमेतत् ! हन्त ! किं यथार्थमेतत् ! किं वच्मि ! नहि शुश्रूषते मे कर्णयुगली त्वन्मुखादीदृशं वाक्यम् । कथं त्वादृक्षश्चातुर्यचञ्चुरपि पपाताऽस्मिन् भिक्षुकाणां मायाऽऽनाये[7] ।"

भद्र ! भोगार्थमेव यौवनं सृष्टं विरञ्चिना । दम्पत्योर्गाढ-स्नेहसुरभितोऽयं सर्वसुखमयः स्वर्गलोकः । प्रोल्लसल्लावण्याः स्निग्धा मुग्धा एव प्रत्यक्षमप्सरसः । आभिः सह संलाप एव विदूरितमनः-सन्तापः, आसां दर्शनमेव साक्षादमृतवर्षणम् ।

वयस्य ! सुकरा शास्त्रज्ञैर्ब्रह्मचर्यमुपबृंहयन्तीः हृद्यपद्यावलि-सद्दृब्धा वितता कथा, परन्त्वस्या वासनाया सामस्त्येन मानसत्या-गस्तु कोशपानप्रत्यायनीय एव । के सन्ति ते विरक्ता येषां

---

१ विघ्नोऽकारि । २ भूतम् । ३ 'बचपन का साथी', इतिभाषा ।

'युवको के योग्य नही है' यो कुछ भौतिक सुख की ओर उन्मुख हृदय वालो ने विघ्न डालना चाहा। कुछ भावुक हृदयो ने इसे विस्मय की दृष्टि से देखा। कुछ सामान्य दृष्टि वाले व्यक्तियों ने 'हमे क्या' इस प्रकार उपेक्षा की।

वैराग्य की बात सुनकर भिक्षु का कोई बचपन का मित्र अपने सखा को बोध देने के लिये पास आया और बोला—"मित्र! मैंने तुम्हारे वैराग्य की बात सुनी है क्या यह सत्य है? या व्यर्थ ही किसी अकुशल-वृत्ति-वाचाल ने सुई का मूसल बना दिया? मैंने तो इस विचार-शून्य प्रवृत्ति को अच्छा नही माना। इसलिए साक्षात् निर्णय करने के लिए तुम्हारे पास आया हूँ। 'हाँ' या 'ना' मे उत्तर की अपेक्षा है, दूसरी व्याख्या करने की आवश्यकता नही है।"

"मित्र! तुमने जो सुना है वह बिलकुल सही है, इसमे शंका को अवकाश नही है" भिक्षु ने नि'संकोच प्रत्युत्तर दिया।

"अरे! क्या यह सत्य है? क्या यथार्थ है? क्या कहता है? तेरे मुँह से मेरा श्रोत्र-युगल यह वाक्य नही सुनना चाहता। तेरे जैसा चतुर विचक्षण भी साधुओ के मायाजाल मे कैसे फँस गया है?"

भद्र! भोग के लिये ही विधाता ने यौवन को बनाया है। दम्पति के गाढ-स्नेह से सुरभित नव सुख से परिपूर्ण यही स्वर्गलोक है। उल्लसित लावण्यवती स्नेहवती मुग्धा स्त्रियाँ ही यहाँ अप्सराएँ है। इनके साथ बात करने मात्र से मन का सन्ताप दूर हो जाता है। इनका दर्शन ही साक्षात् अमृत-वर्षण है।"

सखे! ब्रह्मचर्य का महत्व बताने वाली अनेक कथाएँ बडे मनोहर शब्दो मे सहज ही शास्त्रज्ञ पण्डित बखानते रहते है, किन्तु सम्पूर्णतया वासना का मन से त्याग तो कोशपान प्रत्यायनीय ही है। कौन वे विरक्त है, मृगनयनी को

---

४. 'सूई', इतिभाषा। ५ प्रतीतिरकारि। ६. 'हाँ या ना', इतिभाषा। ७. जाले।

नानुरक्ता भवति हरिणाक्षी प्रेक्षमाणा स्नेहसिक्ता दृष्टि ? क्व सन्ति ते योगिनो येषामाकर्णितकामिनीशिञ्जितरवौ[1] श्रवौ नहि चापल्यमाकलयतः ? कुह सन्ति ते मुनयो येषा वामाङ्गी सलापयितु न भवति लोला लोला[2] ? कुत्र सन्ति ते वराका-स्तपस्विनो येषा स्मितमुखीमालिङ्गितु न कम्पिता जायते काययष्टि ?

सखे ! किं जन्यते प्रसह्य कामावरोधेन, बोधेन यावन्नहि तन्यते स्वरूपावस्थितिः । ज्ञानिना तु गृहमपि गहनायते, गुहा-वासिनोऽपि मूढा गृहायन्ते गुहामपि । ततो गृहस्थाश्रममेवाऽऽरा-धयता भवता वासनाना सन्न्यासो विधातव्य. । इदमेव परम-कर्तव्यमस्मादृशाम्, इतरथा पश्चात् पश्चात्तापतप्त स्मरिष्यति मित्रयुमुखप्रयुक्तान्[3] शब्दान् । न जानासि भूरिशोऽस्मिन्नानाये[4] सिता[5] सन्त सफरीवत् फर्फरायमाणा उत्पिञ्जलतामनुभवन्त क्लिश्यन्ति, अपत्रपिष्णुतया[6] वहिर्निर्गन्तुमनसोऽपि न शक्नुवन्ति, वहिर्निर्गन्तु दौर्बल्यशालिन । अत पूर्वमेवायति[7]मायतदृशा[8] विभावय, राभसिकं कार्यं च माकृथा, वृथा कष्टकर्यं च ।"

हेतुदर्शन-पुरस्सर वयस्येन प्रणुन्नोऽन्यूनवैराग्यो भिक्षु. सख्यु-र्निर्भरनिपीत-मोहमद्य-पारवश्य विदन् सोत्प्रासमुत्तरयामास-"वयस्य ! सुष्ठूपदेशाय त्वयाऽऽयासो न्यधायि ! कुतस्तव मतिर्दत्त-मकार-पञ्चकदीक्षा वामपक्षीय-शिक्षा[9] कक्षीकृतवती ! नाश्चर्यम् ! अनन्ता-नान्तकाल-सखी विषयोन्मुखी दृष्टि समग्रामपि सृष्टिं तथात्वेन प्रतिपद्यते । सम्मुखीनमृत्युकष्टस्य किमु दर्वीकरदष्टस्य[10] न

---

१. आकर्णित-कामिनी-नूपुर-शब्दौ । २ जिह्वा । ३. मित्रयु०—मित्रयुर्मित्रवत्सल , इति हैमः । ४ आनाये-जाले । ५ बद्धा । ६. लज्जा

देखकर जिनकी स्नेह-स्निग्ध दृष्टि अनुरक्त नही हो जाती ? कहाँ है वे योगी जिनके कान कामिनी के नूपुरो की मधुर ध्वनि सुनकर चचल नही होते ? कहाँ है वे मुनि, जिनकी जबान ललनाओ के साथ सलाप करने के लिये लालायित नही रहती ? कहाँ है वे बेचारे तपस्वी, जिनकी काययष्टि स्मित-मुखी सुन्दरियो का आलिगन करने के लिये कम्पित नही होती ?

मित्र ! बल-पूर्वक कामावरोध से क्या सध सकता है, जब तक बोध से स्व-रूपावस्थिति को नही पहचाना जाता। ज्ञानियो को तो घर भी जगल के समान होता है। मूढ गुहावासी भी गुहा-को घर बना लेते है। इसलिए गृहस्थाश्रम की आराधना करते हुए तुम्हे वासनाओ से सन्यास लेना चाहिए। हमारे जैसो का यही परम कर्त्तव्य है। अन्यथा बाद मे पश्चात्ताप से तप्त, मित्र-वत्सल मित्र के मुख से निकले शब्दो को याद करेगा। क्या तू नही जानता बहुत से इस जाल मे फँसे हुए मछली की तरह तडफते, अत्यन्त व्याकुलता का अनुभव करते हुए सक्लेश पा रहे है। बाहर जाने के इच्छुक होते हुए भी लज्जावश आत्म-दुर्बलता के कारण बाहर नही जा पाते। इसलिए पहले ही भविष्य को दीर्घदृष्टि से देख, शीघ्रता से व्यर्थ का कोई कष्टकारी कार्य मत कर।

युक्ति-युक्त मित्र के समझाने पर उसकी मोह-मदिरा-जनित परवशता जानकर परिपूर्ण वैराग्यवाले भिक्षु ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"मित्र ! तुमने उपदेश के लिए खूब आयास किया। कहाँ तेरी बुद्धि ने पाँच मकार (मद्य, मास, मत्स्य, मधु, मैथुन) वाली—यह वामपक्षीय दीक्षा अंगीकार कर ली ? कोई आश्चर्य नही, अनन्तानन्त काल से दृष्टि विषयोन्मुखी है इसलिए सारी सृष्टि को वह उसी रूप मे ग्रहण करती है। सर्प द्वारा काटे हुए व्यक्ति को, जिसकी मृत्यु सर पर नाच रही हो, क्या उसे नीम के पत्ते मधुर नही

शीलतया। ७ उत्तरफलम्। ८. दीर्घदृष्ट्या। ९. वाममार्गीय०। १०. सर्पदष्टस्य।

माधुर्यमावहन्ति प्रत्यक्ष कटून्यपि निम्ब-पत्राणि। भ्रमिभ्रान्तस्य किमु ज्वराक्रान्तस्य न कटुकायन्ते सुस्वादून्यपि सिताऽऽज्य-प्राज्यानि[1] भोज्यानि।

मित्र! अनन्तशो भुक्ता अपि भोगा: किमु तृप्तिमावहन्ति? करजैर्भृश कण्डूयितापि कण्डूया किं शान्तिमासादयति? यद् दृष्ट्वैव भृश म्लापयति मनुष्याणा मानसम्, तन्मूत्र-पुरीषभाजनं महेलाया कलेवर मोहमाहात्म्यादतीव मञ्जुल मन्यन्ते मूढधिय। स्रवन्ति यत्र प्रत्यह द्वादशाऽशुचिरन्ध्राणि तत्र पावित्र्य-सूत्रण न कथ मौढ्यमाविर्भावयति कामान्धानाम्। अहो! विषयवासना तिरस्कुर्वद्‌भिर्भगवद्‌भिर्गण्डवक्षा: प्रत्यक्षमियं राक्षसीति सगर्हं प्रत्यपादि वामाक्षी लक्ष्यीकुर्वाणै।

सहचर! भोगैरेव जीवनं यापनीयमिति नहि तत्त्वविदा सम्मतम्। भृश भोगासक्तास्तु रोगासक्ता नहि चिररात्राय भोगयोग्या स्थास्नव। नाऽऽश्रावि किमु पाण्डवाना पूर्वजश्चित्रवीर्यो भोगभोगि-दष्टो ह्यकालमृत्युमापन्नः। धर्मं तु यौवन एव सुख साधीय। विविधाधिव्याधिपीनैर्जीर्णैस्तु साधनीयमेव किम्? यावज्जराया न पराभव, यावन्नहि व्याधीनामुद्‌भाव, यावन्नहि करणेषु दौर्बल्यम् तावद् धर्मं समाचरेति तात्पर्यबन्धुरा भागवती वाणी।

बन्धुवर! विलसति ब्रह्मचर्य घोर महाव्रतं नेपदपि सदेह्यमत्र। पर सहस्रेषु द्वित्रा एव चारभट[2]-कोटि-कोटीरायमाणा अस्मिन् निकषे चारुचामीकरत्व[3]मञ्चन्ति। प्रोत्तुङ्गशैलावरजैर्गजैर्वोढव्यो वीवध[4] स्कन्धारोपित-गोणीपातनपरै खरैरुह्येत कथम्?

---

१. खण्डाघृतप्रचुराणि। २ वीर-कोटि शेखरायमाणा ३ स्वर्णत्वम्।

लगते ? ज्वर से आक्रान्त व्यक्ति, जिसका सिर चकरा रहा हो क्या उसे मिश्री और घी से बना सुस्वादु भोजन भी कटुक नही लगता ?"

मित्र ! अनन्त बार भोगे हुए भोग भी क्या तृप्ति दे पाते है ? नखो से खूब खुजलाने पर भी क्या खुजली शान्त हो जाती है ? जिसे देखते ही मनुष्यो का मन घृणा से भर उठता है, उस मल-मूत्र के भाजन नारी-शरीर को मूढ-बुद्धि मनुष्य मोह-महिमा से ही बहुत सुन्दर मानते है। जहां प्रतिक्षण बारह अशुचि के छिद्र बहते हैं, वहाँ कमनीयता की कल्पना करना क्या कामान्धो की मूढता नही है ? अहो ! विषय-वासना का तिरस्कार करते हुए नारी को लक्ष्य करके भगवान् ने गर्हापूर्वक उसे प्रत्यक्ष गण्डवक्षा राक्षसी कहा है। सहचर ! भोगो मे ही जीवन बिताना चाहिए, यह तत्त्व ज्ञानियो को मान्य नही है। बहुत भोगासक्त तो रोगग्रस्त हो जाते हैं। बहुत समय तक भोग के योग्य भी नही रहते। क्या तुमने नही सुना, पाण्डवो का पूर्वज चित्रवीर्य भोग के सर्प से काटा हुआ अकाल मे ही मृत्यु को प्राप्त हो गया था। धर्म की साधना तो जवानी मे ही अच्छी तरह की जा सकती है। विविध मानसिक व्यथाओ एव व्याधियो से पीडित बूढे तो कर ही क्या सकते है ? "जब तक जरा का आक्रमण न हो, रोगो का उद्भव न हो और इन्द्रियो मे दुर्बलता न आये, उससे पहले ही धर्माचरण कर लेना चाहिए" यह तात्पर्य-गम्भीर भगवान की वाणी है।

बन्धुवर ! ब्रह्मचर्य भीष्म महाव्रत है, यहाँ थोडा भी सन्देह नही करना चाहिए। हजारो शूरवीर शिरोमणियो मे इस कसौटी पर दो तीन ही असली स्वर्ण साबित होते है। उन्नत पर्वतो के सदृश हाथियो के द्वारा जो भार उठाया जाता है, उसे पीठ पर लदी हुई बोरियो को भी जो गिरा देते है, वे गदहे

---

४. भारः।

प्रालेयालयादमन्दवेग[1] नीचैरापतन्त्याः मन्दाकिन्या समुच्छलज्जल-प्रवाहं क प्रतिस्रोतस्तर्त्तु मर्त्तुकामो दुःसाहसं करोति कैवर्त्तं[2] विना। तथापि सत्त्वारोपित-मतिः कोऽपि भक्तोऽस्मिन् शक्तः स्यादेव नहीति न मन्येऽहम्। नहि जम्बू-स्थूलभद्रादीना रुचिर-चरित्राणि कथापवित्राण्येव सन्तीति मे श्रद्धा। नून तद्रूपतया जातास्ते मनस्विनो महामर्त्याः, साम्प्रतमपि तादृशाभवितुमर्हन्ति-तराम्, एष्यत्यपि भविष्यन्त्येवेति मे निर्वन्धोऽभिप्राय।"

अतोऽह मानुषी गति महती मन्वानो निकामं ध्रुवधर्मारा-धनाय योगत्रिकैरुद्युक्तोऽस्मि। नाहं हरिवदहार्ययोगैः संयममङ्गी कृत्य शृगालशैलीमनुशीलयिष्यामि, लक्ष्यं लक्ष्यीकृत्यैव पुरः पाद-न्यास च विधास्यामि।"

इत्थमागन्तुकसहचरैर्बन्धुभिश्च सार्धं विविधमुत्तर प्रत्युत्तरं विदधद् भिक्षुर्गृहस्थाश्रमेऽपि कमलवन्निर्लिप्त-चेताः सपत्नीक सुखं सानन्द समयमतिवाहयामास।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये महाकाव्ये
गद्यप्रबन्धे चतुर्थ समुच्छ्वासः॥

---

१ हिमालयाद्। २. धीवर।

कैसे वहन कर सकते है ? हिमालय से प्रखर वेग-पूर्वक नीचे गिरती हुई गगा के उछलते हुए जल-प्रवाह के प्रति-स्रोत मे धीवर के बिना तैरने का कौन दु साहस कर सकता है ? फिर भी कोई सात्विक वृत्ति वाला भक्त इस विषय मे समर्थ हो ही नही सकता, यह मे नही मानता। जम्बूस्वामी और स्थूलभद्र आदि के चारु-चरित्र केवल कथा-सुन्दर ही है, यह मैं नही मानता। निश्चित ही वे मनस्वी महामानव उसी रूप मे हुए थे। अब भी वैसे हो सकते है और भविष्य मे भी वैसे होगे यह मेरी नि सन्देह मान्यता है।

इसलिए मैं मनुष्य जन्म को महान् मानता हुआ ध्रुव धर्म की आराधना के लिये मन, वचन और तन से तैयार हूँ। मैं सिह की तरह उच्च भावना से सयम लेकर शृगाल की शैली नही अपनाऊँगा, लक्ष्य को सिद्ध करके ही आगे पैर बढाऊँगा।

इस प्रकार आगन्तुक मित्रो और बन्धुजनो के साथ विविध उत्तर-प्रत्युत्तर करता हुआ भिक्षु गृहस्थाश्रम मे भी कमल के समान निर्लिप्त-चित्त बनकर पत्नी के साथ सानन्द समय बिताने लगा।

चौथा समुच्छ्वास समाप्त



पञ्चमः समुच्छ्वासः | *

यत्रागत्य सर्वा अपि बृहदाशा बुद्बुद्-सकाशा' प्रतिभान्ति, यत्रागत्य समस्ता अपि कल्पनाः कल्पनामात्रकलेवरा अवशिषन्ति, यत्रागच्छन्त समेऽपि सम्बन्धा विच्छिन्नबन्धा जायन्ते, तत्पर-भवैकशरण मरण नित्यं संसारिणा मस्तके नरीनर्त्ति, चरीकर्त्ति च स्वकीयमव्यवच्छेद्य' कार्यम् । यन्नामापि नित्यममङ्गलसूचकं सूचयति नर, स्वपञ्चत्वप्रवृत्तिमपि न शुश्रूषते कर्णाभ्याम्, कार्तान्तिक[1]कथितमपि व्यर्थयितु' समर्थ' प्रमाणमन्वेषयति, प्रेषयति लग्नपत्रमप्यन्यत्र कथमप्यायुरुत्कर्षमानेतुम् । आलेढि जायुमपि[2] गतायुरर्प्यकम्, वायुमप्यवरुणद्धि वल-पूर्वकम्, तथाप्यपरिवर्त्तित-कृतान्त[3] कृतान्त कथमपि न शान्तस्तिष्ठति । याथार्थ्येन तु जननमेव मरणम्, आगमनमेव गमनम्, सयोग एव वियोगः, हर्ष एव शोक, सुखमेव दुःखम्, हास्यमेव च रोदनम् । यतो गमनमेवाऽऽगमन विशेषयति । मरणमेव जननमुत्कर्षयति । दुःखमेव च सुख प्रतिष्ठयति ।

अथान्यदा भिक्षो सहचरी सहसाऽऽमय-सहचरा समजनि । नानाप्रकारा अप्यस्या विहितोपचारा नाऽऽतङ्कधारामुच्छेत्तु मलम्व-

---

१. निमित्तवित्-कथितमपि । २ भैषज्यम् । ३ अपरिवर्त्तित-सिद्धान्त ।

★ पाँचवां समुच्छ्वास

जहाँ पर पहुंचकर सब बडी बडी आशाएँ भी बुलबुले के समान नश्वर लगती है, जहा सभी कल्पनाएँ निरी कल्पनामात्र रह जाती है, जहाँ सारे सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं वह एक मात्र परभव का शरण लेनेवाला मरण सदा ससारियो के मस्तक पर नाचता है और अपना अविच्छिन्न कार्य करता रहता है। जिसका नाम भी मनुष्य अमंगल सूचक मानता है और अपनी मृत्यु की बात भी कानो से सुनना नही चाहता। ज्योतिषी के द्वारा मारक दशा बताने पर उसे व्यर्थ करने के लिए अपनी जन्मकुण्डली को कही अन्यत्र दिखलाकर किसी समर्थ प्रमाण की खोज करता हुआ अपनी दीर्घायु की कामना करता है। त्यो ही सौ वर्ष जीने के लिए मनुष्य औषधि सेवन करता है, बल-पूर्वक प्राण निरोध भी करता है, फिर भी अपने सिद्धान्त को नही बदलने वाला यम किसी भी प्रकार शान्त नही बैठता। यथार्थ मे तो जन्म ही मृत्यु, आगमन ही गमन है, सयोग ही वियोग है, हर्ष ही शोक है, सुख ही दुख है, हास्य ही रुदन है, क्योकि जाना ही आने की विशेषता बतलाता है। मृत्यु ही जन्म का उत्कर्ष दिखलाती है। दुख ही सुख की प्रतिष्ठा स्थापित करता है।

एक बार भिक्षु की धर्म-पत्नी अकस्मात् रोग-ग्रस्त हो गई। नाना प्रकार के उपचार किये गये फिर भी उसकी रोग की धारा का उच्छेद करने

भूवु । प्रत्युत सा बाला करालकालासन्नदशा परवशाऽहरहो जवेन जायमाना स्वजनैरवेदि । भीमातङ्कवाताघातै सस्नेहमपि स्वजीवनदीपमज्योतिर्मयमाशङ्कमाना सा मर्दितमालेव म्लानानना स्वकान्तमभिमुखीकुर्वाणा वाष्पपूर्णलोचनं भग्नस्वर च प्रोवाच—"नाथ ! मामक वपुरतीवाऽतीव दौर्बल्यमागतमिति युष्माक नाऽविदितम् । अद्य श्वो वा कदाह काल-कवलिता भविष्यामीति न निश्चयः । हन्त ! न मया कदापि कल्पितं यदह भवन्तमेकाकिन विरहय्य प्रेत्य यायिनीति । सार्धमेव सयमाङ्गीकारस्य कियती मधुरा कल्पनाऽऽवयोर्मानसपटे चित्रिताऽऽसीत्, परन्तु न मम मन्दभाग्याया भागधेये दृश्यते निर्वद्यजीवन-क्रम सयमः । भवता तु संकल्पा सेत्स्यन्त्येवेति जल्पाकी बाष्पपूरैरुद्धकण्ठा संजज्ञे ।"

कीनाश-शय्या-सुप्ता[१] सुगृहिणी प्रेक्षमाणो पतिरप्यनियन्त्रितहृदयो बभूव । हन्त ! कि जल्पतीयमबला नित्यधर्मानुरक्ता पतिव्रता मर्मस्पृशा वाचा ? किमु स्वप्नायिता मे जागृतिः ? किमु प्रत्यक्षायिता मे शास्त्रीय-कल्पना ? कथ कथमपि हृदयं द्रढिमानमानीय धैर्यधुर्यया गिरा स्वकर पत्नी-मस्तके स्थापयन् प्रोवाच—"प्रिये ! किं महाप्रयाण-कथा कथयित्वा व्यथयसि ममान्तःकरणम् । सत्सु श्वासोच्छ्वासेषु जीवति कापि जीवनाशा जन्मिनाम् । प्रेतपतिपराधीनप्रायमपि नहि परासुतां[२] दर्शयति दीर्घमायुर्बलम् । अद्याप्याशासे यत्त्व जैवातृकी[३] भाविनीति चेन्नक्षीणं ते प्राणबलम् ।

प्रियधर्मे ! मोहवशवदीभूय मानुशोचस्त्वम् । अनन्तशः पत्नीपतीना सम्बन्धा कारं कार विसृष्टा अस्माभिः । विश्राम-

---

१. कालशय्यासुप्ताम् । २. मृतदशाम् । ३. जैवातृकी-दीर्घायुष्मता ।

के लिये कोई समर्थ नही हुआ बल्कि स्वजनो ने देखा कि बडी शीघ्रता से वह करालकाल के निकट प्रतिदिन पहुँच रही है। भयकर रोग की हवा के फटकारो से स्नेहमय अपने जीवन-दीपक को अन्धकारमय देखती हुई मसली हुई माला के समान मुरझाये चेहरे वाली वह अपने पति का अभिमुख करके आँखो मे आँसू भरकर गद्गद् स्वर से बोली—"नाथ ! मेरा शरीर अति कमजोर हो गया है जो आपसे छिपा नही है। आज या कल कब मैं काल-कवलित हो जाऊँ कुछ भी निश्चित नही है। हन्त ! मैंने कभी कल्पना भी नही की थी कि मैं आपको अकेला छोडकर परभव मे चली जाऊँगी। हमने एक साथ ही संयम लेने की मानस पर कितनी मधुर कल्पना चित्रित की थी। परन्तु मुझ मन्द भाग्यवाली के भाग्य मे निष्पाप जीवन का पथ-संयम नही दीखता। आपके तो सकल्प सिद्ध होगे ही।" यो कहते हुए उसकी आँखें भर आई और कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

मृत्यु-शैय्या पर सोई हुई अपनी धर्म-पत्नी को देखकर पति का मन भी विचलित हो उठा। "खेद ! सदा धर्मानुरक्त यह पतिव्रता अबला नारी मर्मभेदक वाणी से क्या कह रही है ? क्या मे जागता हुआ भी स्वप्न देख रहा हूँ। क्या शास्त्रो की कल्पना मेरे प्रत्यक्ष हो रही है ?" जैसे-तैसे अपने हृदय को दृढ बना कर पत्नी के मस्तक पर हाथ रखकर धैर्यवती वाणी से पति ने कहा—"प्रिये ! महाप्रयाण की बात कहकर क्यो मेरे हृदय को व्यथित करती हो ? जब तक श्वासोच्छ्वास है, प्राणियो का जीवन की आशा बनी ही रहती है। जब तक आयुबल क्षीण न हो तब तक मरणासन्न व्यक्ति भी बच जाता है। आज भी मैं आशा करता हूँ कि अगर तुम्हारा प्राण-बल क्षीण नही हुआ तो तुम दीर्घायु बनोगी।

प्रिय-धर्मे ! तुम मोह के वश होकर चिन्ता मत करो। अनेक बार हमने पति-पत्नी के सम्बन्ध करके छोड दिये है। धर्मशाला मे आये हुए पथिको की

मपहायाऽपरक्षेत्र सनाथितवत्। अथ कथमहमपररामा-परिणयन-समीहा कुर्वीय। साम्प्रतं तु मदीया स्पृहाऽपूर्व-निस्पृहता समासदत्, यत सा अतिशयसंयमकामुकापि मे कान्ता दण्डधरकराधोना[१] शान्ता समजनि, तद्वदहमपि चेद् भवेय तदाधीनस्तदा सुकृत-सेवायै सञ्जीकृता मे मनोरथा मनोमोदकतामेवाङ्गीकुर्यु, अतोऽत ऊर्ध्वं नाहं चिराय प्रत्यूहिष्ये सयमप्रतिपत्तिम्। 'श्रेयासि वहुविघ्नानि' इति मया प्रत्यक्षमेवाऽन्वभावि, 'शुभस्य शीघ्र' मिति साम्प्रत चिकीर्षामि।

अमुना प्रकारेण भिक्षो पूर्णनिस्पृहता निश्चिन्वाना कौटुम्बिका जोपमासिषेविरे[२]।

कस्यातिशय-गुणवतो गुरोरन्तिके व्रताङ्गीकृति करणीयेति चिन्तया तदानीन्तनाना विभिन्नजैनाचार्याणा सामीप्यं सेवमानस्तच्चारित्र्यलक्षणानि सूक्ष्मेक्षिकया परीक्षमाण स सयमाय कृतत्वरस्तस्थौ। कुलपरम्पराऽऽगताना गच्छवासिना, तत पौतिकवन्धानामन्तिके गमनागमन विदधे, सर्वेषु तेष्वलब्धपूर्ण-सन्तोषोऽन्ते स्थानकवासिनामन्तशाखासु विशिष्टैकशाखाधिभुवः श्रीरघुनाथजिदित्याख्यया समाहृतस्याचार्यस्य चारित्र्यपावित्र्य प्रतियन् तदन्तेवासितां[३] प्रतिश्रोतुमुत्सेहे[४] स।

"तत्सविधमधीयान सविधि तत्त्वचर्चामारचयन् भिक्षु रात्रिदिवमेकता निनाय। अस्य मेधाविनोऽलौकिकग्रहणशक्तिमर्थाभिव्यक्ति चाकलय्य साचार्या सर्वेऽपि मुनय आश्चर्यचकिता समभवन्।

एकदा स्वयमाचार्यैरेनमभिमुखीकुर्वन् सप्रश्रयमेकान्ते न्यगादि—

१. यमकराधीना। २ मौनम्। ३ शिष्यत्वम्। ४ स्वीकर्त्तुम्।

परभव-गामिनी वन गई। अव दूसरी स्त्री के साथ मै विवाह की इच्छा कर ही कैसे सकता हूँ ? अव तो मेरा मन विल्कुल निष्काम वनता जा रहा है क्योकि संयम लेने की अत्यन्त इच्छुक होती हुई भी मेरी धर्म-पत्नी काल-कवलित हकर शान्त वन चुकी है। उसी प्रकार यदि मैं भी परभवगामी वन गया तो सुकृत-साधना मे तत्पर मेरे मनोरथ निरे मन के लड्डू ही रह जाऐंगे। अत अव से आगे मै सयम-स्वीकृति मे कोई लम्वा विघ्न नही आने दूंगा। 'श्रेय मे वहुत विघ्न होते हे'। यह मैंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है 'शुभस्य शीघ्र' इस उक्ति के अनुसार अव मैं विलम्व करना नही चाहूगा।"

इस प्रकार भिक्षु की पूर्ण नि स्पृहता को लक्षित करते हुए कौटुम्विक जन मौन हो गए।

किस अत्यधिक गुण वाले गुरु के पास दीक्षित होना चाहिए, इस चिन्तन से उस काल के विभिन्न जैन-आचार्यो के नैकट्य मे रहकर उनके चारित्र-लक्षणो की सूक्ष्म-वुद्धि,से कसौटी करते हुए सयम ग्रहण की शीघ्रता करने लगे। कुल परम्परागत गच्छवासियो से, उसके वाद पोतियावन्ध साधुओ से सम्पर्क किया, पर उन सवसे उन्हे पूर्ण सन्तोप नही हुआ। अन्त मे स्थानक-वासियो की अवान्तर शाखाओ मे विशिष्ट एक शाखा के अधिपति श्री 'रघुनाथजी' नामक आचार्य के चारित्र की पवित्रता का विश्वास करते हुए उनके पास दीक्षा स्वीकार करने का निर्णय किया। उनके समीप अध्ययन करते हुए और सविधि तत्त्व-चर्चा करते हुए भिक्षु ने रात दिन एक कर दिया। इस मेधावी की अलौकिक ग्रहण-शक्ति और अर्थ अभिव्यक्ति को देखकर आचार्य सहित सव मुनि आश्चर्य चकित रह गये।

एक वार स्वयं आचार्य ने इन्हे अभिमुख करते हुए प्रेरणा-पूर्वक एकान्त मे

---

५. समीपम्।

गृहाऽऽगताना पान्थानामिवाऽस्मदीयः प्रेमा कियान् चिरस्थायी, क प्रेत्यानुयायी परम-प्रेम-पटिष्ठोऽपि ! अहो ! सम्मीलितेऽक्षियुगले नास्ति कोऽपि कस्यापि। अतस्त्वया पूर्णधैर्यवत्या भाव्यं, श्रव्य पद्मावत्यादिविहितमालोचनम् । यदि जीविष्यावस्तर्हि युगपदेव संयममाधास्याव समीचीनतया ।

शुचिशीले ! अयमेव परीक्षाकालो धार्मिकाणा यदवसानेपि सानुमतामिव[1] येपा नैजने[2] चित्तस्थिति । कि तया संपूर्ण-समुद्रयात्रया सायान्त्रिकस्य[3] यस्तीर्णदेशीय-पारावारस्तीरमागच्छन् निमज्जति ? कि तेन पूर्णश्रमसाध्येनाध्ययनेन यत् परीक्षाकक्षे विस्मृतिमापनीपद्यते ! अतो मा खिद्यस्व, नमस्कार—महामन्त्रं स्मारं स्मार सफलय स्वकीय कृच्छ्रमय समयम् । इत्थ भिक्षुणा परिवर्धित-साहसा सा धर्मतत्परा समजनि । परन्तु तच्छरीरं विशीर्यमाणभावभाविर्भावयदन्ते शवसज्ञामाजगाम ।

भिक्षोर्हृदयं नेषदपि कातर्यमादिद्रिये, खलु यत्र कस्यापि वलम् किमपि कर्तुं नालम्, तत्र परिदेवनेनानुशोचनेन किम् ? सर्वेऽपि कुटुम्बिनः सखाय नागरिका पुरुषा स्त्रियश्च सम्मिलिता: विरहव्यथा बृंहयन्ती कार्तय-गाथा सपरिदेवनमाम्रेडयामासुः। सर्वमौर्ध्वदेहिक कृत्य समाप्नुवन्त पुनराशु प्रेरयामासुरौद्वाहिकी स्थितिमासादयितुम्, किन्तु भिक्षुणा स्पष्टमेव न्यपेधि, न्यवेदि च स्वनिर्णय समेपामग्रत —"विदाकुर्वन्तु सर्वेऽपि लघीयासो गरीया-सश्च मदीय निश्चित मतम्, यद् भवन्तोऽनुरुधन्तितमा मामुपयन्तुम्[4], परन्तु मया सत्या पाणिगृहीत्या[5] महन्तं साक्षीकृत्य यावज्जीवं ब्रह्मचर्य प्रतिपन्नम्, आसंयमप्राप्तेरेकान्तरिता तपश्चर्यापि । भावियोगतोऽत्यन्तपवित्र मे कलत्रं[6] यदौदारिक क्षेत्र[7]

---

१. गिरीणामिव । २ न कम्पत. । ३. पोतवणिज. । ४. परिणे-

तरह हमारा प्रेम भी कितना चिरस्थायी है ? अहो ! नयन-युगल के मूँदने पर कोई किसी का नहीं है। इसलिए तुझे पूर्ण धैर्यवान होना चाहिये और पद्मावती आदि की आराधना सुननी चाहिए। अगर जीवित रही तो एक साथ सयम धारण करेंगे।

शुचिशीले ! यही धार्मिकों का परीक्षा-काल है कि मृत्यु के समय में भी पर्वतों की तरह जिनकी चित्त-स्थिति कम्पित नहीं होती। समुद्र यात्री की उस सम्पूर्ण समुद्र-यात्रा का क्या महत्त्व, जो तट के निकट पहुंचकर डूब जाए ? उस पूर्ण श्रम-साध्य अध्ययन का क्या गौरव, जो परीक्षा-कक्ष मे विस्मृत हो जाए ? इसलिए खिन्न मत बनो ? नमस्कार महामंत्र का जाप करते हुए अपने कष्टमय समय को सफल बनाओ। इस प्रकार भिक्षु के साहस बढाने पर वह धर्म मे उद्यत हो गई, परन्तु उसका शरीर क्षीण होता हुआ अन्त मे काल-कवलित हो गया।

भिक्षु ने अपने हृदय मे किंचित् भी कायरता नही आने दी। जहाँ किसी का बल नही चलता वहाँ रोने-धोने एव चिन्ता करने मे क्या लाभ ? सारे कुटुम्बी, मित्र, नगर के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हुए और विरहज्वाला को बढाने वाली कातरता की बाते दोहराते हुए रोने लगे। दाह के बाद और्ध्वदैहिक क्रियाओ को सम्पन्न कर पुन: शीघ्र विवाह के लिए भिक्षु को प्रेरित करने लगे, किन्तु अपना निषेधात्मक निर्णय देते हुए भिक्षु ने कहा—"आप सभी छोटे बडे मुझे फिर से विवाह के लिए जोर दे रहे है, किन्तु मेरी धारणा क्या है ? उस पर भी जरा गौर कीजिए। चू कि स्वपत्नी की विद्यमानता मे ही मैंने अरिहत भगवान की साक्षी से जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य अगीकार कर लिया था। साथ ही जब तक सयम न आए तब तक के लिए एकान्तर तप भी। अत्यन्त पवित्र हृदय वाली मेरी पत्नी विधिवश इस औदारिक शरीर को छोडकर

तुम्। ५ भार्यायाम्। ६ नारी। ७ क्षेत्रम्-गात्रम्। 'क्षेत्र-गात्र तनुभूवनास्तनू' इति हैम।

"भो भिक्षो ? आकर्णि मया यत् तव हृदये संयमाङ्गीकरणार्ह वैराग्य वेविद्यते । परीक्षित मयापि पूर्णरूपेण यस्त्व तदाऽऽदानाय क्षमोऽसि । चेदस्ति ते सुदृढा भावना तर्हि विलम्बेनाऽलम् । काल नहि यापयन्ति सुधियोऽवसरं प्रतीक्षमाणा । यानि यान्यहानि व्यतीतानि तानि तु गतान्येव । वहुप्रतीक्षापि कृतलक्षणाना न ह्यस्ति लक्षणम् । मन्दानामानन्दो न कथ मन्दायते येपा सर्वतो मान्द्यमलिनमेव वातावरणम्, अतो वृथा मा समयाकृथा सर्वविरतिमादातुम् ।"

गुरो पावना प्रेरणा प्राप्य दाक्षिण्येन भिक्षुणाऽभाणि—"भगवन्! सत्यमह सयमाय कृतनिश्चयः । नाहं सासहि समय-निर्गमनम् । सर्वमूपकोऽय[1] न जाने कदाऽऽगत्य प्राणान् मुष्णाति, पुष्णाति चावितर्किता प्रत्यूहपरम्पराम्, परन्त्वेकं किमपि मत्सा धुता-स्वीकृतिमन्तरेति[2] तत्कृते श्रीमन्तो यदि किमपि कष्टमाद-धीरन् तदा स्यात् कश्चिदुपायो निरपायः ।"

कि किमिति रणरणकेन गुरुणा तद् रहस्यमवगन्तु प्रायाति—"वत्स! स्पष्ट व्यनङ्धि[3] सयममन्दिरान्त प्रवेशावरोधिनी शिलामिव ता वार्त्ताम् । अवश्यं प्रयतिष्यतेऽस्माभि· तानि तान्यौपयिकानि प्रयुञ्जानैर्विघ्नवल्लीमुच्छेत्तुम् । किमस्ति तज्जगति यन्न प्रयत्नै प्रत्नगति[4] परिवृत्य न नूत्न पन्थानमनुसन्दधाति ।"

स्वव्यतिकर व्यञ्जयता दीपाङ्गजेन सविनयं जगदे—"मय्य-त्यन्तस्नेहमासेवमाना मदीया प्रसू[5] सद्य सञ्जात-स्नुपावियोगतो दूनान्त करणाऽनीवाऽतीव खिद्यते, भिद्यते च तस्या हृदय मद्दीक्षाग्रहणश्रवणमात्रतोऽपि । असकृदह तदाज्ञामादातु भूरि

१. काल । २ अन्तराय करोति । ३ स्पष्टव्यञ्जना कुरु ।

कहा—"ओ भिक्षु ! मैंने सुना है कि तुम्हारे हृदय मे सयम लेने की भावना है। मैंने भी पूर्ण रूप मे परीक्षा की है कि तुम संयम ग्रहण के योग्य हो। अगर तुम्हारी सुदृढ भावना है तो विलम्ब करने का क्या मतलब ? विद्वान् लोग अवसर की प्रतीक्षा करते हुए समय यापन नही करते। जो दिन बीत गये है, वे तो चले ही गये है। अतिशय प्रतीक्षा करना भी निपुण व्यक्तियो का लक्षण नही है। मूर्ख मनुष्यो का आनन्द कैसे क्षीण न हो जिनके चारो ओर आलस्य का ही मलिन वातावरण बना रहता है। इसलिए दीक्षा-स्वीकृति के लिए समय को व्यर्थ मत गंवाओ।"

गुरु की पावन प्रेरणा पाकर विनम्रता से भिक्षु ने कहा—"भगवन् ! सत्य है, मैं सयम लेने के लिये कृत-निश्चय हूँ। मैं बिलकुल ही समय-यापन करना नही चाहता। पता नही कब यह सर्वभक्षी काल आकर प्राणो को चट कर जाए और कितनी ही अकल्पित विघ्न बाधाओ को उपस्थित कर दे, परन्तु एक चीज मेरी साधुता की स्वीकृति मे विघ्न डाल रही है। उसके लिए आप श्रीमान् कुछ कष्ट करे तो सम्भवत कोई अच्छा रास्ता मिल सकता है।

क्या कहा ! क्या कहा ! यो अति उत्सुकता से गुरु ने इस रहस्य को जानने का प्रयत्न किया—"वत्स ! सयम मन्दिर के अन्त प्रवेश मे रुकावट डालने वाली शिला के समान उस बात को स्पष्ट कहो। मैं उचित उपायो को प्रयुक्त कर अवश्य ही विघ्नलता का छेदन करने का प्रयास करूँगा। ससार मे वह क्या है जो प्रयत्नो से पुरातन को परिवर्तित कर नये पथ का निर्माण न करे।"

अपना वृत्तान्त सुनाते हुए भिक्षु ने सविनय कहा—'मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह रखने वाली मेरी मा निकट मे ही पुत्र-वधू का वियोग होने के कारण खिन्नमना बहुत दुख करती है और मेरी दीक्षा ग्रहण की बात सुनने मात्र से ही उसके हृदय के टुकडे-टुकडे हो जाते है। मैंने उसको बहुत बार समझाकर

---

४ प्राचीनताम्। ५ माता।

बोधदान-पुरस्सर प्रयते, तथापि न नयते सा मदीयं वच श्रुतिपुटमपि। यतः पूर्वमेव मे पितृपादा पञ्चत्वमाप्ता। साम्प्रत स्नुपयापि नामशेपता न्यदर्शि। ततो जर्जरितमानसा सा मामेव जीवनसर्वस्वम्, अक्ष्णोर्ज्योति, कालेयखण्ड[1] च मन्यमाना भृश प्रीत्या पोपयति, गोपयति च कथ कथमपि स्वकीयं दुःखोदधिम्। पिवति फूत्कृत्य तक्रमपि यथाऽत्युष्ण-दुग्ध-दग्धो मुग्ध-शिशुस्तथैपापि नार्हति मत्पार्थवयनामापि श्रोतुम्। इयमेव गभीरा परिस्थिति प्रसह्य मामवरुणद्धि संयमाङ्गीकारार्थम्। यद्यपि ससारिकी प्रीति सिकताभित्तिमनुहरतीति निःशङ्कं वेद्मि, तथापि व्यवहार· प्रेक्षावता कथमप्युपेक्षणीयो न भवति, एतर्हि देव-गुरु-धर्म-स्थानीया सवित्री कथमिव तिरस्कृत्य महाव्रतान्याराधयामीति चिन्त्यम्।"

दैपेयदर्शिता[2] बाधां समाधातुमना रघुपति· क्षण विमृश्यैवं व्याजहार—"भद्र! तत्र प्रत्यूहव्यूहमहं समुच्छेत्तुमलं यदि त्व विजने जनन्या सह मत्सेवार्थमागच्छे। अमूढा तवाम्बा मया सम्बोधिता सती सुखमगूढा रूढि विहास्यतीति मे प्रत्यय।"

तथा करिष्यामीति जल्पता दीपाङ्गजेन सद्य· स्वसदनदेहली समलङ्कृता। वात्सल्यमूर्त्तया मात्रा विकस्वरतरमङ्गजमुखाब्जं विलोक्य माधुर्यकिरा गिरा प्रोचे—"नन्दन! कुत आगतोऽसि? कथमिव ते मुखाकृतिरपरा काञ्चन समुल्लासरेखा विभर्त्ति? ममान्तिक त्वायान्ति भूरिशो विभूतिभाजो[3] जनास्तव पुन पाणिग्रहणार्थम्। वलादनुरुधन्ति मा तुभ्यं रूपगुणशोभिता स्वस्वकन्या दातुम्।

पुत्र! मनित मया यन्नास्ति ते मन पुनरुपयमाय,[4] तथापि

---

१ कलेजे का टुकडा, इतिभापा। २ दीपाया अपत्यम्—दैपेयः

उसकी आज्ञा पाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह मेरी बात पर कान भी नही देती, क्योंकि मेरे पिताजी तो पहले काल-धर्म को प्राप्त हो गये थे। अब वह भी उसकी आँखो के आगे से चली गई। इस कारण जर्जरित मन वाली वह मुझे ही जीवन सर्वस्व, आखो की ज्योति और कलेजे का टुकडा मानती हुई बहुत स्नेह से पालती है और जैसे-तैसे अपने दुख के सागर को लाघती है। जैसे बहुत गर्म दूध से जला हुआ भोला बच्चा छाछ को भी फूँक फूँक कर पीता है उसी प्रकार यह भी मेरे अलग होने की बात भी नही सुन सकती। वही गम्भीर परिस्थिति बलपूर्वक मुझे सयम लेने से रोकती है। यद्यपि ससार की प्रीति बालू की भीत के समान होती है, मैं इसे नि सन्देह जानता हूँ, फिर भी समझदारो के लिए व्यवहार किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नही होता। इसलिए देव, गुरु और धर्म के समान श्रद्धेय मा का असम्मान करके कैसे महाव्रतो को धारण कर सकता हूँ, यही चिन्तनीय है।"

भिक्षु के द्वारा उपस्थित की हुई शका का समाधान देते हुए रघुनाथजी ने एक क्षण सोचकर इस प्रकार कहा—"भद्र! तुम्हारे विघ्नजाल को मैं काट सकता हूँ, तुम यदि एकान्त मे अपनी मा के साथ मेरी सेवा के लिये आओ। निपुण तुम्हारी मा मेरे समझाने पर सरलता से इस तुच्छ आग्रह का परित्याग कर देगी, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।"

ऐसा ही करूँगा, यो कहते हुए भिक्षु अपने स्थान को चला गया। वात्सल्य-मूर्ति मा ने बेटे का विकस्वर मुख-कमल देखकर माधुर्य झरती हुई वाणी से कहा—"बेटा कहाँ से आया है? कैसे तेरी मुखाकृति पर स्वर्ण के समान सुनहली रेखाये खिचती है। मेरे पास तो तुम्हारा दूसरी बार विवाह करने के लिए बहुत धनवान लोग आते है। तेरे साथ रूपवती और गुण से सुशोभित अपनी अपनी कन्याओ का विवाह करने के लिए वे मुझ से बहुत हठ पूर्वक अनुरोध करते है।

पुत्र! मै मानती हूँ तुम्हारा मन पुन विवाह के लिए तैयार नही है। फिर भी

तद्दर्शिताम् भिक्षु—दर्शितामित्यर्थः। ३. श्रीमन्त। ४ पुनर्विवाहाय।

गार्हस्थ्य स्वस्थीकर्त्तुमस्ति कलत्रस्यावश्यकता। असमृद्धा अपि-विषयगृद्धा वृद्धा अप्युत्ताम्यन्ति नवोढामुद्वोढुम्। त्वन्तु युवाऽसि त्वदर्थमभिमुखीनानि सन्ति कियन्ति निमन्त्रणानि। विभावय तव ज्यायान् वान्धवस्तु सगृहो[1]ऽन्यगृहमध्युवास, पुत्रीव परमप्रिया विनयवती ते वधूरपि सच्छिद्रं मे हृदयं निर्मायाऽसामयिकी दीर्घनिद्रा[2]मासेवितवती। त्वमपि चेन्नोरीकरोषि परिणय-प्रस्ताव तदा को मे शिथिलपाणिपादाया वर्षीयस्या[3] वरिवस्या विधास्यति[4]। स्नेह-सुधासिक्त! कलत्ररिक्त भूरिपरिजन-सकुलमपि कुलं सत्रमिवाऽऽभाति[5] सवेदयितॄणाम्। 'धिग् गृहं गृहिणी-शून्यम्' इति किवदन्ती किं न ते कर्णातिथिर्जाता? अयमेवेदृक् सम्बन्धो यत्र सहृदयतया द्वाभ्यामेकीभूयते, सुख-दुःख-सपृक्ते भविष्यति सहिष्णुतया सर्वमपि च विभज्योपभुज्यते, युज्यतेऽत्र कुशलकलना ललना गृहमेधिना गृहे।"

कृतनीतिनिर्वाहं मातुः शिक्षणमाकर्ण्य भिक्षुः पुनस्ता विनत-कन्धरं व्यजिज्ञपत्—"अम्ब! रचितायति-हित-प्रथनं तव कथनं नहि नीतिमतिक्रामति। न गृहं गृहम्, गृहिण्येव गृहमिति नाऽविदितं मम, किन्त्वहं गार्हस्थ्यमपि नाभिलषामि, तदा कथं नु वसामि कारानुकारान्[6] दारान् संगृह्य।

मात! तव चक्षुषोरग्रतस्ते विनयशीला स्नुषा सर्वान् स्नेह-शृङ्खलान् त्रोटयित्वाऽनालोचिता चिताशायिनी सवृत्ता। नाऽकल्पि किमु त्वया यदहं वार्धकेऽनन्यया भक्त्या जन्याऽऽ[7]सेव्यमाना स्वर्गगा भविष्यामीति, किन्तु पूर्वमेव ते जनी त्वां जननी विगृह्य स्वजनिमजनिं[8] निनाय। तद्वद् ममापि समयश्चेत्सन्नि-

---

१ सभार्यं। २ मृत्युम्। ३ वृद्धायाः। ४ सेवा। ५. अरण्यम्।

ग्राहस्थ्य जीवन के स्वस्थ रखने के लिये स्त्री की आवश्यकता होती है। गरीव और वृद्ध भी विषय-गृद्ध वनकर नवयौवना के साथ विवाह करने को लालायित रहते है, तू तो तरुण है, तेरे सामने कितने निमन्त्रण है। देख तेरे वडे भाई तो अपनी पत्नी के साथ अलग गृह मे रहने लगे। पुत्री के समान परमप्रिय विनयवती तुम्हारी पत्नी भी मेरे हृदय को सछिद्र वनाकर असमय मे ही गुजर गई। अव तू अगर शादी के प्रस्ताव को स्वीकार नही करेगा तो शिथिल हाथो और पैरो वाली मुझ बूढी की सेवा चाकरी कौन करेगा?

स्नेहसुधा से सिक्त पुत्र! वहुत मे परिजनो से सकुल घर भी सवेदनशील मनुष्यो को कामिनी के विना जगल के तुल्य लगता है। 'पत्नी से शून्य घर को धिक्कार है' क्या यह जनश्रुति तूने नही सुनी? यही एक ऐसा सम्वन्ध है, जहाँ सहृदयता से दोनो एक होते है। सुख-दुख से सपृक्त भविष्य सहिष्णुता से वॉटकर भोगा जाता है, अत जो सव कार्यों मे कुशल हो, ऐसी नारी का होना गृहस्थ के लिए आवश्यक है।

नीति-निपुण मा की शिक्षा सुनकर नतमस्तक हो भिक्षु ने निवेदन किया—मॉ! तुम्हारी नीति-युक्त सीख मे भविष्य का हित निहित है। "घर—'घर' नही है, गृहिणी ही 'घर' है" यह मेरे से अजाना नही है, किन्तु मै तो गार्हस्थ्य भी नही चाहता तव कारागृह समान दारा (स्त्री) को लेकर कैसे घर वसाऊँ?

मा! तुम्हारी आँखो के सामने तुम्हारी पुत्रवधू सव स्नेह-शृँखलाओ को तोडकर अकस्मात् ही चिता-शायिनी हो गई। क्या तुमने यह कल्पना नही की थी कि वुढापे में अनन्य भक्ति से वहू के द्वारा सेवा कराती हुई मै स्वर्गगामी वनूँगी, किन्तु तुम्हारी इच्छापूर्ति से पहले ही तुम्हारी वहू तुम्हे विरह-विकल वनाकर परभव मे चली गई। उसी तरह मेरा भी समय एकदम निकट हो

---

६. कारातुल्यान्। ७ जनी-स्नुषा तया। ८. स्वजनि-स्वजन्म।

हित स्यात् तदा तकोऽवरोद्धुमलम् ! अतो न पुनरह प्रणयिनी-प्रीतिपङ्के पिपत्सुरस्मि[1]।

सवित्रि ! स्पष्टमह तवाग्रतोऽद्य प्रकटयामि यदहं मङक्षु भिक्षुभावमाराधयितु स्वहित च साधयितुमुत्कण्ठयामि ।

वीरसू[2] ! सन्ति नाम वसुमत्या गयितान् सुतान् निष्का-सयन्त्य परोलक्षा मातर, किन्तु ऊर्ध्वंदमान् वैराग्यभाजोऽङ्ग-जान् 'साधयत, साधयत' इत्याशीर्वादं साह्लादं ददत्य कियत्य सन्ति वीरमातर ?

जनयित्रि ! न नाम नाम प्रसूतिभिश्चलतीति चिन्तनीयम् । सद्गुण-गण-मण्डिताना परोपकार-पण्डिताना जगदतिशयित-कार्यणामार्याणामेव चाचल्यते नाम, नापरेपाम् , अतो मा स्वरूप-प्राप्तये वहिर्यान्तं शान्तं सुखं वर्धापय, 'सपदि साधुपद साधयेति' मङ्गलवाचा प्रेरय ।

धर्मशीले ! अद्याऽस्मभ्य नूनमस्मदाचार्यचरणैरपि विजनसेवायै स्वतन्त्र समय प्रादायि, अतोऽधुनैव वयं तत्र गच्छाम, सानन्दं तद्वाङ्मयममृत च पिवाम "।

हर्ष-विस्मय-करम्बिता माता—'एवम् ! तर्हि नातिवाहनीयो-ऽनेहा' एव भणन्ती सा सत्वरं चलितुं प्रवृत्ता । धेन्वनुपद वत्स इव मात्रा सह भिक्षुस्ततोऽनाकुलं चचाल । नगरमध्यस्थमनेकलघु–गुरु-साधुसमुदाय-सुशोभितमुपाश्रय चावाप । एकस्मिन् विशाले स्थायिकालये विशिष्ट-काष्ट-निर्मिते प्रोन्नतचतुष्पदपट्टके भूरि-

---

१ पतितुमिच्छु । २ वीरमात ।

तो उसे कौन रोक सकता है ? इसलिए मैं पुन. विवाह के कीचड मे फँसना नही चाहता।

मा ! आज मैं तुम्हारे आगे स्पष्ट प्रकट कर देता हूँ कि मै वहुत शीघ्र साधुत्व लेकर अपनी हित-साधना के लिये उत्कण्ठित हूँ।

वीर जननी ! पृथ्वी पर सोए हुए पुत्रो को अर्थात् मृत पुत्रो को घर से निकालने वाली लाखो माताएं हैं, किन्तु वैराग्य से ओत-प्रोत खडे अर्थात् जीवित पुत्रो को 'साधना करो, साधना करो' ऐसा आशीर्वाद देने वाली कितनी माताए है ?

मा ! तुम इस वात की चिन्ता मत करना कि सन्तान से ही नाम चलता है। जो सद्गुण समूह से मण्डित और परोपकार मे पण्डित होते है, संसार मे कुछ विशिष्ट कार्य करते है उन आर्यो का ही नाम चलता है, दूसरो का नही। अतः मुझे स्वरूप-प्राप्ति के लिए वाहर जाते हुए को सहर्ष वढावा दे।

धर्ममयि ! आज हमारे आचार्य प्रवर ने हमे एकान्त सेवा के लिये स्वतन्त्र समय दिया है। इसलिए अभी हम वहाँ चले और आनन्द-पूर्वक उनका वचनामृत पीएं।"

हर्ष और विस्मय की मिश्रित अनुभूति करती हुई मा वोली—"ऐसा है तो हमे समय-यापन नही करना चाहिए, जल्दी चले !" गौ के पीछे वछडे की तरह भिक्षु मा के साथ अनाकुलता से चलने लगे। नगर के मध्यस्थ, अनेक

प्रतरीकृताऽऽविकोपरि[1] समुज्ज्वलवास - परिवेष्टित - विष्टरे मुखमुपविष्टा गुरवो दृष्टिपथमवतीर्णा । तत्काल द्वावप्युदञ्जली सविधिवन्दना वितेनाते, सविनय सम्मुखमासाञ्चक्राते च ।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये महाकाव्ये
गद्यप्रबन्धे पञ्चमः समुच्छ्वास.

---

१ बहुत से परत किये हुए ऊनी कम्बल के ऊपर, इतिभाषा ।

छोटे-बडे साधुओ से सुशोभित उपाश्रय मे पहुंचे। वहाँ एक विशाल कमरे मे विशिष्ट काष्ठ से निर्मित पट्टक पर बहुत से तह किये हुए ऊनी आसन पर समुज्ज्वल वस्त्रो वाले शान्त स्वभाव से बैठे हुए गुरु-दृष्टि मे आये। तत्काल दोनो ने बद्धाजलि होकर सविधि वन्दना की और विनय-पूर्वक सम्मुख बैठ गए।

पाँचवां समुच्छ्वास समाप्त



षष्ठः समुच्छ्वासः ★

ततस्तत किमभूदिति बाढमौत्सुक्यमावहत्सु श्रोतृषु स वाग्मी तमेव वृत्तान्त विवर्धयाञ्चक्रे यथाजातम्—

किमप्यद्भुतमनर्घ्यं वस्तु प्राप्तुकामा इवौत्सुक्यभाजो रघुवरा सस्मित दीपामभिमुखीकुर्वाणा जगदु—"भिक्षोर्मात ! किमुपेक्षसे दक्षपुत्रस्य लक्ष्यसाधनी वृत्तिम् । अनित्येऽस्मिन् संसारे किमस्त्यत पर सुन्दरतम कार्यम् ? सवत्स्यसि त्वमप्यङ्गुली-गृहीत-नामधेया रत्नकुक्षिधारणी माता। भूरिश सन्तीहान्नपान-वस्त्र-स्थानादि-दातार, विरलतमा एव किन्तु विलसन्ति कुलदीपकदानदायिन[१]। न जानासि किमुत्कृष्टभावनयाऽत्र तीर्थकृन्नामगोत्रस्यापि बन्ध । किमत पर पुण्य शक्य मनुष्येण सचेतुम् ? अत सत्वर-मेनमाज्ञापय पुत्र भागवती-दीक्षायै, सचिनु पुन परमा पुण्यप्रकृति त्वमपि पुण्याशये ?"

उत्कृष्टोत्साहवर्धनीमाचार्यवर्याणा वाणीमाकर्ण्य सविनयं दीपा प्रत्यूचे—"स्वामिन् ! [२]चतुरस्रमिदं भावत्क कथनम्। सम्यग् जानेऽहमपि सासारिक स्वरूपम्, परन्त्वस्त्यत्र किमपि गूढ रहस्य-मनाज्ञादानस्य। कि गोप्य महात्मनामग्रेऽथवा प्रादुष्करोमि यथा-वस्थिता स्थितिम्।

---

१ पुत्रदानदायिन । २ यथार्थमिदम्।

★ छठवां समुच्छ्वास

उसके वाद फिर क्या हुआ—यों अतिशय उत्सुकता वाले श्रोताओ से उस वाक्पटु व्यक्ति ने उसी वृत्तान्त को आगे वढाते हुए कहा—

कोई अद्भुत अमूल्य वस्तु पाने की-सी उत्कण्ठा धारण करते हुए आचार्य रघुनाथजी प्रसन्न चेहरे से मुस्कान-पूर्वक दीपा को अभिमुख करके वोले—"भिक्षु की मा ! अपने दक्ष पुत्र की लक्ष्योन्मुखी वृत्ति की क्यो उपेक्षा करती हो ? अनित्य इस ससार मे इससे सुन्दरतम कार्य और क्या है ? तुम भी अगुलियो पर नाम गिनने योग्य रत्नकुक्षि मा वन जाओगी। यहाँ अन्न, पान, वस्त्र और स्थान आदि तो देने वाले वहुत है, किन्तु अपने कुल दीपक के दाता तो विरले ही होते है। क्या तुम नही जानती कि उत्कृष्ट भावना से यहाँ तीर्थङ्कर नाम गोत्र तक का वन्ध होता है, इससे उत्कृष्ट पुण्य मनुष्य क्या सचित कर सकता है ? इसलिए जल्दी ही भागवती दीक्षा के लिए अनुज्ञा दो और पुण्याशया ! तुम भी परम पुण्य प्रकृति का सचय करो।"

आचार्यवर की प्रचुर उत्साह वर्धक वाणी सुनकर सविनय दीपा ने निवेदन किया—"स्वामिन् ! आपका यह कथन वहुत उचित है। मैं भी अच्छी तरह ससार का स्वरूप जानती हूँ। परन्तु यहा आज्ञा न देने के पीछे कोई गूढ रहस्य है, पर महात्माओ के आगे क्या गोप्य है ? इसलिए यथावस्थित स्थिति प्रकट करती हूँ।

भगवन्! यदासीन्महात्मना मानसमिव निर्मलमाकाशम्, ज्ञानिना वृत्तय इव सुस्नाता वभु ककुभ । अनुष्णशीता वाता अनुभविनामुपदेशा इव निर्विकारं ववु, ऋतम्भरा प्रज्ञा इवाऽमलजलभृता कासाराणा[1] श्रेणि । सहजसौरभपवित्राणि साधूना चारित्राणीव सहस्रश शुशुभिरे सरस्सु सहस्रपत्राणि[2], चञ्चरीकैश्चोचुम्ब्यमानरसापि सरसा जगद्वैचित्री हसन्तीव राजीवेषु[3] विरेजे सुमनसा राजि । अपूर्व किमपि प्रजाभ्य प्राभृतीकर्त्तु मनस इव स्वनाशमप्यनाशङ्कमाना शुक्तय स्वातिवारि विप्रुष पातुमुत्साहमादधिरे, विनिर्गत-जीवनोन्मादा मर्यादा वहुमन्यमाना इव शान्ता मध्येतट वहमाना सरितोऽत्यन्त मदीपिपत, प्रावृषि प्रोषिता मानसमासेवमाना अपि स्वजन्मभूमिस्नेहादाकृष्टमाणा इव स्वस्वसरोवराणि पुनराजग्मु कलहंसा, सिद्धा इव ऋजुगतयोऽभवन् सर्वत्र शुष्क-पङ्का पन्थान, काममप्रणीन्त श्रान्त-पाथाना नेत्राणि सर्वत शस्यश्यामलक्षेत्राणि, रात्रि-दिवस-शीतोष्णादिषु समता नयन् साम्यप्रेमीव शारदर्त्तु सर्वैरपि हृदा समभावि ।

तस्मिन् समये एकस्या क्षपाया[4] निवृत्तसमस्तगृहकार्या सुविहित-सामायिकाद्यनुष्ठाना शयनालय प्रविष्टवती । अनभ्राकाशे सकलमपि पदार्थजात सुधया सिञ्चन्ती परमचारुचन्द्रिका मम मनो मोदयाञ्चक्रे । आतृप्ति तदमृतं पिवन्ती नमस्कारमहामन्त्र स्मरन्ती स्वाप-समोहिता[5] जज्ञे । त्रियामाया[6] पश्चिमे यामे विशिष्टमेकं स्वप्नमहं प्रेक्षितवती, यथा-हरिण-शश-शूकरादिश्वापदान् दर्शनमात्रत सत्रासयन्, क्ष्वेडाध्वनिना मदकलान् मतङ्गजान् निर्मदीकुर्वन्, पुच्छगुच्छकमुष्णीषमिव शिरसि धारयन्, कुन्त-

१ सरोवराणाम् । २ कमलानि । ३. कमलेषु । ४ निशायाम् ।

भगवन् ! जब महात्माओं के मानस के समान निर्मल आकाश था, ज्ञानियों की वृत्तियों की तरह स्वच्छ दिशाएँ थी, अनुभवियों के उपदेश के तुल्य न अधिक उष्ण न शीतल निर्विकार वायु चल रही थी, सत्य से परिपूर्ण प्रज्ञा के समान सरोवरों की श्रेणी स्वच्छ सलिल से भरी हुई थी, साधुओं के सहज सौरभ से पवित्र चरित्र के समान जलाशयों मे कमल सुशोभित हो रहे थे, भ्रमरों के द्वारा रस का पान करने पर भी संसार की विचित्रता का उपहास करती हुई-सी कमलों पर सुमनों को सरस श्रेणी विराजमान थी, प्रजा को कुछ अपूर्व भेंट करने का-सा मन वाली अपने विनाश से भी नहीं डरती हुई सीपियों ने स्वाँति-जल पीने का उत्साह धारण कर लिया था। जीवन (जल) का उन्माद जाने पर मर्यादा को बहुमान देती हुई-सी अपने तटों के बीच शान्त बहती हुई नदियाँ अत्यन्त सुहावनी लग रही थी, वर्षा काल मे प्रवासी बन मानसरोवर मे आनन्द मनाते हुए हंस भी अपनी जन्म भूमि के स्नेह से खीचे हुए-से अपने अपने सरोवरों पर वापिस आगए थे, सिद्धों के सदृश ऋजु गति वाले [सीधे] मार्ग, कीचड सूखने पर सर्वत्र बन गए थे, शस्य-श्यामल क्षेत्र श्रान्त पथिकों के नेत्रों को अत्यन्त प्रीणित कर रहे थे, रात और दिन की शीतलता और उष्णता को सम करने वाले साम्य प्रेमी की तरह सबने शरद् ऋतु का हृदय से सम्मान किया।

उस समय एक रात्रि को मैं समस्त गृह-कार्यों से निवृत्त होकर, सामायिक आदि पवित्र धर्म-कार्य करके अपने शयनालय मे प्रविष्ट हुई। सकल पदार्थ को अमृत से सीचती हुई बादलों से रहित निर्मल आकाश की परम चारु-चन्द्रिका ने मेरे मन को प्रमुदित किया। तृप्त मन से उसका अमृत पीती हुई, नमस्कार महामन्त्र का जाप करती हुई, मै निद्रा-लीन हो गई। रात्रि के अन्तिम प्रहर मे मैंने एक विशिष्ट स्वप्न देखा कि "हिरण, खरगोश और सूअर आदि श्वापदों के दर्शन मात्र मे संत्रस्त करता हुआ, अपने सिंहनाद से मदोन्मत्त मतगजों को निर्मद करता हुआ, पूँछ के गुच्छे को सिर पर मुकुट

---

५. निद्रा-सम्मोहिता। ६. रात्रे.।

प्रान्त-प्रख्यै खरै नखरै[1]नखरायुधता विबोधयन्, वह्निरूपाभि केसराभिर्दुर्धर्ष्यमुखाकृत्या नितान्तनिर्भीकतामाविर्भावयन्, अनभिषिक्तोऽपि विक्रमार्जितकाननसाम्राज्य पारीन्द्रपुङ्गवो[2] ममाननमाविवेश।

तत्कालमुन्निद्रमभून्मदीयमक्षियुगलम्। विलक्षण-स्वप्नमालोक्य मोमुदित चान्त करणमजायत। प्रात कस्यचिद् विशेषज्ञस्य सकाशाज्जिज्ञासितं मया स्वप्नफलम्। प्राचीनं स्वप्नशास्त्रं स्मरता तेनोक्तम्—"पुत्रि! अतिशुभोऽयं स्वप्न। नून भावी ते पुत्रो मण्डलाधीश, प्रतिभाशाली वीराग्रणी च।"

पूज्यवर! यदह मण्डलाधीश-मातृपदमीहमाना कथमह स्वपुत्रं प्रव्राजयामि? कथं समनुजानामि चास्य संयमस्वीकृतिमिति विचार्यमीषदाचार्यचरणै?"

मनित-विशिष्ट-मनोरथाया मातुर्भावभङ्गिमानमङ्कयद्भि पुनर्गुरुभि प्रैरि—"आर्ये! अवगतो मया त्वयाऽधिकृतः शुभ स्वप्न, किन्तु स्वप्नफलं साम्येव[3] सूचितं तेनार्धपण्डितेन। शृणु, यदुक्तं व्याख्याप्रज्ञप्त्याम्, यथा—द्विसप्तप्ति शुभा स्वप्ना सम्मता शास्त्रज्ञै। तेष्वपि द्वाचत्वारिंशत्स्वप्ना वैशिष्ट्यमावहन्ति। तेषु परमोत्कृष्टाश्चतुर्दशस्वप्ना, तान् प्रेक्ष्य भवेयुरुद्बुद्धास्तीर्थेशितुश्चक्रिणश्चमातर। तद्वदष्टौ चतुरश्च स्वप्नान् प्रेक्षन्ते क्रमशो वासुदेव-बलदेवयोश्च जनन्य। चतुर्दशस्वेकं स्वप्नं पश्यन्त्या जनयित्र्या जातो जायते जगद्मान्यो मण्डलाधीशो, भावितात्माऽनगारो वा।

भगिनिदीपे! तवाङ्गजो भावितात्मा महर्षिर्भावीति प्रत्यक्षमस्य

१. नखै। २. सिंहश्रेष्ठ। ३. साम्यर्थे, इतिवचनात्।

की तरह धारण करता हुआ तीक्ष्ण भाले के अग्रभाग के समान तीखे नखो से अपनी नख-शस्त्रता का वोध देता हुआ, ज्वाला रूप केसरा के द्वारा दुर्धर्ष मुखाकृति से नितान्त निर्भीकता को जताता हुआ, विना अभिषेक किये ही अपने पराक्रम से जिसने कानन पर साम्राज्य स्थापित कर लिया है ऐसे श्रेष्ठ सिंह ने मेरे मुँह मे प्रवेश किया।

उसी क्षण मेरी आँखें खुली। विलक्षण स्वप्न देखकर मेरा मन अतिशय आह्लादित हो गया। प्रात काल मैंने एक विशेषज्ञ के पास स्वप्नफल की जिज्ञासा की। प्राचीन स्वप्न-शास्त्र के आधार पर उसने कहा—"पुत्रि ! यह सपना बहुत ही शुभ है। निश्चय ही तुम्हारा पुत्र प्रतिभाशाली, वीरो का अग्रणी, मण्डलाधीश (राजा) होगा।

पूज्यवर ! मैं मण्डलाधीश की मा का पद चाहती हूँ, उस पुत्र को प्रव्रज्या कैसे दू ? इसके सयम ग्रहण का मैं कैसे अनुमोदन करू, यह आचार्यवर को थोडा विचारना चाहिए।

विशिष्ट मनोरथ वाली मा की भाव-भंगिमा का अकन करते हुए गुरु ने पुन प्रेरणा की—"आर्ये ! तुम्हारा दृष्ट शुभ स्वप्न मैंने अच्छी तरह समझ लिया है, किन्तु उस अल्पज्ञ पण्डित ने स्वप्न का फल आधा ही वताया। जो व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) मे कहा है—सुन, शास्त्र-विशारदो ने वहत्तर शुभ स्वप्न माने है। उनमे भी बयालीस स्वप्न विशिष्ट होते है। उनमे परम उत्तम चौदह स्वप्न होते है। उन्हे देखकर तीर्थङ्कर और चक्रवर्तियो की माताएँ उद्बुद्ध होती है। वैसे ही वलदेव की और वासुदेव की माताए क्रमश आठ और चार स्वप्न देखती है। चतुर्दश स्वप्नो मे से एक-एक स्वप्न देखनेवाली माता का पुत्र जगद्मान्य मण्डलाधीश अथवा भावितात्मा अनगार होता है।

भगिनी दीपे ! तुम्हारा अगज भावित-आत्मा महर्षि होगा यह इसकी

भावनया लक्षणैश्चाभिव्यज्यतेतराम्। हर्यक्षस्वप्नेन[1] खल्विति मयानुमीयते यदय मुनिभावमापन्नो निर्भय हरिरिव धराया विहर्त्ता, पुनरस्य पुरस्तान्न स्थातु शक्ष्यन्ते शशक-गोमायु-कुरङ्गसमकक्षा व्रतिब्रुवाणा[2] व्राता, अतो निस्सकोचमेन सहर्षं सत्वरं चाज्ञपय, नूनमय तेऽमरनामधेयं विधातेति मे विश्वास।

इत्थ येन केन प्रकारेण प्रबोधिता भिक्षुमाता सुतस्नेहात् कम्पमानकालेयापि यथाकथमपि रघुराजवचनं कुसुमीचकार।

विक्रमाब्दीय-पद्धत्या[3] सिध्द्यभ्र-सिद्धि-चन्द्रमिते वर्षे पूर्णयुवा पञ्चविंशतिवयस्को भिक्षुर्भिक्षुत्वमङ्गीकर्त्तु रघुनाथाचार्यस्य समीपे तत्परता दधार। बरगिरि (वगडी) पूर्यां दीक्षा-सस्कार-विधि संपत्स्यनेऽद सर्वेऽवजग्मु[4]। लोकेष्वप्यलौकिक उत्साह प्रादुरभूत्। भूरयो दीक्षा निभालितुमनसो जना दूरदेशादपि तत्राहपूर्विकया सम्मिलिता। वैरङ्गिकस्य भिक्षोर्दीक्षाया शोभायात्रा द्रष्टुं-मौत्सुक्यमादधानैर्भिन्नजातीयै स्त्री-पुरुषै पुरी सकुलता सिषेवे। विभिन्नाऽऽतोद्याना[5] मर्दल-कीचक-भेर्यादीना गुन्दल-क्षीजन-दद्रुराद्या मन्द्रतारध्वनयो जनान् भृशं प्रीणयामासु। धृतविशिष्टनेपथ्यो नानाभरण - भासुरकान्तिर्विदधद्धेपा[6] - विशेषमनोहर पुन पुनरूर्ध्वी-कुर्वदग्रेतनपादयामलमा[7]ऽऽजानेयमारूढो भिक्षु पर सहस्रै र्नेत्रै सभक्तिप्रेक्षणीयो बभूव।

समीपमुपेयुषि दीक्षासमये मातुरन्तिमामाशिषमादातु सरो-मोद्गम तच्चरणौ प्रणिपत्य व्यजिज्ञपत्—''मात ! गच्छाम्यधुना ऽह साधुत्व प्रतिपत्तुम्। देहि हृदा मह्यमेतादृशमाशीर्वादम्

---

१ सिहस्वप्नेन। २. कुत्सितव्रतिनाम्। ३ स० १८०८।
४. ज्ञातवन्त। ५ विभिन्नवाद्यानाम्। ६ हेषा० हयशब्द

भावना और लक्षणो मे प्रत्यक्ष अभिव्यक्त होता है। सिह के स्वप्न से मैं यह निश्चित अनुमान करता हूँ कि यह साधुत्व स्वीकार कर सिंह के समान पृथ्वी पर निर्भय विचरेगा और इसके समक्ष शशक, शृगाल और मृग के समान साधु कहलाने वाले शिथिलाचारी नही टिक सकेगे। इसलिए नि सकोच इसको सहर्ष शीघ्र से शीघ्र आज्ञा दे दे। निश्चित ही यह तेरा नाम अमर करेगा, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।"

इस तरह जैसे-तैसे समझाने पर भिक्षु की मा ने पुत्र प्रेम से कलेजा काँपते हुए भी जैसे-तैसे आचार्य रघुनाथ जी का वचन स्वीकार किया।

विक्रम सवत् १८०८ की साल पच्चीस वर्ष के पूर्ण युवा भिक्षु ने आचार्य रघुनाथजी के पास साधुत्व लेने की तैयारी की। वगडी (राजस्थान) मे दीक्षा सस्कार विधि सम्पन्न होगी यह सबने जाना। दीक्षा देखने के लिए दूर-दूर के स्थानो से भी बहुत लोग एक दूसरे से आगे चलकर आए। वैरागी भिक्षु की दीक्षा शोभायात्रा (दीक्षाजुलूस) को देखने के लिए उत्सुकता रखने वाले विभिन्न जातीय स्त्री-पुरुषो के द्वारा वगडीपुरी एकदम समाकीर्ण हो गई। विभिन्न वाद्य मृदग, बाँसुरी और भेरी आदि की क्रमश गुन्दल-क्षीजन और दद्दुर कहलाने वाली अत्यन्त ऊँची और गम्भीर ध्वनियो ने जनता को खूब तृप्त किया। हिनहिनाते हुए बार-बार अपने अगले पैरो को ऊँचे करते हुए श्रेष्ठ अश्व पर आरूढ, विशिष्ट वेश पहने, विविध अलकारो मे सुशोभित भिक्षु को हजारो आँखो ने श्रद्धापूर्वक देखा।

दीक्षा-समय समीप आने पर माता के पास अन्तिम आशीर्वाद लेने के लिए रोमाञ्च-पूर्वक उसके चरण छूकर निवेदन किया—मा! अब मैं संयम स्वीकार करने के लिये जा रहा हूँ। मुझे हृदय से ऐसा आशीर्वाद दो कि मै निर्विघ्न

(हिनहिनाना, इतिभ पा) ७ आजानेय कुलीनोऽश्वः इतिहैम।

यथाऽह् सुखं स्वलक्ष्यं साधयितुमर्हो भवेयम्। उपनत स्वर्ण-मयोऽयमवसरो मदर्थमद्यतन । 'यथासुखं पुत्र! मा प्रतिवन्धं कुरुष्व' इति वचसा वर्धापय माम्।"

जगज्जिहासो सूनो सात्त्विकी शारदा निशम्य जननी गद्गदहृदया जज्ञे । स्रवद्-वाष्पविन्दुधौत-कपोलपालि पुत्रमुरसा गाढमाश्लिष्य भग्नस्वरं जगाद—"नन्दन! दीक्षायै प्रस्थान-तत्परे त्वयि जात मे हृदय स्नेहशून्यम्, ज्योति-शून्य नेत्र-द्वयम्, ज्ञान-शून्य मस्तिष्कम्, शक्ति-शून्य च शरीरम्। उत सर्वमपि विष्टप शून्यतामाविभर्त्ति मदर्थ साम्प्रतम्।

पुत्र! धन्यधन्योऽसि त्व यदात्म-साधनायै उत्तिष्ठसे। सुख याहि-याहि स्वगन्तव्य पन्थानम्। साधय-साधय साध्यमनावाधम्। आराधय भक्त्या निजमाराध्यम्। यया सिहवृत्या महाव्रतानि वृणीषे तथैव तत्पालन-प्रसितो भवेरिति मे हार्दिकमाशीर्वचनम्।

सुजात! मम दुग्ध तदानीमेव धवलितं भावि यदा त्व चारित्रधवलिम्ना सतमस-निमग्न जगद् धवलयिष्यसि वालयिष्यसि च कुमार्गगामिनो जीवान् सुमार्ग प्रति। समाप्ति-सुन्दरा हि कृतिरारम्भ-सुन्दरा, नहि केवलमारम्भ-सुन्दरा सुन्दरा। विलोक्य-न्तेतमा वहवो जना प्रारम्भे रङ्गत्तरङ्ग-वीचिमालि-सध्रीचीनतामा-दधाना[1] परन्तु भवन्ति प्रान्ते पल्वल[2]-सकाशा निर्जीवना[3] दशामासेवमाना। अत पूर्ण वलावलमुत्तोल्य सुधीभि· पुर पादन्यासो विधातव्य।"

सुधामतिशयानामन्त्या मातु शिक्षामङ्गीकुर्वाणो भिक्षु धृतमुनि-वेषो गुरूपकण्ठमुपतस्थौ। महति जनसमूहे नमस्कार-महा-मन्त्र-

---

१ सध्रीचीनता-समानताम्। २ तुच्छतडागतुल्याम्। ३. निर्जीव-

अपना लक्ष्य साधने के लिए समर्थ होऊँ । आज मेरे लिए यह स्वर्णमय अवसर आ गया है । "पुत्र ! जिस प्रकार तुझे सुख प्राप्त हो, वैसा कर, प्रतिबन्ध मत कर", इस आशीर्वचन से मुझे बढावा दो ।

- ससार का परित्याग करने वाले पुत्र की सात्विक वाणी सुनकर माता गद्‌गद्-हृदय हो गई । आँसू बहाती हुई, पुत्र को छाती से गहरा भीचकर भग्न-स्वर से बोली—"नन्दन ! तुझे दीक्षा के लिये प्रस्थान तत्पर देखकर मेरा हृदय स्नेह-शून्य हो गया है, दोनो नेत्र ज्योतिर्विहीन हो गये है, मस्तिष्क चेतना-रहित हो गया है और शरीर शक्ति-शून्य निढाल हो गया है । अब मेरे लिए सारा ससार ही सूना है ।

पुत्र ! तू धन्य है कि आत्म-साधना के लिए खडा हो रहा है । सुख से अपने गन्तव्य स्थान पर जाओ । निर्विघ्न अपने साध्य को सिद्ध करो । भक्ति से अपने आराध्य की आराधना करो । जिस सिंह-वृत्ति से महाव्रतो को स्वीकार कर रहे हो वैसी ही तत्पर-वृत्ति से उनका पालन करना, यही मेरा हार्दिक आशीर्वाद है ।

सुपुत्र ! मेरा दूध उसी समय उज्ज्वल होगा जब तू गहरे अन्धकार मे निमग्न संसार को अपने उज्ज्वल चरित्र की धवलिमा से धवल करेगा और कुमार्गगामी जीवो को सुमार्ग पर लाएगा । परिणाम मे सुन्दर कार्य ही आरम्भ-सुन्दर होते है, केवल आरम्भ-सुन्दर, सुन्दर नही होते ! बहुधा देखा जाता है कि आरम्भ मे बहुत से लोग लहराते समुद्र के समान होते है । परन्तु अन्त मे छोटे 'तालाब के सदृश वे निर्जल दशा को धारण करने वाले हो जाते है, इसलिए अपनी शक्ति को पूरा तोलकर ही बुद्धिमानो को अपना कदम आगे बढाना चाहिए ।

अमृत से भी अधिक मिष्ट माँ की अन्तिम शिक्षा को आत्म-सात् करते हुए, मुनि का वेष धारण करके भिक्षु गुरु के चरणो मे उपस्थित हुए । महान्

नाम्-पक्षे नीरशून्याम् ।

पुरस्सरं सम्पन्न सर्वोऽपि सामायिकचारित्र-ग्रहणविधि, निर्व्यूढा लुञ्चनादि-क्रिया स्वयं गुरुणा।

संयममाद्रियमाणो भिक्षुर्भूरि-भद्रभावनया विभावितुं प्रवृत्त— "धन्योऽस्म्यहमद्य यत् सर्वारम्भ-परिग्रहान् परित्यज्य महामंत्रस्य पञ्चमपदमारूढवानस्मि। साम्प्रत मया परमोपयोगभाजा भाव्यम्। नहि सोढव्या संयमविराधनाहेतु सूक्ष्मापि स्खलना।

अधीते भिक्षुर्गुरुसमीपे सविनयं शास्त्रादि सावधानतया। नहि मनागपि प्रमाद्यति वृथाऽऽलस्य-निद्रा-विकथादि-वशंवद., यद् गुरुमुखाद् गृह्णाति तत् पठति, रटति च हीनाक्षरादि-दोष-विरहितम्। पठितमपि पुन परावर्त्तयतितरामस्खलितमनुदिनम्। परावर्त्तितमप्यनुप्रेक्षते स तात्पर्यार्थमात्मसात्कुर्वाण। अनुप्रेक्षितमपि निर्मलप्रतिभयाऽनेक-हेतु-दृष्टान्तै स्पष्टयति परेषा पुरत। भिक्षो. कुशाग्रीयामतिरति सूक्ष्मतत्त्वमपि तत् कालमुन्नयने, नयते चाध्या-पकानपि जातु संशयपदम्। प्रसह्य मातु स्तन्यं पेपीयमान-स्तर्णको[1] यथा बलवत्पुष्टिमावहति, मनोहृत्य[2] ज्ञानामृतं धयंस्तथा-ऽयमपि। नास्य गुरु-पठनमप्यभिमतौ परिणम-दजीर्णता दर्शयति, प्रत्युत विशालविद्याभरनम्रमपि तुलापल्लकमिव गौरवमाविर्भावयति। लघीयासो गरीयास सर्वेऽपि मुनय पुनराचार्या अप्येनं मन्वते, यदयमेव भाविपदाधिकारी भावीति भव्यभावभङ्ग्या सम्मान-यन्ति च।

स एष भिक्षु-कुञ्जरो भिक्षु, प्राय पञ्चवर्ष-दीक्षितोऽपि सुविलोडित[3]-समयसरस्वत्लब्ध-विवेक रत्न प्रत्नमुनिरिव[4] प्राप्त-विशिष्टानुभवोऽस्मान् परित्यक्तवन्दनान् प्रबोधयितुमनोभिर्गुरुभिरत्र

---

१ बछडा, इतिभाषा। २ आवृत्ति इत्यर्थ। ३, समयसरस्वत्लब्ध-

जन-समूह के वीच नमस्कार महामन्त्र के उच्चारण पूर्वक सारी दीक्षा-विधि सम्पन्न हुई। स्वय गुरु ने लु चन आदि क्रिया का निर्वाह किया।

सयम ग्रहण करने के वाद भिक्षु ने वहुत भव्य-भावना से यो चिन्तन किया—"आज मैं धन्य हूँ कि सव प्रकार के आरम्भ ओर परिग्रह का परित्याग कर महामन्त्र के पंचम पद पर आरूढ हो गया हूँ। अव मुझे परम उपयोग-वान् रहना चाहिए। सयम की विराधना करने वाली छोटी सी गलती भी नही सहनी चाहिए।"

भिक्षु गुरु के समीप सविनय शास्त्र आदिका सावधानता से अध्ययन करने लगे। आलस्य, निद्रा और विकथा आदि मे अपना थोडा भी समय वेमतलव नप्ट नही करते। जो गुरु के मुँह से ग्रहण करते उसे ही हीनाक्षर-अत्याक्षर आदि दोपो से मुक्त पढते और रटते। सीखे हुए का प्रतिदिन अस्खलित परिवर्तन करते समय उमका तात्पर्यार्थ आत्मसात् करते हुए उसकी अनुप्रेक्षा करते और अनुप्रेक्षित को भी अपनी निर्मल प्रतिभा से अनेक हेतु दृष्टान्तो के द्वारा दूसरो के आगे स्पष्ट करते। भिक्षु की कुशाग्रवुद्धि सूक्ष्म तत्त्व को भी तत्काल ग्रहण कर लेती है और अध्यापको को भी आश्चर्यचकित कर देती। जैसे माँ का पेट भर दूध पीने वाला वछडा खूव परिपुष्ट हो जाता है वैसे ही ये भी ज्ञानामृत का मनचाहा पान करते हुए विद्वान् वन गए। इनका भारी पठन भी अहंकार मे परिणत न होकर जीर्ण (हजम) हो जाता था। विशाल विद्या के भार से नम्र होते हुए भी तराजू के पलडे की तरह गौरव ही व्यक्त करता था। छोटे-वडे सभी साधु और आचार्य भी 'यही भावी पदाधिकारी होगा' यह मानते थे और भव्य-भाव-भगिमा से इनका सम्मान करते थे।

वही भिक्षुओ मे कुंजर के समान यह भिक्षु, जिसने दीक्षा लेने के वाद पॉच वर्ष मे ही गहन शास्त्र-समुद्र को मथ डाला और विवेक रत्न को पा लिया, स्थविर मुनि की तरह यह विशिष्ट अनुभवशाली, हमे, जिन्होने कि

सिद्धान्त-समुद्रलब्ध०। ४. पुराणमुनिरिव।

प्रेषितश्चतुर्मासीमधिवस्तुमागच्छति। येषा केषाञ्चन हृदये या· विचिकित्सा वरीवृत्यन्ते ताः सर्वा शास्त्रानुसारिणा समाधानेन समाधातव्या शास्त्रबोधविशारदैं श्राद्धैं। ननरामीदृशोऽनुत्तरोऽवसरो राजनगर-नागरिकैरवापि प्राक्तनेकाले, एष्यत्यपि कदा प्राप्स्यतीति सर्वज्ञा एव विदन्ति। अतो वार्त्तमानिकवेलाया आननोपनत-कवलवदविलम्बं लाभ सुग्राह्योऽस्माभि।"

इत्थं व्यक्तीकृतवर्णन श्रीदेपेयपदार्पणमाकर्ण्य सर्वेऽपि पौरा निर्धन निधिमासादयन्न इवोत्कृष्टसम्मदमापु। केचिद् व्याख्यान-रसिका, केचिच्छास्त्रश्रोतार, अपरे तत्त्वचर्चाचणा., इतरे क्रिया-काण्डपण्डिताः, परे च तपस्यातत्परा, समेपि स्व-स्वकृते स्वर्णमयं समय कल्पयन्त पर्जन्य-सन्निभा[1] भिक्षोरागति हृदा श्लाघयामासु।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये महाकाव्ये
गद्यप्रबन्धे षष्ठः समुच्छ्वास.

१ मेघतुल्याम्।

वदना-व्यवहार को छोड दिया है, समझाने के लिए गुरु ने भेजा है। यह चतुर्मास करने के लिए यहाँ आ रहे है। जिन किन्ही के हृदयमे जो कोई शंकाए हो वे सव शास्त्र वोध विशारद श्रावको को शास्त्र-सम्मत समाधान से समाहित कर लेनी चाहिए। ऐसा उत्तम अवसर राजनगर के श्रावको ने पहले कभी नही पाया है। भविष्य मे भी वापिस कब मिलेगा—इसे सर्वज्ञ ही जानते है। इसलिए वर्तमान का हमे, मुँह मे आये हुए ग्रास की तरह अविलम्व लाभ उठा लेना चाहिए। इस प्रकार के वर्णन से श्री भिक्षु का पदार्पण सुनकर नगर के लोगो ने, निर्धन के निधि पाने के समान परम उल्लास पाया। कुछ व्याख्यान रसिक, कुछ शास्त्र श्रोता, कुछ तत्त्वचर्चा मे चतुर, कुछ क्रियाकाण्ड मे पटु, कुछ तपस्या तत्पर सबने ही अपने-अपने लिए इसे स्वर्णिम -अवसर मानते हुए मेघ के समान इनके आगमन का हृदय से स्वागत किया।

छठा समुच्छ्वास समाप्त



मिति प्रस्थानकथा जिज्ञासाञ्चक्रिरे। विक्रान्त[1] गोर्यादिगुणा इवैते भिक्षुमनुगच्छन्त सोपयोग [2]राजनगर-काष्ठामालम्बिरे।

अध्युवास भिक्षू राजनगर-मध्यस्थमुपाश्रयम्, निर्व्यूढञ्च नमस्कार-महामन्त्रपूर्वकं मङ्गलाचरणविधि। निवृत्तिमाप्ते गोचर्यादिकृत्ये भोजनानन्तर कतिपये विज्ञा श्रावका हृच्छङ्का व्यपनेतुमिच्छव उपभिक्षु समागतवन्तः। 'किमपि जिज्ञासव एते' इति इति जानानेन भिक्षुणा प्रागेव दाक्षिण्येन प्रष्टुमारब्धम्—"भो भो भव्या श्रवणोपासका! पापभीरवो भवन्तो भूरिगो भाग्यभाजो मुनीन् भक्त्या समुपासितवन्त। आस्तिक्येन तदुपास्तिमास्तिघ्नुवानास्तात्विक-चर्चया चर्चितमन्तकरण विरचितवन्तः। कल्प्याऽकल्प्य-विविक्त्या साधुत्व-परीक्षाक्षमा भूतवन्त। न विदन्ति यावदर्वाचीना प्राचीना अपि मन्दमेधसो मुनयस्तावद् युष्माभि सुविदित समय-रहस्यम्। द्रव्य - क्षेत्र - काल-भावादीना या तात्कालिकी छाया साऽऽकालिकीव[3] सर्वत्र पदार्थजाते पतन्ती किमप्यावश्यकीय परिवर्तनमर्हतीति सर्वविदितमेतत्। तथाप्यतितुच्छस्खलना-प्रच्छादना[4]ऽन्तर्हितहृदयैर्भवद्भि भूतमित्यद्भुतम्। परम हितैषिणो वृण्वन्ति श्रावकास्तु महत्तत मातापित्रोरुपमानम्। इतरे पुरोभागिनस्तु[5] सपत्न्युपमानमपि। चित्रित जायते मे मानसं निध्यायत् त्रि[6]कृत्व शून्यं युष्मद् वन्दना-व्यवहारम्। किमपि कुर्वन्तुतमा वा भवन्तो भावितात्मना मुनीना किम्? परन्तु व्यवहृति-परित्यागो नहि विवेकवता लक्षणम्। केन लक्ष्यते कस्य हृदये किमनवद्यमवद्यं वा विलसति। व्यवहारविगदेन कार्यकलापेनैव मनुष्योऽङ्कयति सुन्दरासुन्दररेखा परहृदये। हन्त! केवलिनोऽपि नहि व्यवहारमुदासते किमस्मादृशामल्पज्ञाना

१ वीरम्। २ राजनगरदिशाम्। ३. विद्युदिव। ४ प्रच्छादनं

आदि गुणो की तरह ये लोग भिक्षु के अनुगत चलते हुए राजनगर की सीमा मे प्रविष्ट हुए।

राजनगर के मध्य जो उपाश्रय था, उसमे श्रमण भिक्षु ठहरे। नमस्कार महामन्त्रका उच्चारण कर मंगलाचरण रूप से संक्षिप्त वक्तव्य दिया। गौचरी आदि कार्य सम्पन्न होने पर भोजन के वाद कुछ विज्ञ श्रावक अपने हृदय की शंका मिटाने के लिए मुनि भिक्षु की सेवा मे उपस्थित हुए। 'ये कुछ जिज्ञासा लेकर आए है" यह जानते हुए भी भिक्षु ने चतुराई पूर्वक पहले ही पूछ लिया—"ओ! भव्यो! आप पापभीरु श्रमणोपासक है। आप लोगो ने वहुत से सौभाग्यशाली मुनियो की भक्ति से समुपासना की है, आस्तिकता से उनकी सेवा करते हुए तात्विक चर्चा से अपने अन्त करण को भावित किया है। कल्प्य और अकल्प्य के विवेक (ज्ञान) से साधुत्व की परीक्षा करने मे पूर्ण सक्षम हो गये है। जितना आगम-रहस्य नए मुनि और अल्प-वुद्धि वाले वहुत पुराने मुनि भी नही जानते उतना तुम लोगो ने जान लिया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि की जो तात्कालिक छाया है वह विजली की तरह सव पदार्थ समूह पर गिरती हुई कोई आवश्यक परिवर्तन चाहती है यह सर्व-विदित है। ऐसा होते हुए भी छोटी-छोटी गलतियो के पर्दो ने आप लोगो का हृदय ढक लिया यह अद्भुत वात है। परम हितैषी श्रावक तो माता-पिता की महान् उपमा पाते है। दूसरे केवल दोष-दर्शी श्रावक तो सौत के समान गिने जाते है। तिक्खुत्ते के पाठ के विना तुम लोगो का वन्दना-व्यवहार देखकर मेरा मन आश्चर्य से चकित रह गया। ऐसे आप कुछ भी करे, भावितात्मा मुनियो को क्या अडचन है? परन्तु व्यवहार को भी नही निभाना विवेक-शालियो का लक्षण नही होता। कौन जान सकता है किसके हृदय मे क्या उचित या अनुचित है? व्यवहार से परिष्कृत कार्य-कलाप से ही मनुष्य दूसरो के हृदय मे सुन्दरता या असुन्दरता की रेखा अंकित करता है। देखो! केवलज्ञानी भगवान भी

आवरणम्। ५ दोषैकदृग् पुरोभागी—इति हैम। ६. 'तिक्खुत्ता के विना इतिभाषा।

सप्तमः समुच्छ्वासः

त्वर्यतां भोस्त्वर्यतामद्यैव प्रातरायान्तितरामत्र ते महनीयवृत्ता मुनयः। सर्वेषां हृदये काचिन्नव्या क्रान्तिः समुत्क्रान्ता। अभिगन्तुमुत्काः सर्वेऽपि तदर्हां सज्जां विदधिरे। अहंपूर्विकया पुरतो गन्तुं कृतोत्तालां बाला स्वसज्जायै जननी-जनकान् त्वरयाञ्चक्रिरे। नानानयनाभिरामाभिर्लसदाकल्यालङ्कृतिभिरलङ्कृता[1] बालानामवलिर्धावमानाऽग्रगामिनी जज्ञे। श्रद्धाप्रतिकृतय इवाऽऽर्या नार्यो विचित्रपरिधानानि बिभ्रत्यश्चतुर्विंशति-स्तुतिमयानि मङ्गलगीतानि गायन्त्यः सभूय भिक्षोः सम्मुखीनमध्वानमासिषेविरे। इतः सुरचितोष्णीषशोभितमस्तिष्का उत्तरासङ्गार्थमुभयतो लम्बायमानग्रीवाश्रितवसना परिहित-शुचिवाससः, साधुपरिवेष्टित-कटिपटा अशठाः श्रावका सोत्साहं भिक्षुमभिनन्दितुं सामुख्यमाभेजिरे।

अन्ते दृष्टिविषयमागते भिक्षुप्रभृतिमुनिपञ्चके सर्वेऽपि रोमाञ्चकञ्चुकिताः सत्वररचितोत्तरासङ्गाः श्राद्धाः, करस्थ-कर्पटं मुखे कुर्वाणा भूरिशो बाला स्त्रियश्च सविधि-सहर्षमेनं ववन्दिरे, सुखमपि च पप्रच्छुः। परन्तु राजमल-व्रजलालाद्याः केचिच्छ्रमणोपासकाः करौ किञ्चित् कुड्मलीकुर्वाणा ऊर्ध्वंदमा एव व्यवहार-वन्दनां विदधिरे, सह सुख-पृच्छया च कदा, कुतः, कथ-

---

१ लसद्वेषालङ्कारैः।



सातवा समुच्छ्वास

जल्दी करो भई, जल्दी करो, आज ही प्रात' वे महामहिम मुनि आ रहे है। सबके हृदय मे कोई नई क्रान्ति-सी मच गई। सम्मुख जाने के लिए सबने ही उसके योग्य तैयारी की। "मैं सबसे पहले आगे जाऊँगा।" इस प्रकार की उतावल करतेहुए बच्चो ने अपनी सज्जा के लिए माता-पिता को शीघ्र ही व्यस्त बना दिया। आँखो के लुभाने वाले वसनो और आभूषणो से आभूषित बालको की पक्ति दौडती हुई सबसे आगे निकल गई। विचित्र प्रकार के परिधान धारण करके श्रद्धा की प्रतिछाया-सी आर्य-नारियाँ मिलकर चौबीस तीर्थङ्करो का स्तुतिमय मगल गीत गाती हुई भिक्षु के सामने आई। इधर सुघड़ता मे बाँधी हुई पगडियो मे शोभित मस्तक वाले शुद्ध कपडे पहने हुए उत्तरासग के लिए ग्रीवा पर दोनो ओर चादर लटकाए हुए, कटि को भली भाँति परिवेष्टित किए हुए सरल भद्र श्रावक भिक्षु का अभिनन्दन करने के लिए सम्मुख आए।

अन्त मे जब आते हुए भिक्षु आदि पाँचो मुनि दृष्टिगोचर हुए, तब सबने हर्ष से रोमाचित होकर उत्तरासग किया। रुमाल को मुह पर लगाकर बच्चो और महिलाओ ने सहर्ष विधि-पूर्वक इनको वन्दना की और सुख-पृच्छा की, पर राजमलजी, व्रजलालजी आदि श्रावको ने थोडे हाथ जोडकर खडे-खडे ही व्यावहारिक वन्दना की और सुख-पृच्छा की। कब विहार किया? कहाँ से किया? इधर पधारना कैसे हुआ? आदि जिज्ञासा की। वीर के पीछे शौर्य

गणना ! नहि सर्वत्राप्येवंभूतनय-पक्ष. कक्षीकरणार्ह । यद्यपि जानीमो वयं स एव पक्ष याथार्थ्येन वास्तविक', शुद्ध', समुपास्यश्च, तेनैवान्ते निश्चित कल्याणम् , तथापि यत्रास्मदीया स्थितिस्तत्रस्थो व्यवहार समुपबृहणीय एव । अत एव स्वयभुवा[1] निश्चय-व्यवहारभासुरा नयोभयी भव्याना कृते पुरस्कृता । भवद्भिस्तु सूक्ष्मा [2]द्वापररेखामाश्रयद्भिवन्दनाद्या विधय परित्यक्तास्तत् कियदौचित्यमञ्चतीति स्वत एव चारु-विचारधारया चिन्तनीयम् । किमहं वहु व्यनज्मि भवन्तस्तु वहुविन्दव[3] सन्त्येव ।"

उत्तराणा पृष्ठभूमिमिव भिक्षोश्चातुर्य-चमत्कृना वाचं कर्णे कृत्वा समयज्ञा' श्रावका हर्ष-खेदमिश्र प्रत्यूचिरे—"मुनिपुङ्गव ! स्फटिकवन्निर्मला यौष्माकीणा मेधा, सुधा-तुल्या युष्मदीया सरस्वती, कर्पूरायते भावत्की कीर्त्ति', गङ्गोदकीयति च भवदीय चारित्रम् । भवानिव भवान् नात्र सन्देह, परन्तु कथनमिव करणम्, करणमिव च कथनं यावन्नहि पोस्फुरीति तावत्कथ श्राद्धाना श्रद्धा सुस्थिरा स्यात् ? वेपभूपाया हि चेत् साधुत्व-कल्पन तर्हि न किं वहुरूपिणोऽपि साधव. ?

किञ्च—अनग्नि दावानलम्, अनीर सागरम्, अनिगडं च कारागृह संसार मत्वा युष्माभि साधुत्वमङ्गीकृतम् । समास्वादित-श्चेत् परिणामसरस· साधुत्वरस , कि तर्हि साक्षाल्लक्ष्या पक्ष्म-लाक्ष्या[4], दीव्येन स्वर्णरत्नराशिना वा ? स्फुरदानन्दामोदमय-सयम-मलयज-शीतलीभूताना कि क्षणिकशीतलेन हरिचन्दनेन, किमिन्दुना वा नित्यपरिवर्तनशीलेन ? सुदुर्वह पञ्चमहाव्रतभारं वहमानान् मुनीन् दृष्ट्वा मादृशा· पञ्चरत्नसानूत्तोलनमनुस्मरन्ति"

---

१ भगवता । २ सन्देहरेखाम् । ३ बहुविज्ञा. । ४. सुन्दरस्त्रिया ।

व्यवहार की अवज्ञा नही करते, हम जैसे अल्पज्ञो की तो गिनती ही क्या है ? सब जगह ही एवभूत नय का पक्ष स्वीकार योग्य नही होता। यद्यपि हम जानते है कि वही पक्ष यथार्थतया वास्तविक शुद्ध और आदरणीय है, अन्त मे निश्चित उमसे ही कल्याण होता है, फिर भी जहाँ हम लोग रहते है वहाँ का व्यवहार निभाना भी बहुत जरूरी है। इसलिए सर्वज्ञो ने निश्चय और व्यवहार दो नयो की प्ररूपणा की है। आप लोगो ने छोटे से सन्देह के कारण ही जो वन्दनादि विधि का परित्याग कर दिया वह कहाँ तक उचित है। आप स्वय इसका चिन्तन करे, मैं ज्यादा क्या कहूँ। आप लोग तो स्वय जानकार है।"

उत्तरो की पृष्ठ-भूमि के समान भिक्षु की चातुर्य-गर्भित वाणी सुनकर समयज्ञ श्रावको ने हर्ष और खेद की मिश्रित अनुभूति करते हुए कहा— "मुनि-पुङ्गव ! आपकी मेवा (बुद्धि) स्फटिक के समान निर्मल है, सुधामयी आपकी वाणी है। कर्पूर के समान उज्ज्वल आपकी कीर्ति है। गंगा के सलिल के सदृश स्वच्छ आपका चरित्र है। आप आपके ही समान हैं इसमे कोई सन्देह नहीं, परन्तु कथन के अनुरूप क्रिया और क्रिया के अनुरूप कथन जब तक नही होता तब तक श्रद्धालुओ की श्रद्धा सुस्थिर कैसे हो ? वेश-भूषा से ही अगर साधुत्व की परिकल्पना की जाए तो बहुरूपियो को भी साधु क्यो नही मान लिया जाए ?

आप लोगो ने संसार को बिना अग्नि का दावानल, बिना पानी का समुद्र और बिना हथकडी-बेडियो का कारागृह मानकर साधुत्व अगीकार किया है। निष्पत्ति मे जो सरस है उस साधुत्व-रस का अगर अच्छी तरह स्वाद ले लिया तो साक्षात् लक्ष्मी के समान स्त्री का और दिव्य स्वर्ण रत्न-राशि का भी क्या मोल है ? स्फूर्त होते हुए आनन्द की सौरभ से सुरभित सयम रूप चन्दन से जो शीतल बन गये है, उनके लिए क्षणिक शीतल हरिचन्दन का और नित्य परिवर्तनशील चन्द्रमा की शीतलता का भी क्या मूल्य है ?

दूर्वह पंच महाव्रतो का भार वहन करने वाले मुनियो को देखकर हमारे जैसो का हृदय तो पाँच सुमेरु पर्वतो को उठाने के समान मानकर काँप उठता

५ पञ्चमेरूत्तोलनम्।

कम्पमानान्तःकरणा। चित्रम्!! किमयं सुखमयः पन्था उत कण्टकमयः! विषभक्षणम् वा पीयूषपानम्।

अहो! विशुद्धः साधोरेकोऽपि क्षणोऽनिरिणक्ति[1] गृहस्थानामाजीवनमाचरितं सुचरितम्। नितान्तवैराग्यरसपानैकतान: सुसाधुस्तुच्छीकुर्यादतुच्छाभ्रच्छायोपमितानि भौतिक-सुखानि।

ऐदंयुगीनैर्युष्माभिः[2] किमीदृशं साधुत्वं प्रतिपाल्यतेतराम्? वयं यद् युष्मान् निजमुत्तमाङ्गं[3] भूमौ सलीयं प्रणमामस्तत् किं केवलं वेषाय! यद् युष्माभिः सार्वभौमानि सार्वत्रिकाणि करण-योगविशुद्धानि पञ्चमहाव्रतानि स्वीकृत्य चेच्छैथिल्यं सेव्यते, कैतवं तन्यते, अनाचीर्णमाचर्यते, अनेषणीयं च भुज्यते, तदा वयं कान् वन्दामहे? कान् कल्याण-मङ्गलमयाश्च मन्वानाः पर्युपास्महे?

मुनिवर! अहरहो जायमाना दोषाः किमु न भवद्धिषणा-मान्दोलयति विचारचञ्चुराम्! यथा—'न विद्यतेऽगारं गृहं यस्य सोऽनगारः' इति शास्त्रविहितं नामधेयम्। साम्प्रतं भवद्भिः प्रतिग्रामं स्थानकानि स्थाप्यन्ते, तदर्थं प्रसह्य गृहस्थाः प्रेर्यन्ते, दातारः ससम्मानं स्तूयन्ते, अदायकाः सगर्हं निन्द्यन्ते, निम्नया च दृशा विलोक्यन्ते। किं युष्माभिरेतदर्थं हि मुनित्वमादृतम्? यदेकं जीर्णं शीर्णं सामान्यं विशालं वा भवनं परिहाय नगरे-नगरे नानासुविधादायीनि लयनानि निर्माप्यन्ते, स्थाप्यन्ते च तत्र वस्त्र-पात्र-पुस्तकादीनि स्व-स्व-रूपेण। उपाश्रयेष्वपि 'अयमस्य सम्प्रदायस्योपाश्रयः' इति गाढं ममत्वमाविर्भाव्यते। न तत्रान्य-सम्प्रदायगत-साधुभिः स्थितिः सुकरा। हन्त! कलहायन्ते व्रतिन-स्तदधिकृत्य प्रतिद्वन्द्विन इव परस्परम्।

---

१ अतिशेते। २ इदानीन्तनैः। ३ मस्तकम्।

है। आश्चर्य होता है कि यह मार्ग सुखमय है अथवा कण्टकमय ? विषपान है या अमृतपान ?

अहो ! साधु का विशुद्ध एक क्षण भी, गृहस्थ की आजीवन साधना से विशिष्ट होता है। निरन्तर वैराग्य-रस मे तल्लीन महामुनि वादलो की छाया के तुल्य भौतिक सुखो को नगण्य मानता है।

वर्तमान के साधु, क्या इस प्रकार का साधुत्व पालते है ? हम लोग जो आपको अपना सबसे उत्तम अग शिर भूमि पर टिका कर वन्दना करते है वह क्या केवल वेष को करते है ? जो आप लोगो ने करण-योग की विशुद्धि के साथ सार्वत्रिक एव सार्वभौम पाँच महाव्रतो को स्वीकार किया है, फिर भी अगर आचार मे शिथिलता रखते है, छल-कपट करते है, अनाचार का सेवन करते है और अनेषणीय (अशुद्ध) आहार-पानी का भोग करते है तो हम किसको वन्दना करे और किसको कल्याणकारी तथा मंगलमय मानकर पर्युपासना (सेवा) करें ?

मुनिवर ! निरन्तर होने वाले दोष क्या आपकी चिन्तनशील वुद्धि को आन्दोलित नही करते ? जैसे कि—जिसके अगार अर्थात् गृह नही है उसे 'अनगार' कहा जाता है, यह शास्त्र-विदित नाम है। अब आप लोग प्रत्येक ग्राम मे स्थानक स्थापित करने लगे है, उनके निर्माण के लिए गृहस्थो को बल-पूर्वक प्रेरणा देते है और अर्थ-दाताओ की सम्मान-पूर्वक स्तवना करते हैं तथा नही देने वालो की गर्हा-पूर्वक निन्दा करते है और उन्हे निम्न दृष्टि से देखते है। क्या आप लोगो ने इसीलिए साधुचर्या ग्रहण की है ? एक जीर्ण-शीर्ण साधारण अथवा विशाल भवन का परित्याग करके नगर-नगर मे नाना सुविधा-जनक स्थानक (मकान) वनवाने लगे है और उनमे अपने-अपने नाम से वस्त्र-पात्र और पुस्तक आदि सामान रखने लगे है। स्थानको मे भी 'यह अमुक सम्प्रदाय का स्थानक' यो प्रगाढ ममत्व को प्रकट करते है। वहाँ दूसरे सम्प्रदाय के साधु साधारणतया नही ठहर सकते। आश्चर्य है ! प्रतिद्वन्द्वियो की तरह साधु लोग उनके लिए परस्पर कलह करते हैं।

चिन्त्यम्—यच्छास्त्रे 'श्मशाने शून्यागारे वृक्षमूलेऽप्येकदा निवसति मुनि' क्व भवादृशां कृते परःसहस्राणि रूप्यकाणि-व्ययीकृत्य मनोरमा उपाश्रया विधीयन्ते, अयमेव जैनर्षीणां किमनवद्या पद्या[1]। एकस्या इष्टिकायाश्चयेपि षण्णामपि जीव-निकायानां निश्चित विनाशस्तदा बृहतो निलयान् निर्मापयिषूणां युष्माकं कथमिव त्रिकोटि-विशुद्धं महाव्रतपञ्चकं स्थैर्यमालम्बते ! न वाच्यम्, प्रथमे महाव्रते ह्यायाति सूक्ष्मा क्षतिरिति। भग्ने खल्वेकस्मिन् महाव्रते भवन्ति मुनीश्वराणां पञ्चापि महाव्रतानि भग्नानि। यतोऽस्ति गृहस्थानां धर्मः स्वर्ण-तुल्यम्, यच्छकलितमपि श्रयति यथार्हं मूल्यम्, परन्तु मुनीनां महाव्रतपञ्चकं तु विलसति व्यपगतमलमखण्ड-मौक्तिकं सब्रह्मचारि। यत्र कुत्रापि किञ्चित् खण्डीभूतं चेद् गतगतं तस्याऽर्घ्यमर्घम्[2]। हिंसां विदधानास्तदनङ्गी-कारे मिथ्यावाग्दोषः स्वयमवकाशं लभते। हिंस्यमानजीवानां नास्ति सूक्ष्माप्यनुमतिः स्वप्राणग्रहणाय, ततोऽदत्तादानापराधोऽपि निर्बाधः स्यात्। दुःशील-प्रवृत्तित्वा-च्चतुर्थमपि नास्ते यथार्थम्। परिग्रहेण विना तु न स्थितिमश्नुते किमपि, ततोऽपरिग्रह-व्रतमपि भग्नमेव। एवमेकस्यैवोपाश्रयस्य निर्माणोपदेशेऽनेके दोषाः स्वयमुद्भावितास्युस्तदा कथं युष्माभिर्वयं पञ्चमहाव्रतवन्त, इति प्रकटनसाहसमाधीयते मुधैव।

पुनस्तत्रोपाश्रये नैजान्युपकरणानि वस्त्रपात्रपुस्तकादीनि संस्थाप्य यत्र कुत्रापि विह्रियते तदा 'उभओकालं भंडोवगरणस्स अप्प-डिलेहणाए' इत्यादि शास्त्रीय-शासनं कथं सम्यक् परिपालितं भवेत्। एकमप्युपकरणं यदि जानानो मुनिर्न प्रतिलिखति यथा-विहितम्, तदा लभते स निश्चितं लघुमासिकं प्रायश्चित्तमिति

---

१. मार्ग २ मूल्यम्।

जरा सोचे कि शास्त्रो मे श्मशान, सूने मकान और वृक्षो की छाया मे भी मुनियो के रहने का उल्लेख मिलता है और कहाँ आप लोगो के लिए हजारो-हजारो रुपये खर्च करके सुन्दर उपाश्रय बनाये जाते है। क्या यही जैन मुनियो का शुद्ध आचार है ? एक ईंट के निर्माण मे जब छह ही प्रकार के जीवो की घात होती है, तब बडे बडे भवन निर्माण की इच्छा रखने वाले आप लोगो के पाँच महाव्रत कैसे तीनकोटि से विशुद्ध रह सकते है ? आप यह मत कह देना कि प्रथम महाव्रत मे ही थोडी क्षति आती है, परन्तु एक महाव्रत खण्डित होने पर मुनियो के पाँचो ही महाव्रत खण्डित हो जाते है, क्योकि गृहस्थो का धर्म तो स्वर्ण-तुल्य है जो खण्डित होने पर भी अपना योग्य मूल्य पा जाता है, परन्तु साधुओ के पाँच महाव्रत तो निर्मल अखण्ड मोती के समान है। यदि वे कही से थोडे भी खण्डित हो जाएँ तो उनका मूल्य कुछ भी नही रहता। हिंसा करने वालो को, उसकी अस्वीकृति मे असत्य वचन का दोष स्वय ही आ जाता है। जिनकी हिंसा की जा रही है उन प्राणियो की अपने प्राण देने के लिए बिल्कुल भी अनुमति नही है, इसलिए अदत्तादान का अपराध भी निर्बाध हो जाता है। दु शील प्रवृत्ति के कारण चतुर्थ महाव्रत भी यथार्थ नही रह पाता। परिग्रह के बिना तो कुछ टिक भी नही सकता, इसलिए अपरिग्रह महाव्रत भी भग्न होजाता है। इस प्रकार एक ही उपाश्रय-निर्माण के उपदेश मे अनेक दोष स्वय पैदा हो जाते है, तब आप लोग यह कहने का कैसे साहस कर सकते है कि हम पंच-महाव्रतो के पालक है ? उस उपाश्रय मे वस्त्र, पात्र और पुस्तक आदि अपने उपकरण सुरक्षित रखकर जहाँ कही विहार कर जाते है तब 'दोनो समय भण्डोपकरण की प्रतिलेखना न की हो' इत्यादि जो शास्त्रीय अनुशासन है, उसका सम्यक् प्रतिपालन कैसे हो सकता है ? जानता हुआ मुनि यदि विधिपूर्वक एक उपकरण की भी प्रतिलेखना न करे तो वह निश्चित लघुमासिक प्रायश्चित्त पाता है, यह निशीथ सूत्र की प्ररूपणा

निशीथसूत्र-व्याख्यानम्। अनेकान् मासान् व्यतीत्य स्वोपाश्रये पुनरागताना भवतां नूनमनेक-सूक्ष्मजन्तुजात-परिव्याप्तानि धूलि-धूसराण्युपकरणानि पुन प्रतिलिखता कथमिव चारित्राराधना समाचारीसाधना चाऽक्षुण्णा परिस्फुरति ?

मुनिवर! राज्ञा देवाना च यथा प्रासाद., हर्म्यं यथा धनिनाम्, व्रतिना छात्राणा च मठ, उटजो यथाऽकिञ्चनानाम्, विहारो यथा बौद्धानाम्, आश्रमो यथा तापसानाम् तथैवोपाश्रयो भवताम्। अस्ति केवलं नाम्ना भेद, न वास्तविकोऽर्थभेद। उपाश्रयसेवित्वादेव जातं वस्त्र-पात्रपुस्तकादीना मर्यादोल्लङ्घनम्। अनावश्यकं यदुपकरणं तत् कपाटादौ सगृह्य तत्र तालक दत्त्वा तालिकापि स्वपार्श्वे वा स्वप्रत्ययिते स्थले कुत्रापि स्थाप्यते। हहा!! दु पमारेण कीदृशी कृता महाव्रतिना विडम्बना।

पुन. कृतशिथिलाचारपोपा आधाकर्मिकोद्द शिकादिदोपा प्राय. सेव्यन्त एव। भगवद्भिराचाराङ्गे स्पष्टमुद्भावित यथाऽऽधा-कर्मिकौद्द शिकादिदोपदुष्टमुपाश्रयमुपभुञ्जन् मुनिर्द्विपक्षं कर्म सेवते। यथा-द्रव्यतो मुनिवेपभृन्मुन्याभास, परन्तु भावतो गृहस्थ एवेति। तद्वत् क्रीतकृतदोपोऽपि स्थानौषध-पात्र-पुस्तकादि-हेतवे लगत्येवा ऽधुनातनाना मुनीना बहुधा। यद् युज्यते तदेवान्धश्रद्धालवो गृहिणो यथाकथमपि पूरयितु चेष्टन्ते ध्रुवमवगणय्य भगवदनुयोगम्। अलमितरकथया, यच्छिष्या अपि बहुशः क्रीतकृता एव संभवन्ति गुरुवर्याणाम्। हन्त! प्रलोभ्य मातापितॄन् बोधशून्यानि तदपत्यानि क्रीत्वा गुरवे प्राभृतीकुर्वन्ति तीर्थकृन्नामगोत्रपुण्य-प्रकृतिं संचेतु-मिच्छवो बोध-तपस्विनो[1] धनिन।

---

१. बोधेन दुर्बला· अल्पज्ञा इत्यर्थ।

है । अनेक महीने दूसरी जगह विताकर वापिस उपाश्रय मे आने पर अनेक सूक्ष्म जन्तुओ से परिव्याप्त और धूल से भरे हुए उपकरणो को पुन: प्रतिलेखना करते हुए आप लोगो की चारित्र-आराधना और समाचारी-साधना कैसे निर्दोष रह पाती है ?

महामुने ! जैसे राजाओ और देवताओ के प्रासाद, धनिको की हवेलियाँ, सन्यासियो के मठ, छात्रो के छात्रावास, गरीबो के झोपडे, बौद्धो के विहार, तापसो के आश्रम—वैसे ही आपके उपाश्रय (स्थानक) है। केवल नाम का भेद है। वास्तव मे कोई अर्थ-भेद नही है। उपाश्रय होने के कारण ही वस्तु, पात्र और पुस्तक आदि की मर्यादा का उल्लघन हो जाता है। जो अनावश्यक उपकरण होते हैं उन्हे आलमारियो मे बन्द कर ताला लगाकर चाबी भी अपने पास या अपने विश्वस्त स्थान मे कही रखी जाती है। कितने खेद की बात है कि इस दु पम काल ने महाव्रतियो की कैसी विडम्बना की है। शिथिल आचार का पोषण करते हुए मुनिजन आधाकर्मी और औद्देशिक आदि दोषो का सेवन तो प्राय करते ही है। आचाराङ्ग सूत्र मे भगवान् ने स्पष्ट कहा है—'आधाकर्मी-औद्देशिक दोष से दूषित उपाश्रय का उपयोग करता हुआ मुनि द्विपक्ष-कर्म का सेवन करता है।' अर्थात्—वह द्रव्य से मुनि का वेष धारण करने के कारण मुनि का आभास-मात्र है, परन्तु भाव से गृहस्थ तुल्य ही है। उसी प्रकार बहुधा आधुनिक मुनियो के स्थान, औषध, पात्र और पुस्तक आदि को लेकर 'क्रीतकृत' दोष भी लगता ही है। जो कुछ चाहिए उसकी पूर्ति करने के लिए भगवान् के अनुशासन की अवगणना करतेहुए अन्ध-भक्त जैसे-तैसे चेष्टा करते है। दूसरी बातो का क्या कहना, शिष्य भी प्राय खरीदे हुए ही होते है। तीर्थङ्कर-नाम, गोत्र-प्रकृति को सचित करने के इच्छुक धनवान श्रावक गरीब माता-पिताओ को प्रलोभन देकर उनके बोध-शून्य बच्चे-बच्चियो को खरीदकर आपको भेंट करते हैं।

मुनि-पुङ्गव! नीरसा भवतितरामस्माकं रसना युष्माकमन्त-स्थितिमाविर्भावयन्ती। वहुश्रुता यूयं कि वहुव्याकुर्वन्ति मादृशा अल्पमेधसः! [1]स्वयमभ्यूह्यमैदम्पर्यपारीणै[2] श्रीमद्भि।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये महाकाव्ये गद्यप्रवन्धे सप्तमः समुच्छ्वासः ॥

---

१. स्वयं तर्कणीयम्। २ तात्पर्यविद्भिः।

अष्टमः समुच्छ्वासः ★

अप्रियामपि मातुर्तर्जनामिव हिता, कटुकामपि किरातकवत् तापापहा, शल्यचिकित्सामिवान्तारोगप्रोज्जासनी हितेच्छुश्रावकोदिता गिर निशम्य सुलब्धहार्दोऽपि दैपेय स्वगुरु-गौरव स्फीतिमानयन् सव्याजं व्याजहार—"अये ? अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्ता भक्ता श्रावका ! सुष्ठु साधूनामुपरि कटाक्षेणाऽक्ष्णा व्यलोकि विलोकित-सार्वागम-नवनीतायमान-स्याद्वादरहस्यैरपि । मन्यामहे वय यद् भवता कथन नैकान्ततस्तत्त्वशून्यमिति। प्रायेण दोषाश्रितगतयो यतयोऽभूवन्निति नाऽनास्पदम् । परन्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादीना प्रभाव सर्वत्र समुन्मीलतीति न सुधिया मतद्वैधम् ! क्व तद् वज्रर्षभनाराच-संहननम् ! क्व तत् समचतुरस्र-सस्थानम् ? कुत्र तत् पौर्वकालिक पूर्वलक्षाणामायु ? क्व सा स्वर्गिरिसन्निभा धृति ? क्व सा स्वर्गापगा[1]-सलिल-सोदरा विमला मति । क्व तत् परममनोरमं वैराग्यम् ? कुह सन्ति ते चतुस्त्रिंशदतिशयान्विता नाकि-नरेन्द्रपूज्या परमेष्ठिन ? कुत्र सन्ति ते विशिष्टोत्कृष्टलब्धिधरा गणधरा ? कुत्र सन्ति ते सर्वसञ्ज्ञिमनोगतभाववेदिनो मन पर्यवशालिन ? कुत्र सन्ति ते रूपिद्रव्यसाक्षात्कारिणोऽवधिज्ञानिन ? दृश्यन्ते क्वापि चतुर्दशपूर्विणः ?

---

१ स्वर्गापगा-गङ्गा ।

★ ## आठवां समुच्छ्वास

अप्रिय होते हुए भी माता की तर्जना के समान हितकारी, कडवी होते हुये भी चिरायता के समान ताप को दूर करने वाली, गल्य-चिकित्सा के तुल्य अन्तर-रोग की नागक हितेच्छु श्रावको के द्वारा कही हुई वाणी सुनकर वास्तविक हार्द पाने पर भी भिक्षु ने अपने गुरु के गौरव को उज्ज्वल बनाते यथार्थता को आवृत करते हुए कहा—"धर्मानुराग से जिनकी हड्डी और मज्जाएँ रगी हुई है, ऐसे भक्त श्रावको ! मर्वज्ञो प्रणीत आगमो का नवनीत के उपमान स्याद्वाद का रहस्य पाने पर भी तुमने माधुओ को खूब वक्र दृष्टि से देखा। हाँ ! हम यह जानते है कि तुम्हारा कथन पूरी तरह तत्त्व-शून्य नही है। प्राय. मुनिजन दोप की छाया मे पलने वाले हो गये है, यह शका अनुचित नही है, परन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि का प्रभाव सब जगह होता है, इसमे विद्वद्जनो के दो मत नही है। कहाँ वह 'वज्र-ऋषभ-नाराच' सहनन, कहाँ वह 'समचतुरस्र' सस्थान ? कहाँ वह पूर्व कालिक लाखो पूर्वो की आयु ? कहाँ वह सुमेरु पर्वत के समान धृति ? कहाँ वह गगा नदी के जल के समान निर्मल मति ? कहाँ वह परम उज्ज्वल वैराग्य ? कहाँ है वे चौतीस अतिगयो से युक्त सुरेन्द्र-नरेन्द्र-पूज्य तीर्थङ्कर ? कहाँ है वे विगिष्ट और उत्कृष्ट लब्धि के धनी गणधर ? कहाँ है वे सर्व संज्ञी जीवो के मनोगत भावो के ज्ञाता मन पर्यवज्ञानी ? कहाँ है वे रूपी द्रव्यो को साक्षात् देखने वाले अवधिज्ञानी ? क्या दीखते है कही चतुर्दश-पूर्वी ? क्या श्रुतकेवली भी

छन्नालये सुप्ति, मत्कुणगण-सस्तुत गोमयलिप्तं प्राङ्गणम्, जागरण-रसिकाना मशकाना स्त्रागतगानम्, जातु वृश्चिकानामपि संगतम्, क्वचिद् भोगिनामपि[1] च योगिसेवार्थमागम । नूनं तत्र भानं भवेत्साधूना सौख्यपरम्पराया., तत्रात्मार्थिन एव निर्ग्रन्थास्तानि कृच्छ्राणि सम सहन्ते, अध्यासते, क्षमन्ते, तितिक्षन्ते च ।

श्रद्धालुशेखरा ! केवलमोष्ठ-जिह्वा-व्यायामे नानुभूयते मुनिमार्ग-दुर्गमता। छिद्र-दर्शने जनानामुन्निद्रा दृगप्यन्धीभवति; तदन्तस्तत्त्व-विमर्शने। कर्णामृताया सङ्गरकथाया[2] सपत्राकृति[3] जानन्ति प्राणान् करे कुर्वाणा अशान्तास्तत्र युद्धमाना विक्रान्ता[4]। वयमपि जानीमो भूरिश सेव्यमानान् दोषान्, परन्तु यदर्थं बलात् समयोऽनुरुणद्धि तत् सदोषमदोष वा कथमपि स्वीकार्यमेव स्यात्। विद्मो वयमपि यन्न भवति साधूना स्थानम्। यत्र कुत्रापि स्त्री-पशु-पण्डक-विरहितमेषणीयं स्थान सुलभं भवेत्तत्रैव यथाकाल स्थेयं महर्षिभिरिति, परन्तु कि कुर्महे, न तादृग् निर्दोष-मास्पद[5] सुप्रापं प्रतिग्रामम् । सकीर्णानि गृहमेधिना कुलानि[6]। न तत्र सुख समाविशन्ति[7] तत्पारिवारिका जना अपि, तत्र कथ साधूना स्थितिरौचित्यमास्कन्दति ? तत्रस्था साधव शृण्वन्ति गृहिणा परस्परालापान्, पश्यन्ति च तेषा यौवनारूढा कन्या, स्नुषाश्च। बालवैधव्यदग्धा स्निग्धा काचित्कामुकी लब्धावसरा व्रतिना ब्रह्मचर्ये चाञ्चल्यमापादयति। एकान्तमन्तरेण न जायते स्वाध्याय-ध्यानादिक शोभनतया। अत स्थानक-निर्माण स्वल्प दोष-दुष्टमपि बहु-गुणमिति मामकीना मति । पुस्तक-पात्रादी-न्यपि न सर्वदा सर्वत्र सुलभानि। यत्र मिलन्ति संगृह्णन्ति[8] संग्रह-कुशला आचार्योपाध्याया यथोचितम्। न स उपकरणराशिः

---

१. सर्पाणाम्। २. रणकथाया । ३. तीव्रा पीडाम्। ४ वीरा ।

शय्या, गोवर से लिपा हुआ खटमलो से सकुल वहाँ का आँगन, रातभर जागरण रसिक मच्छरो का स्वागत गान, कभी-कभी विच्छुओ और सर्पो का भी योगियो की सेवा मे आगमन हो जाता है तभी साधुओ की सौख्य-परम्परा का भान होता है। वहाँ आत्मार्थी निर्ग्रन्थ ही उन कष्टो को समता से सहते हैं और समभाव से रहते है।

श्रद्धालु श्रावको ! केवल होठ और जिह्वा के व्यायाम से साधुओ के मार्ग की दुर्गमता का अनुभव नही हो सकता। दोप-दर्शन मे खुली हुई आँख भी उसके अन्तर रहस्य को देखने मे अन्धी हो जाती है। कानो को अमृत के समान लगने वाली युद्ध-कथा की प्रचंड पीडा को, प्राणो को हथेली पर रखकर युद्ध करते हुये वीर ही जान सकते है। हम भी लगने वाले वहुत से दोषो को जानते है, परन्तु जिसके लिये समय एकदम विवश कर देता है उस सदोप या निर्दोष को किसी प्रकार स्वीकार करना ही पडता है। हम भी जानते है कि साधुओ के स्थान नही होते। जहाँ कही भी स्त्री-पशु आदि से रहित एषणीय स्थान सुलभ हो वही मुनियो को यथा-काल रहना चाहिये, परन्तु क्या करे प्रतिग्राम मे वैसा निर्दोप स्थान मिलना सुलभ नही होता। गृहस्थो के वडे वडे परिवार होते है। मकान मे जहाँ सुख-पूर्वक पारिवारिक जन भी नही समा पाते वहाँ साधुओ का ठहरना कैसे औचित्यपूर्ण हो सकता है ? वहा ठहरने वाले साधु गृहस्थो के आपस मे होने वाली वातो को सुनते हैं और यौवनवती कन्याओ तथा वहुओ को देखते है। काम-प्रताडित कोई वाल-विधवा मौका पाकर साधुओ के ब्रह्मचर्य मे चचलता लाने का प्रयास कर देती है। एकान्त के विना स्वाध्याय और ध्यान आदि के कृत्य भी अच्छी प्रकार से नहीं हो पाते। इसलिये स्थानकों का निर्माण स्वल्प दोष से दूषित होते हुये भी वहुत गुण वाला है, ऐसी मेरी मान्यता है। पुस्तक, पात्र आदि भी सदा सव जगह नही मिलते। जहाँ मिलते है सग्रह-कुशल आचार्य, उपाध्याय यथोचित

५ आस्पदम्-स्थानम्। ६ गृहाणि। ७ समाविष्टा भवन्ति। ८ संग्रह कुर्वन्ति।

निभाल्यन्ते किमु श्रुतकेवलिनाऽपि ? चतुरशीति-संख्याकेष्वागमेष्वपि अत्यल्पा [सकुचिताश्छिन्नभिन्नगतिमाप्ता आप्तागमा दृष्टिपथ पुनन्ति। तत्रापि भिन्नभिन्ना आचार्या भिन्नभिन्नमतावलम्बिन भिन्नभिन्नार्थप्ररूपका स्वदृष्टि-वैशिष्ट्यमाम्रेडयन्तो गर्वपर्वता प्रेक्ष्यन्ते। एकेन प्रतिपादित पर शकलयति,[1] परै शकलितमन्य सधत्ते। सत्यम्—आधुनिकमार्हतं मत तितउ-साहश्यमुच्चिनोतीति[2] सर्वप्रतीतम्।

श्राद्धा ! इदानीतने काले चेन्न वय समयमनुसरामस्तदा कथमिव जैनी परम्परा स्थास्नुतामाश्रयेत इति विचारणीयं विचक्षणै। यूयमेव पापभीरुका न वयमित्यचतुरस्रो विचार। ये वैरङ्गिकवृत्त्या सर्वा हस्तगता पौद्गलिकसामग्री पृष्टत कृत्वा वालुका-कवलमिव नीरस संयममग्राहिपत, कृत्स्नान् पूर्वापर-संवन्धान् जलाञ्जलि दत्त्वाऽऽप्राणधारण[3]मसाधारणमसि-धाराव्रत-मधृपत, नहि तेषा हृदये कि चारित्रस्य चिन्ता ? किमु मुधैव तैर्महाघोर ब्रह्मचर्यमाचर्यते ? किमन्तर्गडु[4] हि क्षुत्-तृषा-शीताऽऽतपा-दिकष्टानि मृष्यन्ते। किमफलमेव रोमाञ्चकृच्चिकुरलुञ्चन-परीषह सासह्यते। किमु वन्ध्यमेव यत्र तत्र सर्वत्र वभ्रम्यमाणैर्विपक्षाणा अनेकेऽभिभवा निर्वैर क्षम्यन्ते ? पुन यत् किमपि रुचितमरुचित, कदुष्णमुष्णं, कदन्न पक्वान्न सुवासित पर्युषित वा पात्र-पतितं भोज्य समतया भुञ्जानैर्महाव्रतिभिरेवावसीयते[5] साध्वाचार-दु-साध्यता। पुन प्रतपति मार्तण्ड-मण्डले तपर्त्तौ[6] विहरमाणा महाव्रता[7] कॉस्कान् परीषहान् न सहन्ते। यथा-प्रस्वेद-क्लिन्ना तनु, तृषाशुष्यदास्यम्, धृतभारौ स्कन्धौ, धूल्या दन्दह्यमानौ क्रमौ, न मिलति ग्रामटिकासु यथार्हं शीतलं नीरम्, वीतवातायने

१ खण्डयति। २ चालनीतुल्यम्। ३ यावज्जीवम्। ४ निरर्थकम्।

कहाँ दृष्टिगोचर होते है ? चौरासी संख्या वाले आगमो मे बहुत थोड़े रह गये हैं, वे भी संकुचित और छिन्न-भिन्न हो गए हैं। इतने पर भी भिन्न-भिन्न मतावलम्बी, विभिन्न आचार्य अलग-अलग अर्थो की प्ररूपणा करते हुए अपनी ही दृष्टि का बार-बार वैशिष्ट्य बताते हुए गर्व के पर्वत बने दीखते है। एक का प्रतिपादित मत दूसरा खण्डित करता है। त्यो ही एक के द्वारा खण्डित किया हुआ मत दूसरा मण्डित करता है। निश्चित ही आधुनिक जैन संघ छलनी के समान बन चुका है। यह सर्वविदित है।

श्रावको ! इस काल मे हम समय के अनुसार न चले तो जैन परम्परा कैसे टिक सकती है ? यह तुम्हारे जैसे चतुर श्रावको को विचार करना चाहिये। तुम्ही पाप भीरु हो, हम नही है, यह अनुचित विचार है। जिन्होने वैराग्य-वृत्ति से सब उपलब्ध पौद्गलिक सामग्री को पीठ देकर, बालू के कवल के समान नीरस संयम को ग्रहण किया है, जिन्होने आगे-पीछे के सब सम्बन्धो को जलाञ्जली देकर जीवन-पर्यन्त असाधारण असिधारा-व्रत धारण किया है, क्या उनके हृदय मे चारित्र की चिन्ता नही है ? क्या व्यर्थ ही वे महाघोर ब्रह्मचर्य का पालन करते है ? क्या बेमतलब ही भूख, प्यास, सर्दी और गर्मी आदि के कष्ट सहते है ? क्या निष्फल ही रोंगटे खड़े कर देने वाला केश-लुंचन का संकट सहन करते है ? क्या बेकार ही जहाँ-तहाँ सब जगह परिभ्रमण करते हुये विरोधियो के अनेक आतंक निर्वैरभाव से सहन करते है ? और रुचता या अरुचता, ठण्डा या गर्म, खराब अन्न या पकवान, ताजा पकाया हुआ या बासी जो कुछ पात्र मे आता है उस भोजन को समता से खाते हुये महाव्रती ही साध्वाचार की दु साध्यता जानते है। प्रचण्ड सूर्य से संतप्त ग्रीष्म-ऋतु मे विहार करने वाले महाव्रती कौन कौन से परीषहो को नही सहते ? पसीने से गीला शरीर, प्यास मे सूखा हुआ मु ह, बोझ लदे हुये कन्धे, उत्तप्त धूल से जलते हुये पैर, इतने पर भी छोटे गाँव मे कल्प के मुताबिक पीने योग्य पानी का नही मिलना, झरोखो से रहित एकदम छाये हुये मकान मे

५. ज्ञायते। ६. ग्रीष्मर्तौ। ७ महान्ति व्रतानि येषा ते महाव्रता मुनय'।

प्रतिग्राममुद्‌वोढुं शक्य, अत स्थानके स्थापनं तस्य नौचित्ती-मतिक्रामति किञ्चिद् दोपभागपि।

धर्म-मर्मज्ञा! तुरीयार-मुनितुलाया[1] कथं तोलयन्ति भवन्तो दु षमार-तुलातोलनीयानैदयुगीनान्मुनीन्! वाकुशिकाः प्रतिसेविनोऽपि निर्ग्रन्था न सन्ति किमु निर्ग्रन्थषट्के स्थानमाप्ता भगवत्याम्! चेद् दोपा न समुद्भवेयुस्तदा काऽऽवश्यकता ननूभयो सन्ध्ययो प्रतिक्रमणस्य! षड्भि कारणैश्छद्मस्थ जानीयादिति शास्त्र-निरूपणपरा भगवदुक्तिर्निरस्यति सदिहानाना सन्देहान्। स तु हिसामपि विदधाति, मृषामपि वक्ति, यावन्न यथावादी तथाकारी च भवतीति।

वत! वत! यावन्नोन्मिपति रङ्गत्सप्तभङ्गी-नय-निक्षेपतरङ्गिता दृष्टिस्तावद् वहुविदितमपि नहि सम्यक्त्वाभिव्यक्ति करोति पण्डितमन्यानामपि। प्रतिपदं प्रतिविम्विता स्युरुत्सर्गाऽपवादा निर्वाधा विधि-निषेध-संवादा समयेषु[2]। यदेकत्र निषिध्यते तदेवा-[3]ऽपोद्यतेतरामन्यत्र। सर्वत्र द्रव्य-क्षेत्र-कालादि-भावा हेतुत्वमाद्रियन्ते। नहि प्रत्यक्षेऽपि प्रतिक्षिपन्ति सुमेधसो द्रव्यादीन्। क [4]प्रालेय-कालार्हमाविक[5] कम्वल विभर्त्ति तनुतरवस्त्रश्लाघे निदाघे[6]! अतो ग्राह्याग्राह्य - कल्प्याऽकल्प्य - त्याज्याऽत्याज्य - पथ्याऽपथ्य-सेव्याऽसेव्यादिविकल्पा द्रव्यक्षेत्र-कालादितल्पे शयाना एव शोभन्ते-तमाम्। अनेकान्तमेव कान्त प्रतिभाति विविक्तात्मना हृद्दर्पणे। नह्येकपल्लवग्राहि सदेवेति निश्चयानुयायि चैकान्तम्।

आधाकर्मिकौद्देशिकाद्या अतिचारा अपि विचारतुलाया सचारिताः सन्त सुतरा संगच्छन्तेऽच्छतया। यथाधाकर्मादिदोषान्

---

१ चतुर्थाऽरमुनिसमानतायाम्। २. शास्त्रेषु। ३ अपवादरूपेण

सग्रह करते हैं। वह उपकरण मंचय हर गाँव नही ढोया जा सकता। इसलिये थोडा दोप होते हुए भी उसे स्थानक मे रखना उचितता की मर्यादा को नही लाँघता।

धर्म-मर्मज्ञो! दु पम पंचम काल के तुला मे तोलने योग्य आधुनिक मुनियो को आप चौथे आरे के मुनियो की तुला मे कैसे तोलते हैं? भगवती सूत्र मे वर्णित छह प्रकार के साधुओ मे वाकुगिक और प्रतिसेवी भी क्या निर्ग्रन्थ नही होते? यदि किसी प्रकार के दोप नही होते हो तो दोनो सन्ध्याओ मे प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है? 'छह कारणो से छद्मस्थ को जानना चाहिये' शास्त्रगत यह भगवान् की उक्ति शंकाशीलो की शका का निरसन कर देती है। छद्मस्थ तो हिसा भी करता है, मृपा भी वोलता है, यावत् यथावादी तथाकारी नही होता।

वस-वस जब तक सप्तभगी, नय एवं निक्षेप से युक्त होकर दृष्टि परिष्कृत नही हो जाती तव तक पण्डित-मानियो का वहुत जाना हुआ भी सम्यक्त्वमय नही होता। आगमो मे उत्सर्ग, अपवाद, विधि, निपेध के सम्वाद अवाधित रूप से पद पद पर प्रतिविम्वित है। जिसका एक जगह निपेध किया गया है उसको दूसरी जगह अपवाद रूप से स्वीकार किया गया है। सब जगह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के हेतुत्व का ममादर किया गया है। विद्वान् लोग प्रत्यक्ष मे भी द्रव्य आदि का खण्डन नही करते। एकदम महीन वस्त्र धारण करने योग्य गर्मी के दिनो मे कौन शीतकाल के उपयुक्त कम्वल को धारण करता है, इसलिये ग्राह्य-अग्राह्य, कल्प्य-अकल्प्य, त्याज्य-अत्याज्य, पथ्य-अपथ्य, सेव्य-असेव्य आदि के विकल्प द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के माध्यम से ही सुलझाये जा सकते है। विवेकशालियो के हृदय-दर्पण मे अनेकान्त ही प्रतिविम्वित होना है। 'सत् ही है' ऐसा एक पल्लव-ग्राही निश्चयात्मक दृष्टिकोण सही नही है।

आधाकर्मी और औद्देशिक आदि अतिचार भी विचार की तुला पर चढाने के वाद अच्छी तरह संगत दीखने लगते है। जैसे कि आधाकर्मी आदि

स्वीक्रियते। ४ शीतकालधारणीयम्। ५. आविकम्, ऊनी, इतिभापा। ६ उष्णकाले।

नोत्सर्गमार्गं सेवन्ते महर्षय, परन्त्वातङ्के, दुर्भिक्षे, जराग्लानाद्यवस्थाया वाऽनाचीर्णान्याचरन्तोऽप्याचारिणो नह्यनाचारिणो भवन्तीति राद्धान्ताना[1] ध्वनि । तद्दातारोऽल्पपापसेविनोऽपि वहुनिर्जराजर्जरितपापप्रकृतयो जायन्त एवेति स्पष्टा प्रतिभू[2]र्व्याख्याप्रज्ञप्ति ।

श्राद्धा । राद्धान्ताना रहस्य नह्यपर्युपरि चङ्क्रम्यमाणै सुप्राप गुरोरवगमं विना । सेवित-मितद्रुतीरो धीरोऽपि[3] कि प्राप्नोति शङ्ख-शूक्तिकाद्यतिरिक्तम् । मौक्तिकादिक तु स एव साहसिकशिरोमणिर्लभते य प्राणान् पणीकृत्यागाधजलमकूपारतलमवगाहते[4] धीवरतामाश्रयमाण । एकैकस्याप्यक्षरस्यानन्तसख्याका गमा आगमिकै स्वीक्रियन्ते, तदा कथ सामान्यधीधरो नर स्वबुद्ध्या कल्पितानेवार्थान् प्रमाणीकृत्य परै प्रस्तुतान् भावानपलपति ? एकमेव वाक्य पदच्छेदेन, विरामभेदेन, काकुध्वनिना वा प्रयुक्तमर्थपार्थक्य श्रयते, तदा कथमिव विशिष्ट ज्ञानं विना न पुनर्विचारचारार्हा[5] स्वमान्यता प्रचार्यते दुराग्रहव्यग्रेण सदपेक्षासामग्री-शून्येन ।

पुनः शिष्यविपयमुद्भावयद्भिर्भवद्भिर्यद्दोषरज्जुरायामि[6] तत्रापि विमर्श-वैकल्यमेव शल्यमुत्पादयतीति मे निर्णय ।

किञ्च-वितत-मायाजाले साम्प्रतिके काले चकास्ति कि पूर्वसमयसमा तत्त्व-चिन्तन-पावनाऽपूर्वा वैराग्यभावना ? क्वास्ति जम्बूकुमार-शालिभद्र-मेघकुमार-धन्यर्षि-समकक्षा दीक्षाया स्थिति ? अधुना तु याथाकथाच, येन केन प्रकारेण, य कमपि, विशेषज्ञमल्पज्ञ वा, कुलीनमकुलीन वा, स्वयमागत मूल्य-क्रीत वा शिष्य शिष्या च यदि न दीक्षयामस्तदा कथ चलति साधुवंशपरम्परा ?

---

१ सिद्धान्तानाम् । २ साक्षी । ३. प्राप्त-समुद्रतीरो । ४ अकू-

दोषो का साधुजन उत्सर्ग मार्ग (साधारण चर्या) मे सेवन नही करते, परन्तु आतक, दुर्भिक्ष और ग्लान आदि विवश दशा मे ही करते है। ऐसी स्थिति मे अनाचरणीय का आचरण करते हुए भी मुनिजन भारी दोषो के सेवन करने वाले नही होते, यह सिद्धान्तो की ध्वनि है। उपर्युक्त आहारो के दाता अल्प पाप का सेवन करते हुए भी बहुत निर्जरा के कारण पाप प्रकृति को जर्जरित करने वाले होते है। इसकी स्पष्ट साक्षी भगवती सूत्र है।

श्रावको! गुरु-सेवा के विना सिद्धान्तो का रहस्य केवल वाह्य ज्ञान से नही मिलता। समुद्र के एक किनारे खडा व्यक्ति शख, सीप आदि के सिवाय क्या पा सकता है? मोती आदि रत्नो को तो वही साहसिक-शिरोमणि धीवर पाता है जो प्राणो को हथेली मे लेकर अगाधजल मे जाकर समुद्रतल का अवगाहन करता है। आगमकारो ने एक-एक अक्षर के भी अनन्त गम्य (तात्पर्य) स्वीकार किये है, तव सामान्य वुद्धि वाला मनुष्य अपनी वुद्धि से ही कल्पित अर्थो को ही प्रमाण मानकर दूसरो द्वारा प्रस्तुत किये गये भावो का कैसे खण्डन कर सकता है? एक ही वाक्य पद-छेद से, विराम भेद से या ध्वनि-भेद के कारण प्रयुक्त अर्थ से भिन्न अर्थ का बोधक हो जाता है। तव फिर कैसे विशिष्ट ज्ञान के विना दुराग्रह-ग्रस्त होकर निरपेक्ष भाव से 'इस पर पुनर्विचार की आवश्यकता नही' ऐसी अपनी मान्यता का प्रचार किया जाता है।

पुन तुमने शिष्यो के विषय को उठाते हुये जो दोष वतलाए है वहाँ पर भी चिन्तन-शून्यता ही परिलक्षित होती है, ऐसा मै मानता हूँ। क्योकि फैले हुये माया-जाल वाले इस काल मे प्राचीन समय के समान अपूर्व वैराग्य-भावना कहाँ है? जम्बूकुमार, शालिभद्र, मेघकुमार और धन्यमुनि के तुल्य दीक्षा की दशा कहा है? अव तो जैसे तैसे, जिस किसी प्रकार से, जिस किसी को, विशेषज्ञ या अल्पज्ञ, कुलीन या अकुलीन, स्वय आए हुए या खरीदे हुए

पारतलम्—समुद्रतलमित्यर्थ। ५ पुनर्विचारणीया। ६ दीर्घीकृता।

प्रतिग्राम श्रावका मार्गयन्ति साधूना साध्वीना चतुर्मासीम्। यदि न स्यात् शिष्यसपद् तदा कथमेधते जनताया धर्मभावना। रक्षक-विहीन क्षेत्र कियत्कालं स्थेष्ठं[1] स्यादिति विचारणीयम्। यथाकथञ्चिद् गृहीतेष्वपि नहि निस्सरन्ति योग्या इति न यथातथम्। भद्रा जडा मन्दमेधसोऽपि शिष्या सद्गुरु-साहचर्यमाप्ता दृश्यन्तेऽङ्गुलीगृहीतनामधेया साम्प्रतमपि। नहि कोऽपि जातमात्रो निकषार्हो जाजायते योग्यायोग्य-निकष पाषाणे। भवति शुक्तिगत वारि मौक्तिकम्, द्विजिह्व[2]जिह्वाऽऽलीढ तदेव जल जायते हालाहलम्। अतोऽलं पूर्वपरीक्षया दीक्षया, शिक्षयैव नरो वोभवीति भविष्यत्वरो गुणिशेखर, नानाविध-विद्यामण्डनमण्डित प्रखरपण्डितश्च। प्रश्चात्कृता भूग्शिो मुनी-भूयापीति न तर्कणीयम्। तीर्थकृद्-विद्यमानतायामपि नन्दीषेणा-षाढभूति-मेघकुमार-प्रभृतय न किं पुन पतिता दशामापन्ना.? केन निर्णेतु पार्यते यत् कस्मिन् काले कस्य भावना कीदृशी भवित्रीति? अतो[3]ऽस्तिमद्भिर्दीक्षा-दानविषये यत् किमपि योगदान दीयते तन्न सर्वथा हेयमिति मे मान्यता। स्थित्यनुसार कार्य-कारीनूनमार्य-सत्तमो विलसतीति विदा वचः।

अन्तरीया स्थिति कीदृगस्तीति ,न गभीरे नीरे प्रवेष्टव्यम्। शोभन्ते सर्वेपि परिहित-सिचया[4]च्छन्नशरीरा धीरा वस्त्रेषु न कि नाग्न्यमङ्गीकुर्वन्ति गुप्ताङ्गोपाङ्गान्यपि तेषाम्। यत्राऽस्ति संघो जागर्त्येव तत्रान्तरङ्ग कोऽपि विकारो यदा कदा। प्रती-कारोऽपि जायत एवाचार्यद्वारा यथासाध्यः। न कि समुत्पद्यन्ते हृष्ट - पुष्ट - शरीरेऽपि नानाविधागदा। नहि यूकोत्करोत्पत्तौ वाससा परित्याग. श्लाध्यः सुधीभि। योद्धव्य खलु कृतसुखापकर्षै संघर्षै. सार्वमाय शूलिकै[5]।

---

१ अतिशयेन-स्थिरम्। २. सर्प-जिह्वा। ३ धनिभि। ३ धृत-

को शिष्य या शिष्या के रूप मे यदि दीक्षित न करे तो साधु-परम्परा कैसे चले ? हर गाँव के श्रावक साधु साध्वियो के चातुर्मास की माँग करते है। यदि शिष्य-सम्पदा न हो तो जनता की धार्मिक भावना कैसे वृद्धिगत हो ? रक्षक विना खेती कैसे टिक सकती हैं, यह सोचना चाहिये। जैसे तैसे ग्रहण किये हुओ मे योग्य नही निकलते, यह वात यथार्थ नही है। सरल, भोले और मद-वुद्धि शिष्य भी सद्गुरु का पवित्र सान्निध्य पाकर अगुलियो पर नाम गिनने योग्य हो जाते है। ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। कोई भी उत्पन्न होते ही योग्य-अयोग्य की कसौटी पर कसने योग्य नही होता। जो पानी सीप के मुँह मे जाकर मोती वनता है, वही पानी सर्प के मुँह मे जाकर हलाहल वन जाता है। इसलिये पूर्व-परीक्षित दीक्षा का कोई इतना मूल्य नही रह जाता। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य भविष्य मे सुन्दर, गुणियो का शिरमौर, विभिन्न प्रकार की विद्याओ से मण्डित और प्रखरपण्डित वन जाता है। मुनि वनकर भी वहुत से वापिस चले जाते है, यह तर्क भी मत करना, क्योकि तीर्थङ्कर महावीर की विद्यमानता मे भी नन्दीषेण, आषाढभूति और मेघकुमार आदि क्या वापिस पतित दशा को प्राप्त नही हो गये थे ? कौन निर्णय कर सकता है, किस समय किसकी भावना कैसी हो जायगी ? इसलिये धनवान श्रावक दीक्षा दान के विषय मे जो कुछ भी योगदान देते है वह सर्वथा हेय नही है, ऐसा मेरा अभिमत है। 'समय के अनुसार कार्य करने वाले ही आर्य-श्रेष्ठ होते हैं।' यह तत्वज्ञो की वाणी है।

आन्तरिक स्थिति कैसी है, इस गहरे पानी मे उतरने की आवश्यकता नही। सव ही कपडे पहने हुये और शरीर ढके हुये सुशोभित होते है। वैसे कपडो मे कौन नग्न नही है ? जहाँ सघ है वहाँ अन्तरग कोई विकार जव तव जागता ही रहता है। आचार्य के द्वारा इसका यथासाध्य प्रतिकार भी होता ही है। हृष्ट-पुष्ट शरीर मे भी क्या अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न नही हो जाते ? जूओ के भय से वस्त्र-परित्याग को कोई विद्वान् सगत नही वता सकता है। सुख का अपकर्ष करने वाले सघर्षो के साथ कर्मठो को कडाई मे युद्ध करना ही चाहिये।

वस्त्रा'। ५. तीक्ष्णकर्मकृद्भि।

इदमेव प्रान्ते निगद्य विरमामि, यत् स्वकीय तत् कथमपि रक्षणीय, प्रतिपालनीय, क्वापि स्थगनीयमाविष्करणीय च किमपि शासनरक्षार्थम्। न तादृक् किमप्यनुष्ठेयं यथा स्वगौरवं धूलिसात्स्यात्।

धारासारै: प्रवृष्य विरिरसुमु'दिर इव तूष्णीमासेवमाने भिक्षुकुञ्जरे भिक्षौ श्रावका प्रभाविता इवाऽऽश्चर्यचकिता इव समजनिपत। तद्विशालबुद्धिवैभवं संलक्ष्य पुनरसाधारणचातुर्यमाकलय्य प्रसन्न-वदनारविन्दा सविनयमचीकथन्—"भगवन्! यादृगी युष्माकं कुन्देन्दु-हरहास-समुज्ज्वला कीर्त्तिस्ततोऽप्युत्कृष्ट युष्मासु गुणगौरव, विद्यावैभव, वाचोयुक्तिपाटवं च समधिगम्य मोमुह्यन्तेऽस्माकमन्त करणानि। अल्पेऽपि समये समयानां स्वध्ययनमकारि श्रीमद्भिरित्यध्यक्षमेवान्वभावि[1] अस्खलितां भवत्प्रयुक्तिशैलीमनुभूय। वय तु नितान्तमल्पज्ञा: कि पुन: पृच्छाप्रागल्भ्य विद्‌महे। यत् किमपि प्रत्युक्त तद् युक्तियुक्तमेव भवताम्, परन्त्वास्माकीना स्वच्छ-हृदयसमुत्था शङ्कुवत् हृदय क्लिश्यमाना शङ्का नहि निर्मूलनाश नष्टा। न क्षमामहे वयं बहुश्रुतानामग्रतस्तर्क-कार्कश्य निदर्शयितुम्; तथापि वधुराण्यपि भवता प्रत्युत्तराणि सामस्त्येन सत्यधुरन्धराणीति नास्माकमात्माङ्गीकर्त्तु'मलम्।

अस्तु, युष्माकं साहजिकं वैराग्य, समुज्ज्वलं चारित्रं च निरीक्षमाणा ससम्मानं भवन्त त्रि:[2]कृत्वो वन्दामहे, आदक्षिणप्रदक्षिणा च कुर्महे, पुनराशास्महे शीघ्रमायास्यति निकटभविष्ये हि कोऽपीदृश सुसमयो यदा स्वय भवन्तोऽपि स्वाचार-विषये

---

१ अध्यक्षमेव-प्रत्यक्षमेव। २ तीन वार, इतिभाषा।

अन्त मे यही कहकर मैं विराम लेता हूँ कि जो अपना है उसकी किसी प्रकार रक्षा और प्रतिपालना करना ही चाहिये। शासन की रक्षा के लिये कही कुछ स्थगित एव कही कुछ नया लागू करना ही चाहिए, परन्तु ऐसा कुछ भी नही करना चाहिए जिससे स्व-गौरव मिट्टी मे मिल जाये।

तीव्र वेग से बरसे हुये मेघ के समान भिक्षु के मौन होने पर श्रावक प्रभावित एवं आश्चर्य चकित हो गये। उनके विशाल बुद्धि-वैभव को और असाधारण चातुर्य को देखकर प्रसन्नमुख से सविनय बोले—"भगवन्! जैसी आपकी कुन्द-कुसुम, चन्द्रमा और शंकर के हास्य के समान समुज्ज्वल कीर्ति है, उससे भी उत्कृष्ट आप मे गुणगौरव, विद्या वैभव और वक्तृत्वकौशल को देखकर हमारा हृदय हर्ष-विभोर हो रहा है। अल्प समय मे ही आपने बहुत अच्छा अध्ययन कर लिया है, यह आपकी अस्खलित प्रत्युत्तर शैली को देख कर हमने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। हम तो निरे अल्पज्ञ है। आपसे हम लोग क्या पूछने का साहस दिखलाये? आपने जो समाधान दिये है वह युक्तियुक्त ही है, परन्तु हमारे निर्मल हृदय मे उठी शका शकु की तरह हृदय को प्रपीडित करती है वह निर्मूल नाश नही हुई है। आप जैसे बहुश्रुतो के आगे हम तर्क की कर्कशता दिखाने मे समर्थ नही है, फिर भी आपके सुन्दर उत्तर पूर्णतया सत्य की धुरी को वहन करते है—यह हमारी आत्मा स्वीकार करने को तैयार नही है।"

अस्तु, आपके सहज वैराग्य और उज्ज्वल चारित्र को देखते हुये हम सम्मान सहित आपको तिक्खुत्ते के पाठ से वन्दना करते है, आदक्षिण-प्रदक्षिणा देते हैं और आशा करते है कि निकट भविष्य मे शीघ्र ही कोई ऐसा

विभ्रष्टुं वाधिता भविष्यन्तीति। यत् सत्यं तत् सदातन सत्यमेव, न तत् कदापि परावर्त्ततुं शक्यते केनापि नाकिनायकेन[1]।

एव विज्ञप्य सविनयमुर्ध्वंदमीभूय[2] त्रि कृत्व[3]-पाठमुच्चारयन्तो विधिवद् वन्दना विधाय स्व स्व स्थानमासेदिवासस्ते।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचतेऽभिनिष्क्रमणाख्ये महाकाव्ये गद्यप्रबन्धे अष्टम: समुच्छ्वास : ।।

१. इन्द्रेण। २ खड़े होकर, इतिभाषा। ३ तिक्खुत्ता के पाठ को बोलते

समय आयेगा, जब आप स्वय ही अपने आचार के विषय मे चिन्तन करने के लिये बाधित हो जायेंगे। जो सत्य है वह शाश्वत सत्य ही रहता है, वह कभी किसी इन्द्र के द्वारा भी परिवर्तित नही हो सकता।

इस प्रकार वे सविनय विज्ञप्ति कर खडे खडे तिक्खुत्तो के पाठ का उच्चारण करते हुए विधिपूर्वक वन्दना करके अपने अपने स्थान को लौट गए।

आठवां समुच्छ्वास समाप्त



इतिभाषा।

नवमः समुच्छ्वासः | *

वाह्याचारैश्चञ्चच्चातुर्य-चुम्बित-विचारैरपि सर्व-जगज्जन्तु-जात-हितं शास्त्र-विहितं नहि सत्यमपिहितमास्ते[1]। क करेण वसितु[2] शक्यतेऽर्यमाण[3] प्रभाभि स्वयमुद्भासमानम्। आयस्यत्यल्पमति[4] स्वमति-कौशलेन याथार्थ्य व्यर्थयितुम्, किन्तु भ्रामयति प्रकृति-रीदृग चक्र, यथा स्वत सत्यमुद्घाटित स्यात्, पाटित स्याद् गाढमपि च छद्मावरणम्।

आचार्य-प्रदत्त स्वकार्य सम्यक् सम्पन्नमिति मोमुद्यमानो भिक्षुरित्थ विभावयितु लग्न—"क्व गावो गोपालकमवगणय्य स्थातु शक्नुयु? प्रस्तरान् न्यायाश्च विश्वकर्मेव कुशलकर्मा कारुर्यथा - यथा चिचीपते तथा-तथा ते चारुचितिमञ्चन्ति वैचित्रीमारचयन्त 'क पन्था' इति पर्यनुयोगे 'महाजनो येन गत स पन्था' इति युक्तियुक्तोक्तिर्विलसति प्रमाणितवचनानाम्।

अहो! कियत्यो विचिकित्सा आसन् श्रावकाणा मानसमन्दिरे रममाणास्ता मम स्वल्प-प्रयासेनैवाभ्रविलाय विलीना। परि-पीनतामाप्नुवन् ध्रुवमस्माभिराचर्यमाणा सामयिक-रुचिरुचिरा परम्परा। कुतोऽपि जायमानं सूक्ष्ममपि छिद्रं तत्कालं

---

१ पिहितं अपिहित। २. वस आच्छादने—इत्यस्य धातोर्वसितुमाच्छा-

★ | # नौवां समुच्छ्वास

सभी प्राणी वर्ग के लिए हितकारी जो शास्त्र-विहित सत्य है, वह बाह्य आचारो और चातुर्य-पूर्वक प्रस्तुत किए गए विचारो के द्वारा कभी आवृत नही हो सकता। किरणो से स्वय उद्भापित होते हुए सूर्य को हाथ से कौन ढक सकता है ? मन्द-बुद्धि ही अपने मति-कौशल से यथार्थ तत्त्व को व्यर्थ करने का आयास करता है, किन्तु प्रकृति ऐसा चक्र घुमाती है कि सत्य स्वत उद्घाटित हो जाता है और छद्म का सघन आवरण भी फट जाता है।

आचार्य के द्वारा सौंपा हुआ अपना काम अच्छी तरह से सम्पन्न हो गया है, इसका मोद मनाते हुए भिक्षु यो सोचने लगे—"गौए गोपाल की अवगणना करके कहाँ रह सकती है ? पत्थरो और न्यायो को तो विश्वकर्मा के समान कुशल कारीगर जहाँ-जहाँ लगाता है वहाँ-वहाँ वे विचित्रता लिए हुए उचित दीखने लग जाते है। 'मार्ग कौन सा है ? यह पूछने पर, 'जिससे बहुत आदमी गुजर चुके हो वही मार्ग है' यह प्रामाणिको की उक्ति युक्ति-युक्त है।

अहो ! श्रावको के मन-मन्दिर मे कितनी शकाए उछल-कूद मचा रही थी, वे सब मेरे थोडे से प्रयास से ही बादलो की ज्यो विलीन हो गई। समय के अनुरूप आज हम जिस परम्परा का अनुसरण कर रहे है वह परिपुष्ट बन गई। 'कही से अवकाश पाते हुए सूक्ष्म मात्र छिद्र को भी बन्द करना

दयितुमित्यर्थं। ३ सूर्यम्। ४ आयासं करोति।

स्थगनीयमित्यार्याणा वर्या त्रिचारधारा। स्वल्पमपि प्रणाय्यं[1] तत्त्व सत्त्वमापेदानं नहि सासह्यं मुशासकं मुन्दरकार्यशृङ्खला-सञ्चालयद्भि ।

नून वयं शुभशकुन-प्रेरिता शुभमुहूर्त्त-प्रस्थिता शुभलग्ने हि प्रवेश प्राप्ता अत्र नगरे, अत एवाऽऽगतमात्रैरस्माभिर्दुष्कर-कल्पित सूक्ष्म-बुद्धिश्रम-साध्य साफल्य तत्कालमलम्भि।

अस्तु, साम्प्रतं निष्कण्टकं निष्प्रत्यूहं[2] प्रावृषेण्य[3] निवासमति-वाहयिष्यामोऽत्र भक्तिभाजा श्रावकाणा भक्त्या पेप्रीयमाणा यथासुखम्। अग्रे गुरवोऽपि स्वेष्ट-कार्य-सम्पादनादस्मान् परम-प्रीत्या सम्मानयिष्यन्तीति निश्चय । आत्त-कार्यस्य[4] निर्वाह एव महतामानन्दहेतु. स्यात् कि कथनीयमत्र।

तस्मिन्नेव दिने सायंकाले कृतोत्सूत्रप्ररूपणाया प्रायश्चित्तरूप इवाऽऽकस्मिक स्वोत्कृष्टवेगधर शीत-ज्वर श्रीभिक्षुवपुराचक्राम। तीव्रार्चिष्मता[5] संतप्तशुचीप-समानास्तस्य[6] सार्धत्रिकोटिमाना रोमराजयस्तीव्रामुष्णतामुद्वेमु । नक्तंदिव विरक्तस्य नीरुपश्चापि भिक्षोरम्वकयामले[7]ऽदृष्टपूर्वो रक्तिमा व्यानशे। कतर आवयो पीडा कर्मणि वैशिष्ठ्यमावहतीति स्पर्धयेव त्रिक-मस्तकाभ्या[8] पूर्णं स्ववल पर्यैक्षि। शयनमेव शान्तेरयनमिति[9] प्रत्याय्य तमासनं शाययद् विप्रलम्भयाञ्चक्रे, तद्वदासनमेव[10] समाश्वसनमिति निर्दिश्य पुन शयनं स्वीकारयामास। भव-भ्रमण-नाटकं प्रकटयन्तीव भ्रमि-स्तं विपरीतमुद्वोधकं वम्भ्रम्यमाण लोक प्रत्यक्षीकारयाञ्चक्रे। सर्वमप्येकत्रीकृतमेनो[11] वहिर्निष्कासयन्तीव वमिराभीक्ष्ण्येन सर्वाण्य-

---

१ असम्मतम्। २ निरन्तरायम्। ३ प्रावृट्कालसबन्धि, चातुर्मासिकमित्यर्थ। ४. गृहीत-कर्मण। ५ अर्चिष्मान् वन्हिस्तेन।

चाहिए', यह गुरुओ की सही विचारधारा है, क्योंकि सुन्दर कार्य-शृंखला का सचालन करने वाले सुशासक किंचित् भी असम्मत तथ्य को बलिष्ठ होने नही देते।

निश्चित ही हम शुभ-शकुन से प्रेरित शुभ मुहूर्त मे चले थे और शुभ लगन से ही नगर मे प्रविष्ट हुए है, इसीकारण हमने आते ही दुष्कर, गम्भीर एव बुद्धि-श्रम-साध्य सफलता को तत्काल पा लिया है।

अस्तु, अव यहाँ भक्तिमान श्रावको की भक्ति से आनन्दित होते हुए हम निष्कण्टक, निर्विघ्न यथेच्छ वर्षावास का समय वितायेगे। आगे गुरु भी अपना इष्ट कार्य कर देने के कारण परम स्नेह से निश्चित ही हमारा सम्मान करेंगे, क्योकि प्रस्तुत कार्य का सम्यग् निर्वाह करना ही महान् व्यक्तियो के लिए आनन्द का हेतु होता है। इसमे कहने की क्या बात है ?

उसी दिन सायकाल-उत्सूत्र प्ररूपणा करने के प्रायश्चित्तरूप मानो अकस्मात् उत्कृष्ट वेग से शीतज्वर ने श्री भिक्षु के शरीर पर आक्रमण कर दिया। प्रचण्ड आग से तप्त तवे के समान उनकी साढे तीनकरोड प्रमाण रोम-राजि तीव्र उष्णता का उद्वमन करने लगी। दिन-रात विरक्त और अरोष (प्रशान्त) रहने वाले भिक्षु की दोनो आँखो मे अपूर्व रक्तिमा व्याप्त हो गई। हम दोनो मे कौन पीडा करने मे विशिष्ट है मानो इस स्पर्द्धा से मस्तक और कटि की पीडा ने अपना पूर्ण वल अजमाया। लेटना ही शाँति-प्रद है—यह विश्वास दिलाकर आसन ने उन्हे सुलाकर ठग लिया। उसी प्रकार आसन ही समाश्वसन (सुख) है यह दिखाकर शयन ने उन्हे पुन विठा दिया। भव-भ्रमण का सादृश्य प्रकट करते हुए भ्रमि रोग ने उस विपरीत बोधक को घूमता हुआ-सा लोक प्रत्यक्ष दिखा दिया। सभी एकत्रीकृत पाप को वाहर निकालती हुई सी, आँतो को निर्दयता से ऊ ची चढाती हुई वार-वार 'हो-हो'

---

६ शुचीषम्-शुजीषम् 'तवा' इति भाषायाम्। ७ नेत्रयुगले। ८ त्रिक—कटि। ९ शान्ते स्थानम्। १० कर्तृपदम्। ११. एन —पापम्।

न्त्राणि निशूकमूर्ध्वमानयन्तीव[1] सह ह-हो शब्द वामयाञ्चकार। रसनया स्वीकृतेऽस्वादव्रते स्वावमाननात्कुपितेव जठर-पिठर परित्यज्य क्वापि समीरसेवार्थं प्रस्थिता बुभुक्षा। तप्तशिलेवाऽम्भोऽन्त प्रवेशयितुमक्षमपि भृश मार्गयति जल भिक्षोरोष्ठपुट शुष्कयन्ती तृट्। ग्लायति स्म हृदयम्, म्लायति स्म मुखम्, त्रुट्यन्ति स्म सर्वेऽपघनाश्च शरीरस्य तस्य। शय्याया परित सर्वेऽपि विमनायमाना मुनयस्त यथाशक्यमुपचरन्तिस्म, वैयावृत्यं च विदधतिस्म।

प्रत्यक्षेऽपि शास्त्रालोके प्रत्यक्षेपि[2] येन भगवदाज्ञा कि तस्य मुखप्रेक्षणेनेतीव रुषेव पूपा[3] स्वरूपं तिरोदधे। किन्तु पापेन तापेन प्रत्युत प्रबलीकृतं पीडापाण्डित्यम्। अननुभूतपूर्वा सपत्राकृति[4] शरीरे भवितु लग्ना। ऋते नमस्कारमहामन्त्रान्न चलति कोऽपि वाह्योपचारो व्रतिना रात्रौ। पुनः पुन पार्श्वे परावर्त्तयतस्तस्य प्राप्तरयोऽप्यद्यतनसमयो मन्थरता स्वीकृत्येव नहि कथमप्यग्रत ससार। व्यतीते पूर्वरात्रे प्रसह्य भिक्षुणा प्रेरिता केचन मुनय शयनाधीना वभूवु। भिक्षुसेवार्थमुपविष्टोऽपि कश्चिन्निद्रया प्रणामकर्त्तेव भूयो भूयो नतकन्धरो वभूव।

'हन्त! कि मयाऽतीतेऽनेहसि[5] प्रचण्डमीदृक् पापमाचरितं येनेदृशाऽर्त्तिकरेण ज्वरेण वाढं पीड्येऽहम्' इति सस्तारके शयानेन भिक्षुणा व्यचिन्ति। नाऽकृत कर्म कदापि वेद्यते सवेदनशीलेनाऽऽत्मना, इति पर्यालोचयतस्तस्य झगिति श्रावकाणा लसन्निरवद्य-रचना वचनावलि स्मृतिपथमवतीर्णा।

अहह! भद्रा इमे शास्त्रज्ञा मातृपितृ-सधर्माण[6] श्रावका न

---

१. निर्दयम्। २ प्रत्यक्षेपणमकारि। ३ सूर्य.। ४ तीव्रा वेदना।

शब्द के साथ वमन हो रही थी। जीभ ने जब अस्वाद-व्रत को धारण कर लिया तो अपने अपमान से मानो कुपित होकर भूख उदर स्थान का परित्याग कर कही हवा खाने के लिए चली गई। तप्त-शिला के समान पानी को अन्दर प्रवेश कराने के लिए असमर्थ होते हुए भी भिक्षु के होठो को सुखाती हुई प्यास पुन पुन जल माँग रही थी। हृदय ग्लान एव मुख म्लान हो रहा था। उनके शरीर के सब अग प्रत्यग टूट रहे थे। शय्या के चारो तरफ बैठे हुए चिन्ता-ग्रस्त सारे मुनि यथा-शक्य उपचार और परिचर्या कर रहे थे।

प्रत्यक्ष शास्त्रो का आलोक होने पर भी जिसने भगवदाज्ञा की अवज्ञा कर दी, उसका मुँह देखने से क्या ? मानो इसी रोष से सूर्य ने अपना स्वरूप तिरोहित कर लिया। किन्तु धूर्त ताप ने पीडा को और उग्र बना दिया। जिसका पहले कभी अनुभव नही किया था, ऐसी भयकर वेदना शरीर मे होने लगी। नमस्कार महामन्त्र की स्मृति के अतिरिक्त रात्रि मे साधुओ के कोई बाह्य उपचार नही चल सकता। बार-बार करवटे बदलते हुए उनका अति वेगवान समय भी मानो मन्दगति को धारण कर किसी भी प्रकार आगे नही बढ रहा था। प्रथम प्रहर बीत जाने पर भिक्षु के बहुत कहने के बाद कुछ साधु निद्राधीन हो गए। भिक्षु की सेवा मे बैठा हुआ भी कोई साधु निद्रा-वश प्रणाम-कर्ता के समान बार-बार सिर नमाता हुआ झपकी ले रहा था।

"खेद ! मैने विगत काल मे ऐसा क्या प्रचण्ड पाप कर्म किया था कि इतनी भयंकर पीडा देने वाली बुखार से पीडित हो रहा हूँ" यह बिस्तर पर लेटे हुए भिक्षु ने चिन्तन किया। सवेदनशील आत्मा कभी बिना किए कर्मो का वेदन नही करती, ऐसा पर्यालोचन करते हुए सहसा श्रावको की निरवद्य वचनावलि उनके स्मृति-पटल पर आ गई।

अहो ! इन भव्य माता-पिता के समान हितेच्छु शास्त्रज्ञ श्रावको ने क्या

---

५. समये। ६ मातृपितृतुल्या।

मा कि यथार्थमुपदिदिशुः। प्रत्यक्षमात्मगुणपरिमोपिणो दोपान् न कि ज्ञायं ज्ञाय सेवामहे वयम्।

वत! वत! कि कथनम्! कि करणम्! हहा! नितरा वद्धा वन्ध-द्वयेन वयम्। मुतरा संतप्ता गौरव-त्रिकेन पुन.। कलुपयति च कपाय-चतुष्टयी जीवनचर्यामस्माकम्। प्रतिपल प्रयतामहे पूजा-श्लाघा-वर्णश्लोकादिहेतवे। न रक्तमद्यावधि वास्तविक-वैराग्य-रङ्गेणाऽस्मद्हृदयम्। मिश्र-भापा-व्यामिश्र द्वयर्थक-काव्यमिव श्लिष्ट क्लिष्टं च परिस्फुरति प्रायोऽस्माक वचनम्। न श्रेष्ठा प्रतिभाति वहुशोऽस्मदीया कायिकी चेष्टा।

हन्त! वयमेव कि विपगर्भा पयोमुखाः कुम्भा? वयमेव कि तिरस्करिण्या[1]तिरोहिता जीवन-शून्याः[2] कूपा? वयमेव किमु सर्वभक्षिणो मुनिरूपेऽपि वन्हि-प्रतिरूपा। क्व तेपा शम-सरोवर-निमग्नाना संतत-सविग्नाना भवोद्विग्नाना मुनीना क्रिया? क्वास्माक कृत-वाह्यक्रिया-कलापानामनुपशमितसंतापाना पुनरन्त-पापाना प्रक्रिया? वेष-परिवर्त्तने जायत एव किं यावन्नहि चेतश्चौर्यमुत्सृजति। धृतसौवर्ण-चाकचिक्यमप्यारकूट[3] किमर्हति-तरामष्टापदपदवीम्[4]? दुग्धधवलोऽपि वक. कि कलयति कलहस-कलितं ललित कोशलम्? वर्णवन्धुरमप्यसुरभि रोहितक-प्रसून-कदम्वकं[5] किमनुहरति परिस्फुरन्मत्त-मधुकर-गुञ्जारव-मञ्जुला सौरभदान-सुवासित-हरिदन्तरा विकचा पाटल-कुसुमावलिम्?[6]

ह ह ह!! शास्त्रीयमेकाक्षरमप्यर्थतो मात्रातो वा परावर्त्तित-मनन्तकाल-परिभ्रमणहेतु-भवतीति भगवदुक्ति। मया सम्यक् तत्त्व श्रद्धतापि लोचने निमील्यान्धकार प्रसारितम्। अनेके यथार्था

---

१. जवन्धा-'कनात इति भापायाम्। २ जलशून्या। ३. पित्तलम्।

मुझे यथार्थ बोध नही दिया था ? प्रत्यक्ष आत्म-गुणो को दवाने वाले दोपो का क्या हम जान-बूझ कर सेवन नही करते ?

वस, वस ! कहना कुछ है ! करना कुछ और ही है ! हा ! हम सदा राग द्वेप रूप दो वन्धनो ने वँधे हुए हैं, तीनो गौरवो (अभिमानो) से मदा सतप्त रहते हैं और चारो कपाय हमारी दिनचर्या को कलुपित वनाते रहते हैं। पूजा, प्रशसा और कीर्ति आदि के लिए प्रतिपल प्रयत्नशील रहते है। आज तक वैराग्य के वास्तविक रग से हमारा हृदय रगा नही गया है। हमारा वचन प्राय द्वयर्थक-काव्य की तरह श्लिष्ट, क्लिष्ट एव मिश्र भापा से मिश्रित होता है। कायिक चेष्टा भी कोई हमारी वहुत अच्छी नही है।

हन्त ! हम ही क्या अन्दर विप और मुँह मे दूध वाले घडे है ? हम ही क्या ऊपर से ढके हुए जीवन-(सलिल) शून्य कूए हैं। हम ही क्या मुनि के रूप मे सर्वभक्षी आग के प्रतिरूप है। कहाँ उन शान्ति-सरोवर मे निमग्न, सदा विरागी और ससार से उद्विग्न रहने वाले मुनियो की क्रिया और कहाँ अनुपशान्त ताप वाले हम वाह्यक्रिया-काण्डियो की छुपी हुई पापो की प्रक्रिया ? वेप-परिवर्तन से होता ही क्या है ? जब तक चित्त धोखेवाजी को नही छोड देता ? स्वर्ण की-सी चमक धारण करने पर भी क्या पीतल कभी सोने का मूल्य पा सकता है ? दूध के समान उजला वगुला भी क्या कभी हस के ललित कौशल को प्राप्त कर सकता है ? रूप से रम्य होने पर भी सुरभि-विहीन रोहितक (रोहिडे) के फूलो का समूह, क्या उडते हुए मत्त-मधुकरो के गुञ्जारव से मजुल और सुरभि दान से दिगन्तो को सुवासित करने वाले विकस्वर गुलाव के पुष्पो की समानता कर सकता है ?

अहो ! शास्त्र का एक अक्षर भी अर्थ से या मात्रा से परिवर्तित किया हुआ, अनन्त काल तक परिभ्रमण का हेतु वन जाता है, ऐसा भगवान का कथन है। सम्यक् तत्व का ज्ञान रखते हुये भी मैंने आँख मीचकर अन्धकार फैला दिया। अनेक यथार्थ अर्थों को गुरु के पक्षपात मे पडकर विपरीत

४ स्वर्णपदवीम्। ५ रोहितक प्र०—रोहिडे के फूलो का समूह, इतिभापा। ६. पाटल—गुलाव के फूल, इतिभापा।

अर्था गुरु-पक्षपातेन वैपरीत्यमानीता.। तर्क-सपर्कतस्तान् विघटनोयानपि सुघटा प्रापिता । कृत-तत्त्वच्छेदाया स्वकीय-मेधाया अप्युपरि गर्वितोऽहमभवम् । धिग् ! धिग् !! चेन्मम प्राणा अस्मिन् समये परत्र यायिनस्युस्तदा मम का गति.? कम्पयते सा मा विभोर्वाणी यद् 'नग्न कृशो मासान्ते भुञ्जानोऽपि माययाऽनन्तशो गर्भाया-ऽऽगच्छतीति'।

हन्त ! किमत पर पुन प्रभुर्वक्ति यथा—"मायी मिथ्यादृष्टिरथा-ऽमायी सम्यग्दृष्टि" रिति । कि किलैकविरुद्धप्ररूपणया नानन्त-ससारमङ्गीचकार 'सावद्याचार्य' सज्ञया वित्त ! कमलप्रभाचार्यः ? अथवा न कि निमज्जयति गुरुतर पोतमपि जायमान सूक्ष्ममप्येक रन्ध्रम् ? नि शङ्कमह बहु-विरुद्ध-प्ररूपणा-प्रवणोऽधुनैव मरणमाप्त-स्तैरञ्ची, नैरयिकी गति वा समासादयेयम्, तत्र गुरु. कि भविता रक्षिता ? छद्मसद्मस्था कि मे वाक्चातुरी त्रायिनी भाविनी तत्र !

अहो ! ऋजुमतय. श्रावकास्तु मत्प्रतिवचनमश्रद्धधाना अपि हृदा मा वैराग्यभाज प्रतियन्तस्त्रिकृत्व पाठेनाऽशठतया ववन्दिरे। तद्वन्दनाऽनर्होऽपि ता स्वीकारयन् कियतीमात्मवञ्चना कृतवानहम् ।

हहा ! पृथुलतमपातकाना तातो विश्वासघातोऽपि न मया व्यधायि किमुत तेपा विश्वस्त-मानसेन सार्धम् ? उभयो सन्ध्ययो प्रतिक्रमणमारचयन् पड्वार प्रत्याख्याय सावद्य-योगान्, तत्रैव दिने न जाने कतिधा सावद्यकार्याणि करोमि, कारयाम्यनुमोदयामि चाहम्। भग्ने ह्येकस्मिन्नपि व्रतेऽनङ्गीकुर्वस्तत्प्रायश्चित्त नूनमनाराधक-पदवी लभतेऽल्प-सत्वो जनः । तदाऽनेक-महाव्रत-भञ्जकस्य मम कीदृशी गतिर्भाविनीति भगवानेव जानाति ।

---

१. व्यात.।

प्ररूपित कर दिया। तर्क के सम्पर्क से जो विघटित हो जाए उन्हे भी मैने सुघटित कर दिया। तात्विकता को नष्ट करनेवाली अपनी मेधा पर भी मै गर्वित होगया। धिग् धिग्! इसीसमय मेरे प्राण अगर परलोक-गामी वन जाए तो मेरी क्या गति हो? भगवान् की वह वाणी मेरा हृदय कम्पित करती है। "नग्न, कृश और मास मे एकवार खाने वाला भी माया के चक्कर मे गिरकर अनन्त जन्मो की वृद्धि कर लेता है।" खेद! इससे ज्यादा क्या हो? भगवान फिर कहते है—"मायावी मिथ्यादृष्टि और अमायावी सम्यग् दृष्टि होता है" सावद्याचार्य नाम से प्रसिद्ध कमलप्रभाचार्य क्या एक विरुद्ध प्ररूपणा करके अनन्त ससारी नही वने थे? एक छोटा-सा छेद भी क्या विशाल पोत को नही डुबा देता?

वहुत-सी विरुद्ध प्ररूपणा करने वाला मै यदि अभी मृत्यु को प्राप्त होऊ तो नि सन्देह तिर्यक् या नरक गति मे जाऊँ? वहाँ क्या गुरु मेरी रक्षा करेंगे? या छलमयी मेरी वाक्-पटुता परित्राण करेगी?

अहो! सरलमति श्रावको ने तो मेरे उत्तरो को यथोचित नही समझते हुए भी हृदय से मुझे वैराग्यवान् मानकर तिक्खुत्तो के पाठ से ऋजुता-पूर्वक वन्दना की, उस वन्दना के योग्य न होते हुए भी उसकी पात्रता स्वीकार करते हुए मैंने कितनी आत्म-वञ्चना की?

ओहो! उनके विश्वस्त मानस के साथ क्या मैंने वहुत से पापो का जनक विश्वासघात नही किया? दोनो सन्ध्याओ मे प्रतिक्रमण करता हुआ, छ वार सावद्य (पापमय) योगो का प्रत्याख्यान करता हुआ, उसी दिन न जाने कितनी बार सावद्य कार्य करता हूँ, करवाता हूँ और करने वालो का अनुमोदन करता हूँ। एक भी व्रत के खण्डित होने पर उसका प्रायश्चित्त न करता हुआ अल्प-सत्त्व प्राणी विराधक पद पाता है। तब अनेक महाव्रतो के विराधक मेरे जैसे की क्या गति होगी, यह सर्वज्ञ ही जानते हैं।

बत ? बत ? किं तेन वृथा मस्तिष्क-भार-रूपेण ज्ञानेन, येन नहि याथार्थ्यमाचर्यते ? न किं अपास्पदमिदम्—यन्मस्तकस्थे सवितरि[1] सनेत्रोऽप्यन्त कूप पतति ? जागरूकेऽखिले परिजने तस्करै सर्वस्व-मपह्रियते ? भगवन् ! किं करोमि ? क्व गच्छामि ? हन्त ! जीविता मक्षिकापि भक्षिता !

एवं वाह्यतीव्रतापेन कम्पमानशरीरस्य तस्य विमर्शन-परस्य पापानुतापेन हृदयमपि कम्पितमभूत् ।

(पुन किञ्चिद्धैर्यमालम्ब्य) यज्जात तज्जातमेव, केवल तच्चिन्तया न किमपि प्रत्यावलते ऋते पश्चात्तापम् । साम्प्रत किं कार्यं मयेति सपदि निर्णेयम् । किमनयैव पद्धत्याऽऽत्मवञ्चना कार्या, उत[2] दुर्गमो दुराराध्यो महापुरुषैराचीर्णोऽध्वा स्वीकर्तव्य ।

नहि, नहि, न मयात्म-विप्रलम्भनाय गार्हस्थ्यमुज्झितम् । नास्माक गृहे किमपि नैयून्यमासीदुचित-सामग्र्या । अग्र्या भोगा अपि सुलभा आसन् । तथापि धर्माराधनधिया निश्छल व्रतोपपत्तिरकारि सुस्थिर-मानसेन । अत्रागत्यापि चेन्न विहित स्वरूपसाधन तदा केवल नेपथ्य-परिवर्त्तनेन जातमेव किम् ?

नून स एव धीमता धुर्यो यो दृष्टि-विपर्यासतो वहुमूल्य मत्वा गृहीतमपि मणि चेद् राढामणिरयमिति[3] पश्चादवसित स्यात्, तदा न किं त त्यक्तु कृतत्वरो भवेत् ?

न जानेऽय तीव्रतापोऽपि चेन्मम पापोपशमनायैव समागत स्यात् । न किमक्षिवेदना-निपीडितेन मार्गदर्शनमकारि सत्वरम-नाथमुनिना ? असह्य-दावज्वरार्त्ति-निपीडितस्यैव नमि-राजर्षे र्वलयध्वनिरेकत्वभावना प्रवलीचकार । वृद्ध-ग्लान-कुणपादि-निभाल-

१. सूर्ये । २ उत वितर्के । ३ काचमणिरयमिति ।

बस ! बस ! मस्तिष्क के व्यर्थ भार-रूप उस ज्ञान का क्या अर्थ, जिससे वास्तविक आचरण नही हो पाता ? क्या वह लज्जास्पद नही है कि सिर पर सूर्य होने पर भी आखो वाला आदमी कुए मे गिरे, सारे परिवार के जागते हुए भी चोर सर्वस्व का अपहरण करे ? भगवन् ! क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? मैंने तो जिन्दा मक्खी निगल ली ।

इस तरह बाह्य तीव्र ताप से कम्पित शरीर वाले उन भिक्षु के पाप के अनुताप से हृदय भी प्रकम्पित हो गया ।

(फिर कुछ धैर्य धारणकर) जो हो गया सो हो गया केवल उसकी चिन्ता करने से पश्चात्ताप के सिवाय कुछ भी वापिस आने का नही । अब मुझे क्या करना है ? इसका शीघ्र निर्णय करना चाहिए । क्या इसी तरह आत्म-वचना करनी चाहिए, अथवा महापुरुषो के द्वारा अगीकृत दुर्गम और दुराराध्य पथ को स्वीकार करना चाहिए ।

नही, नही मैंने आत्म-वचना के लिए गृहस्थावास नही छोडा है । हमारे घर मे उचित सामग्री का कोई अभाव नही था । अनुत्तर भोग भी सुलभ थे । फिर भी धर्म-आराधना की बुद्धि से निश्छल-वृत्तिपूर्वक, सुस्थिर मन से, सयम स्वीकार किया था । यहा आने के बाद भी यदि आत्म-साधना नही की तो केवल वेष-परिवर्तन से हुआ ही क्या ?

वास्तव मे वही बुद्धिमानो का शिरोमणि है जो दृष्टि-विपर्यास से बहुमूल्य मानकर ग्रहण किए हुए काचमणि को, यथार्थता जानने पर छोडने के लिए उतावला हो उठे ।

क्या पता यह तीव्र ज्वर भी अगर मेरे पाप-शमन के लिए ही आया हो ? क्या नेत्र-वेदना के माध्यम से अनाथ मुनि ने मार्ग-दर्शन नही पाया था ? चूडियो की ध्वनि ने असह्य दाघज्वर की पीडा से उत्पीडित नमिराजर्षि की एकत्व-भावना को प्रबल बनाया था । वृद्ध, ग्लान और शव को देखकर

नादेव न किं प्रवुद्धाशयोऽभूत् शौद्धोदनिः ! सघर्षो हि जीवने किमपि सद्यस्कतामाविर्भावयति । चण्डांशुना दन्दह्यमानो हि जीवलोकस्तप्ति-हरं मुदिरमाकारयति[1]। विपदो हि मूल्याङ्कनं विदधति सपदाम्, किन्तु न सपदो विपदाम् । अपटुरेव पणायति[2] सहृदयमगदकारम् । मरवो[3] हि विदन्ति सुतरां क्षीरमिव व्याप्रियमाणं नीरम् ।

अस्तु, उपशान्तेऽस्मिन् वोधदान-प्रवरे ज्वरे निश्चितमह तत्त्व-गवेषणां विधास्ये समुपासिष्ये च प्रवचनानुसारिणी पद्धतिम् । वितथयन् दृष्टिराग-निवन्धनानि गुर्वादीना वाह्यवन्धनानि, केवलं वीतरागशासनसंवन्धमेव निर्वन्धं निर्वाहयिष्ये ।

एवं विमृशतस्तस्य क्रमशः क्षणदा[4] तापेन पापेनापि क्षीणा क्षणवती[5] विलक्षणा व्यतीता । नीता सम्यक् सम्पादित-स्वकार्येणेव ज्वरेणाप्यस्तसंज्ञा । नामयव्रातं जातं किमपि प्रभातेन । किन्तु भिक्षो-र्हृदि तदिदं सुप्रभातमन्यादृगेव प्रतिभातम् । अद्यतनो भानुमान् हि वस्तुवृत्त्या भानुमानिति[6] प्रतिपन्नमस्याऽऽलोकितमानसेन ।

प्रातः प्रतिक्रमणवेलायां सर्वेऽप्यनुगामिनो मुनयः स्वमुख्य[7] सौख्यं पप्रच्छुः—"स्वामिन् ! इयं व्यतीता शर्वरी न वरीयसी व्यतीता तीव्रज्वरतप्तानां भवताम् । कथमेतादृग् ज्वरो वद्धपरिकरोऽभूद् हितमितभुञ्जानानां श्रीमतां शरीरे ? किमु लयमागतमुहूर्त्तमपि पश्चिम-यामिन्यामक्षि यौष्माकम् ? साम्प्रतं कीदृशी स्थितिरासेव्यते सर्व-तनुशक्ति-घस्मरेण ज्वरेण ? किमौषधं सेवनीयमिति विदितु-मिच्छामो भवदिच्छाम् । केन वैद्यराजेन द्रष्टव्यं भवतां रत्नकरण्डक-मिव रक्ष्यं वपुः ?" एवमनेकैः प्रश्नैरनुगामिमुनयः स्वगुरुं किमपि वक्तुं प्रेरयामासुः ।

---

१. मुदिरो मेघः तम् । २. प्रशंसां करोति । ३. मरुस्थल-वासिनः । ४ रात्रिः । ५. उत्सववती । ६ सूर्यः । ७ भिक्षुमित्यर्थः ।

ही महात्मा बुद्ध प्रबुद्ध हुए थे। संघर्ष जीवन मे कुछ नवीनता लाता है। सूर्य की प्रचण्ड किरणो मे सन्तप्त जीवलोक ही उत्ताप को दूर करने वाले मेघ का आह्वान करता है। विपत्तिया ही सम्पत्ति का मूल्याकन करती है, न कि सम्पत्ति विपत्तियो का। रोगी ही वैद्य की सराहना करता है, मरुस्थल-निवासी ही दूध की तरह उपयोग मे आने वाले पानी का महत्व आकते है।

अस्तु, इस बोधदायक ज्वर के उपशान्त होने पर मैं निश्चित ही तत्व-गवेषणा करूगा और आगम सम्मत पथ अपनाऊगा। गुरु आदि के बाह्य-बन्धन जो दृष्टि-राग के कारण है, उन्हे झुठलाते हुए केवल वीतराग शासन का सम्बन्ध ही मुक्त होकर निभाऊगा।

इसप्रकार चिन्तन करते हुए उनकी रात्रि क्रमश ताप से एव पाप से क्षीण होती हुई विलक्षण उत्सव रूप से व्यतीत हुई। मैंने अपना कार्य अच्छी तरह कर दिया मानो इस आस्था से ज्वर भी चला गया। सुबह किसी रोग का निशान भी नही रहा। किन्तु भिक्षु-हृदय को वह सुप्रभात दूसरी ही प्रकार का आभासित हुआ। 'आज का सूर्य ही वस्तुत प्रकाशमान है' यह उनके आलोकित मानस ने माना।

प्रात. प्रतिक्रमण के समय सब अनुगामी साधुओ ने सुख-पृच्छा की—"स्वामिन्! यह गई रात्रि तीव्र ज्वर से सतप्त होने के कारण आपकी अच्छी नही बीती। हित और परिमित भोजन करने वाले आपके शरीर मे ऐसा भयकर ताप कैसे आया? क्या पश्चिमरात्रि मे थोडी देर के लिए भी आपकी आख लगी? शरीर की सब शक्ति का भक्षक बुखार अब कैसे है? क्या औषधि लेंगे? आपकी इच्छा हम जानना चाहते है, रत्न पेटिका की तरह रक्षणीय आपके शरीर को कौन से वैद्यराज को दिखाए?" ऐसे अनुगामी मुनियो ने अनेक प्रश्नो के द्वारा अपने गुरु को कुछ बोलने के लिए प्रेरित किया।

किमपि नवीन भाववैभव विभ्रती भैक्षवी ब्राह्मी[1] व्यक्ताक्षरा वभूव—"आयुष्मन्त ! वहुवरोऽस्मि साम्प्रत द्रव्यतो भावतश्च । पाप इति कल्पितोऽपि ताप किमप्यन्तरङ्गमुपतापमहरदिति मे मति. । जवेन स्वकार्य सुन्दरतया विरचय्य स गात्रवाभासो[2] जीर्णता गत । 'यद्भवति तच्छ्रेयसे' इति मतिमतामुक्ति. किमपि तत्वमवश्य मावहतीति मे प्रत्यय । अलमितरौषध-सेवनेन तेनैवौपधायित मद्वर्ष्मणि[3] । शनकै पूर्णस्वास्थ्य लप्स्येऽह पथ्य-सेवनेनैव । आरोग्य-वोधिलाभप्रदो नापरो वैद्यवरिष्ठो वरीवर्त्ति वसुधातले ऋते चरमतीर्थराजम् । तच्छिक्षानुगमनमेव सर्वाङ्गीण चात्यन्तीन-मामोपशमनम्[4] ।"

विस्मयमानैर्नहि कैरप्यनुगमुनिभिर्भिक्षु भारत्या भावोऽवागामि[5] सम्यक्तया । कामप्यगम्या शैलीमनुशीलयतितरामत्रभवतामद्य परि-कल्पितविभाषा भाषा, इतीवानुभूत तैं ।

स्तवकितपाणिपल्लवैर्नावगत किमपीति स्पष्टयितु पुन प्रेरिता भिक्षुस्वामिन ।

'स्वतोऽवगम भविष्यति साम्प्रतं प्रतिक्रमितव्यम्, व्यत्येति समय' प्रेरित सरहस्य भिक्षुस्वामिभि ।

उदित-देशीये दिनकरे श्राद्धा श्राद्धयोऽपि गुरुदर्शनार्थमागन्तु प्रवृत्ता सोत्साहम् । सर्वेऽपि सुख प्रश्नयन्तो ज्वर-विषये परीपृच्छ्य-न्ते स्म, केवल वर वरमित्युत्तरयन् भिक्षुस्तान् विससर्ज ।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये
महाकाव्ये गद्यप्रबन्धे नवम समुच्छ्वास.

---

१ वाणी । २ अमित्रावभास । ३ मच्छरीरे । ४. रोगोपशमनम् । ५ अवगत ।

कोई नवीन भाव वैभव को धारण करती हुई भिक्षु की वाणी प्रस्फुटित हुई—"आयुष्मानो ! अव मैं द्रव्य और भाव दोनो से वहुत अच्छा हूँ। जिस ताप को पाप माना था उसने कोई अन्तरग उपताप को दूर किया है, ऐसा मुझे अनुभव हुआ। शीघ्रता से अपना कार्य सम्यक्तया करके वह शत्रु के समान दीखने वाला ज्वर जीर्ण हो गया है। "जो होता है वह शुभ के लिए होता है" यह वुद्धिमानो की उक्ति कोई तत्त्व अवश्य वहन करती है, ऐसा मेरा विश्वास है। दूसरी औषधि सेवन से क्या मतलव ? उसने ही मेरे शरीर मे औषधि का काम कर दिया। पथ्य सेवन से ही धीरे-धीरे मे पूर्ण स्वस्थ हो जाऊंगा। आरोग्य वोधि-लाभ को देने वाले चरम तीर्थंकर के सिवाय वसुधातल पर कोई दूसरा वरिष्ठ वैद्य नही है। उनकी शिक्षा के अनुसार चलना ही सर्वाङ्गीण एव आत्यन्तिक रोग का उपशमन है।"

आश्चर्य करते हुए अनुगामी मुनियो मे से किसी ने भी भिक्षु की गूढ वाणी का रहस्य अच्छी तरह नही समझा। उन्हे लगा कि आज इनकी रहस्यमयी भाषा किसी अगम्य शैली का अनुशीलन कर रही है।

वद्धाजलि होकर "हम कुछ भी नही समझे" यो पुन. स्पष्टीकरण के लिए भिक्षु स्वामी को प्रेरित किया।

"अपने आप पता लग जायगा, अभी प्रतिक्रमण करो, समय वीत रहा है" यो रहस्य-पूर्वक भिक्षु स्वामी ने कहा।

सूर्योदय जव निकट था तव श्रावक-श्राविकाए भी गुरु-दर्शन के लिए सोत्साह आने लगी। सवने ही सुख प्रश्न करते हुए ज्वर के विषय मे पूछा। ठीक है, ठीक है' यह उत्तर देते हुए भिक्षु ने सवको विसर्जित किया।

नौवा समुच्छ्वास समाप्त



दशमः समुच्छ्वासः | ★

'अनुस्रोत प्रस्थिते वहुजने' इत्यार्हती सूक्तिः किमपि नव्यनिर्मातु-मिच्छुभिरनुभवेन यथार्थान्विभावि। अत्यर्थमध्वन्य-पद-क्षुण्णे[1]ऽध्वनि गताक्षोऽपि गन्तुमर्हः, किन्तु नव्यपथनिर्माणेऽतर्कित काठिन्यमभिमुखो-नमापतति। अनेकशः परिवर्धितपाथःपूरपरिप्लाव्यमानवन्धा महानद्यः पथानमवरुन्धन्ति। त्रिकालेऽप्यविदितनमन-महात्म्या अखर्व-गर्वोन्नतकन्धरा शिलोच्चया[2] वर्धमानमध्वानमधिक्षिपतितमामनायासम्। तत्र कश्चित् सुपरिशीलिताऽऽधुनिकविज्ञानपद्धतिरतुच्छ-परिश्रमी 'कार्यं साधयामि वा देहं पातयामि' इति कृतनिर्णयोऽति-तीक्ष्णकर्मकारी सुसाफल्यं वृणुते। अल्पसत्त्वास्तु कयाचित् प्रतिकूल-प्रतिक्रियया विपरीत-वातावरणैश्च सहसैव साहसं त्यजन्ति, वितथयन्ति श्रमेण सार्धं व्ययमपि, सहन्ते च दारिद्र्यजन्या दुरवस्थाम्।

'कथं क्रान्तिमयः पदन्यासः कार्यः' इति चिन्तनशीलस्य भिक्षोः समीपमायातास्ते व्रजलाल-जवाहिरलालाद्या इङ्गितज्ञाः श्रावकाः। तीव्रज्वराक्रमणेन शैथिल्यमाप्तेऽपि भिक्षोर्मुखारविन्दे ते कामप्यननुभूत-पूर्वां तेजोमयीं भावभङ्गीमभ्यूहाञ्चक्रिरे। भ्रूविक्षेपैः किमपि सूचयन्त इव ज्वराक्रान्तानामस्ति सांप्रतं सुखमिति सोत्प्रासं प्रश्नयामासुः।

---

१. भृशपान्थ-पद-क्षुण्णे। २ पर्वताः।

★ | दसवां समुच्छ्वास

"वहुत लोग अनुस्रोत मे वहने वाले है।" इस आगमिक उक्ति को कुछ नया निर्माण करने के इच्छुको ने अनुभव से यथार्थ पाया। वहुत से पथिको के पदाक्रान्त मार्ग पर अन्धा भी चल सकता है, किन्तु नये पथ के निर्माण मे अकल्पित कठिनाइयाँ सम्मुख उपस्थित हो जाती है। वढे हुए पानी के पूर से वाधो को भी वहा ले जाने वाली महानदियाँ पथ मे अनेक वार रुकावटे डालती हैं। तीन काल मे भी जिन्होने नमन के महात्म्य को नही समझा, वे अत्यन्त गर्व से सिर उठाए हुए पर्वत, वढते हुए पथिक का अनायास मार्गावरोध कर देते है। वहा कोई आधुनिक विज्ञान-पद्धति का अत्यन्त निष्णात और प्रचुर परिश्रमी ही 'कार्य सिद्ध करू अथवा देह का विसर्जन करू' का निर्णय करके वहुत कठोर परिश्रम करने वाला ही सफलता का वरण करता है। अल्पसत्व मनुष्य तो किसी प्रतिकूल प्रतिक्रिया और विपरीत वातावरण से सहसा ही साहस छोड देता है, श्रम के साथ व्यय को भी व्यर्थ वना देता है और दारिद्र्य-जनित दुरवस्था को सहन करता है।

कैसे क्रातिकारी कदम उठाने चाहिए? ऐसा विचार करते हुए भिक्षु के पास वे इगित को समझने वाले व्रजलाल, जवाहिरलाल आदि श्रावक आये। तीव्र ज्वर के आक्रमण से भिक्षु का मुखकमल कुछ मुरझाया-सा होने पर भी उन्होने अननुभूतपूर्व तेजोमयी भाव-भगिमा देखी। भ्रू-विक्षेपो के द्वारा कुछ सूचना-सी देते हुए "आपके ज्वर आ गया था, अव सुखसाता है" यो सस्मित प्रश्न किया।

'सुख किम्, असुख हि नष्टम्' इति सस्मितमुदतारि भिक्षुणा ।

कि कि कथ कथमिति ससम्भ्रम पृच्छाप्रह्वेषु तेषु "मध्याह्ने विजनोपासना कार्या" इति स सकेतयामास तान् ।

किमपि भव्य नव्यमिति निश्चिन्वाना स्वसदनमाजग्मुस्ते ।

मध्याह्ने कौतुहलतया सदिग्ध-हृदया श्रमणोपासका ममील्यैकान्ते भिक्षुस्वामिनमुपससरु[1] । विहितवन्दनादिविधय सम्मुख निषेदिवास । किं नवीनमिति शुश्रूषया श्रवौ सपुटयामासु ।

ग्लानिमनुभवतेव स्वामिनाऽजल्पि—"श्रावकाः ! त्रपतेतमा कृतसत्यापलपन मे लपन[2] पुन युष्माकमग्रतो यथार्थ व्यञ्जयितुम् । गुरुभिया ह्रिया वाऽलम्, यदि मत सत्यमेव जीवन-सर्वस्वम् । नहि सत्यव्यतिरिक्ताऽऽसीदातुर प्रति भिषगाचार्यस्येव यौष्माकीणा पावनप्रेरणा । गुरु-गुरुमोहवशवदेन जानतापि मयाऽपह्नोतु[3] प्रायासि सा ।

स्मरामि, विद्यागुरो. सकाशादागमानामध्ययनकाले भवतामिव मे हृदयमपि विचिकित्सितमभूत्[4] । [5]अप्राक्षमहमपि शास्त्रोक्ति परामृशन् समीचीनामाचार-सहिताम् । यथा—गुरुवर्य ! न कथमद्यश्वीया[6]ऽस्माकमाचारपरम्परा शास्त्रै सह सगच्छते ! जल्पनमिव कल्पन नास्ति, तथैव कल्पनमिव जल्पनमपि । अक्षतेन्द्रियकेतनमपि[7] विगतचेतन सयमकरण[8] कियत्कालमुत्पन्नाऽसड्ख्यदोष-कृमिकुल-सकुल प्रसर्पद्दुर्गन्ध न भावि ? परन्तु, दुषमारखलायित सहनन-दौर्बल्य च निरूपयता गुरुणा कथकथमपि मच्छङ्का व्यपानायि, तदनुसार मयापि युष्मत्पृच्छानामुपरि पटाक्षेपो व्यधायि । किन्तु, ह्यस्तनेऽहनि सर्वाङ्गीणेनातितीक्ष्ण-तापेन पावकेन स्वर्णस्येव

---

१ उपाजग्मुः ।　२. मुखम् ।　३ वाग्जालेन तिरोहित कर्त्तुम् ।

"सुख क्या, सब दुख ही नष्ट होगया" मुस्कराते हुए भिक्षु ने उत्तर दिया।

क्या-क्या, कैसे-कैसे ? यो बहुत उत्सुकता से पूछने पर "मध्याह्न मे एकान्त सेवा करना" उनको सकेत दिया।

कुछ नया भव्य चिन्तन होगा, ऐसा निश्चय कर वे अपने-अपने घर चले गये।

मध्याह्न मे कुतूहल से वे सशयशील श्रावक एक साथ मिलकर भिक्षु स्वामी की सेवा मे आए। वन्दना आदि करने के बाद सम्मुख बैठे। क्या नवीन तथ्य निकलता है ? यह सुनने के लिए उनके कान लालायित हो रहे थे।

ग्लानि का-सा अनुभव करते हुए भिक्षु स्वामी ने कहा—श्रावको ! जिस मुख से मैंने सत्य का खण्डन किया था, अब तुम्हारे आगे पुन उसी मुख से सत्य को व्यक्त करते हुए मुझे लज्जा महसूस हो रही है, यदि सत्य को ही जीवन का सर्वस्व मान लिया है तब गुरु के भय से या लज्जा से क्या मतलब निकलेगा ? रोगी के प्रति वैद्यराज की जैसी प्रेरणा होती है वैसी ही सत्य के प्रति तुम्हारी पावन प्रेरणा थी। गुरु के महामोह के वशीभूत होकर जानते हुए भी मैंने उसको छिपाने का प्रयास किया।

याद आता है विद्या-गुरु के समीप आगमो का अध्ययन करते समय तुम्हारी तरह मेरा भी हृदय शकित हुआ था। मैंने भी शास्त्रो के कथन पर विमर्शन करते हुए समीचीन आचार-सहिता के लिए पूछा था। जैसे कि गुरुवर्य ! आजकल की हमारी आचार-पद्धति शास्त्रो से सगत क्यो नही होती ? जैसे कथन के अनुरूप आचरण नही है, वैसे ही आचरण के अनुसार कथन भी नही है। चैतन्य शून्य शरीर की भान्ति हमारा सयम असख्य दोप-कृमियो से सकुल कहा तक दुर्गन्ध फैलाने वाला नही होगा ! परन्तु दु पम काल की खलता और संहनन की दुर्वलता का निरूपण करते हुए गुरु ने जैसे-तैसे मेरी शका पर लीपा-पोती कर दी। उसी का अनुसरण करते हुए मैंने भी तुम्हारे प्रश्नो पर पर्दा डाल दिया, किंतु कलकी सर्वाङ्गीण अति तीक्ष्ण ताप ने, आग के द्वारा तपे हुए सोने की तरह मेरी आन्तरिक कालिमा नष्ट

४. सशयितम्। ५ पृष्टवान्। ६ आधुनिकी। ७ अक्षतशरीरमपि। ८. सयमरूपशरीरम्।

तातप्यमानस्य मेऽन्त श्यामिका नष्टा, विवेकाञ्जनेन हृच्चक्षु: प्रोन्मीलित च जातम् । साम्प्रतमहमपक्षग्राहितया हृदय सतुलित विधायाऽर्हतामागमान् निपुण निरीक्षिष्ये, यत इद द्विधार शस्त्रमिव सावधान परिशीलनीय कार्य वरीवृत्यते। एकत पूज्य-भावनया प्रणिपात्या आचार्या, अन्यत सयमाधारभूता शास्त्राणा-माज्ञा, कान् तिरस्करोमि का च प्रतिपद्ये इति महान् विमृष्टव्यो विषय । अतो यौष्माक कथनमगौणीकृत्य शास्त्राणा सूक्ष्मप्रेक्षिकया सम्यगध्ययन विधाय, कि यथार्थमिति निर्णेष्ये। यावदह न किमपि निर्णये तावद् युष्माभिरपि गजनिमीलिकामवलम्बमानै[1] स्थेयम्।"

अदृष्टपूर्व भिक्षुमुनेर्हृदयसारल्य विलोक्य सर्वेऽपि ते श्रद्धालव. श्रद्धालवमलकुर्वाणा अलब्धपूर्वमुत्साहमासादयन्तो व्यजिज्ञपन्—'महामुने ! भवत्सवन्धिनी यादृगी प्रतीतिरासीदस्माक हृदये, ततो-ऽप्यतिशयितमौदार्यमाविर्भावित श्रीमद्भि । याथार्थ्य व्यर्थयता महता हृदि कथमिव सन्तोष सुस्थिर स्यात् ! शीततुना जडिमान-माप्त म्रक्षण[2] किञ्चिदुष्ण-सयोगतस्तत्काल तारल्यमाद्रियते, तथात्मार्थिनामात्मापि तत् तद्वैभाविक-सयोगतो मूर्च्छितोऽपि किञ्चन स्वाभाविक स्वरूप प्रत्यभिजानन् झटिति स्वरूपारामी स्यात्। सात्त्विक-तात्त्विकधीमय-वैशाखेन[3] स्याद्वाद-दवरकेन[4] राद्धा-न्तरत्नाकर विलोड्य तत्त्व-रत्नराशि प्राप्नुवन्तु भवन्त., भूयांसो भव्यास्तेनोपकृता भविष्यन्तितरा नि सदेहम्।

एव भैक्षवमभिप्राय मनसा वाचा कर्मणा समनुजानानास्ते किमपि श्वोवसीयस[5] निष्कर्षमभिलपमाणा स्व स्व स्थानमापु ।

श्रीभिक्षुरपि तद्दिनादारभ्य पूर्णानुसन्धान-बुद्ध्या शास्त्राणा परिशीलनमारेभे । यथार्हमुपदेशादिकार्य चारुतया निर्वहन्नपि

---

१. औदासीन्य सेवमानै. । २. नवनीतम् । ३. मन्थानेन । ४. स्याद्वाद-

कर दी। विवेक के अजन ने हृदय-चक्षु को निर्मल बना दिया। अब मैं पक्षपात को छोडकर हृदय को सन्तुलित बनाकर जैनागमो का गहराई से निरीक्षण करूगा, क्योकि यह दुधारे शस्त्र का तरह सावधानी से परिशीलनीय कार्य है। एक ओर पूज्य भावना से प्रणाम करने योग्य आचार्य है, दूसरी ओर सयम की आधारभूत आगमो की आज्ञा है, किसका तिरस्कार करू और किसे स्वीकार करू, यह महान चिन्तनीय विपय है। इसलिये तुम्हारे कथन को लक्षित करता हुआ शास्त्रो का सूक्ष्म वुद्धि से अच्छी प्रकार अध्ययन करके यथार्थ क्या है, यह निर्णय करूगा। मैं जब तक कुछ निर्णय नही कर लेता तब तक तुम लोगो को भी कुछ नही कहना चाहिये, यो ही चुपचाप समय बिताना चाहिए।

मुनिवर भिक्षु का अदृष्टपूर्व हृदय-सारल्य देखकर वे सब श्रावक श्रद्धानत हो उठे। अपूर्व उत्साह से कहने लगे—"महामुने! आपके विपय मे जैसी प्रतीति हमारे हृदय मे थी उससे भी अधिक उदारता आपने दिखाई है। वास्तविकता को छिपाते हुए महान् व्यक्तियो के हृदय मे सन्तोप कैसे स्थायी हो सकता है? शीत से जमा हुआ मक्खन थोडी गर्मी का सयोग पाते ही तत्काल तरल बन जाता है वैसे ही आत्मार्थियो की आत्मा भी, वैभाविक सयोग से मूर्छित होती हुई भी, कुछ स्वाभाविक स्वरूप को पहचान कर तत्काल स्वरूपस्थ बन जाती है। सात्विक एव तात्विक बुद्धिमय मथानी से, स्याद्वाद की डोरी बाधकर सिद्धान्त रूप रत्नाकर का विलोडन करके आप तत्त्व रत्न-राशि प्राप्त करे। उससे नि सन्देह बहुत-से भव्य-प्राणी उपकृत होगे।"

इसप्रकार भिक्षु के अभिप्राय का मन, वचन और कर्म से अनुमोदन करते हुए वे कोई मगलमय निष्कर्प की आशा रखते हुए अपने-अपने स्थान पर लोट गये।

श्री भिक्षु स्वामी ने भी उसी दिन से पूर्ण अनुसन्धान बुद्धि से शास्त्रो का परिशीलन प्रारम्भ कर दिया। यथायोग्य व्याख्यान आदि कार्य को अच्छी

रज्ज्वा। ५. श्रेयसम्।

आशासे, ममाचार्यवरा अपि नूनं नैयायिकं कथनं शान्त्या श्रोष्यन्ति, स्तोष्यन्ति च श्रमणोपासकानां गभीरां चिन्तनचमत्कृतिम्। विनयेन प्रार्थिताः सन्तः प्रतिपत्स्यन्ते नाम स्वतः सम्मतां भगवदुक्तिम्। अतोऽधुना सर्वैस्तूष्णीशीलैरेव[1] भवितव्यम्।

प्रार्थिता अपि यथार्थदृष्टिमवजानानाश्चेद् गुरवः स्वमतपक्षरक्षा-दक्षाः स्थास्यन्ति, तदा यद् भविष्यदुदरे सन्निहितं तदेव प्राकट्य-माप्स्यति।

मञ्जुल-विचार-मनोहरां वरां श्रीभिक्षोरुक्तिमाकर्ण्य ते सर्वेऽपि भृशं सतुतुषुः। धन्या यूयम्, युष्माभिः वरमात्मनीनं विमृष्टम्। वयमपि यथादेशं विधास्यामः सोपयोगम्। सत्यम्--मन्त्रभेदोऽनल्प-खेदाय कल्पते, नातो रहस्यमुद्घाटनीयमसामयिकम्। किमु भवति मधुर-रस-परिपूर्णं भक्षणार्हमकाललूनं फलम्।

सहगामि-मुनयोऽपि भिक्षुणा सबोधिमापितास्तद्विचारधाराभिः सम्यक् सम्मताः समजनिषत, पुनस्तदनुयायित्वमुररीकर्त्तुं द्रढिम्ना सज्जा अभवन् कस्यामपि परिस्थितौ।

इत्थं तच्चातुर्मास्यं भव्यानामन्तरङ्ग-भक्तिरस-परिप्लावितम्, सुमधुर - व्याख्यान - श्रवणोत्सुक श्रावक-सघात-समृद्ध-परिषत्कम्, विविध-तत्व-चर्चा-प्रशिक्षण-विलक्षण-बोधवर्धकम्, नानाकठोर-तपस्याभिः प्रवृद्धधर्म-प्रभावनम्, अभूतपूर्वमुत्साहमयमानन्दमयं सुखं सुखेन व्यतीतम्।

व्यतीतायां कार्तिकीं पूर्णिमायां मार्गशीर्षस्य प्रतिपदायां तिथौ जयजय-ध्वनि-मुखरित-दिगन्तरैः श्रावकश्राविका-समूहैः परिवृतो भिक्षुः सह सहगामिभिर्विहारं कर्त्तुमुद्यतोऽभूद् राजनगरतः।

१. धृतमौनैः।

कि मेरे आचार्य न्याय युक्त कथन को निश्चित ही शांति-पूर्वक सुनेगे, श्रावको के गम्भीर चिन्तन की प्रशसा करेगे। विनय से प्रार्थना करने पर स्वत प्रमाणित भगवान के वचन को वे स्वीकार भी करेगे। इसलिए अभी सवको मौन ही रहना है।

निवेदन कर देने पर भी यदि गुरुवर यथार्थ दृष्टि की अवज्ञा करते हुए अपने मत की रक्षा के लिए सन्नद्ध रहेंगे तव जो भविष्य के उदर मे निहित है, वह प्रकट हो जायेगा।

सुन्दर विचारो से मनोहर श्री भिक्षु की वाणी सुनकर सव ही वहुत सन्तुष्ट हुए। आप धन्य हैं, आपने वहुत अच्छे आत्म-हित का चिन्तन किया, हम भी उपयोग-पूर्वक आपकी आज्ञा के अनुसार ही करेगे। ठीक ही है, रहस्य का प्रकट करना अनेक सकटो को आमंत्रण देना है। इसलिए यह रहस्य असमय मे प्रकट नही करना चाहिए। क्या अकाल मे तोडा हुआ फल मधुर रस से परिपूर्ण और खाने के योग्य हो सकता है?

सहगामी मुनियो को भी भिक्षु स्वामी ने इस विचार धारा से अवगत कराया। वे भी उनकी विचारधारा से सम्पूर्णतया सहमत हो गये और किसी भी परिस्थिति मे उनका अनुगमन करने के लिए दृढता से तत्पर हो गये।

इस प्रकार यह चातुर्मास भव्यो की अन्तरग भक्ति के रस से परिप्लावित, मधुर व्याख्यान सुनने के उत्सुक श्रावक समूह से वढती हुई परिषद वाला, विविध तत्वचर्चा के प्रशिक्षण से विलक्षण वोध देने वाला, नाना कठोर तपस्या के द्वारा धर्म-प्रभावना वढाने वाला अभूत पूर्व उत्साह से आनन्दमय सुख-पूर्वक वीता।

कार्तिक की पूर्णिमा वीतने पर मृगसर की एकम को जय-जय ध्वनि से दिगन्तरो को मुखरित करते हुए श्रावक और श्राविकाओ के समूह से घिरे हुए भिक्षु राजनगर से अपने सहयोगियो के साथ विहार के लिए उद्यत हुए।

भूरिसमय शास्त्रावगाहे हि व्ययते स्म, अयते स्म किमप्युल्लेख-शेखरता दधान शास्त्रवाक्यम्, तत् तत्कालमेव पृथक् पत्रे एकत्री-करोति स्म स मेधावि-मूर्धन्य । यथा-यथा शास्त्राम्भोनिधौ निमज्जनतां दधौ, तथा-तथाऽपूर्वापूर्वाण्यनुभवरत्नानि समवाप । यथा-यथाऽनुभवा विवृद्धिमायन्, तथा-तथा तदवगाहे विशिष्टा रुचिर्जागरूकाऽजायत । एव वारद्वयमागम पारावारा सम्यग-वगाहिताश्चिन्तिता, पर्यालोचिता, आत्मसात्कृताश्च तेन ।

साम्प्रत भिक्षो हृदय कामपि नव्या स्थिति, भव्या क्रान्ति चानु-भवत् श्रावकाणामग्रेऽन्यदा स्पष्टमभिव्यञ्जना चकार । विलोडितो मया द्वि कृत्व समयवारानिधिर्यथार्थदृष्ट्या । तदवगाहे किय-दानन्दानुभूति कृता मया, तदहमेव जानामि वा लब्धपारमार्थिक-प्रत्यक्ष[१] कश्चित् ।

अहो ! एकैकगमके, वाक्ये, पदेऽक्षरे वा रममाणा मे मति क्षणमिव मुहूर्त्तानि निनाय । क्व शास्त्राणा निदेश , क्वास्माकमाचारो विहित-वाह्यव्यपदेश ! खड्गधारापीषत्पारा समक्षे जैनीविचारधाराया । अत्र प्रतिपद निरीक्षणम्, प्रतिवचन विवेक , प्रतिकृत्य च जागर्या । अकृतमपि मनसाकृतमत्र कृतमभिधीयते, जातमपि मनसाऽजातम-जातमेव । विगतवादे स्याद्वादे तु वहु चिन्त्य विपश्चिद्भि । नय-निक्षेपैरपि सर्वान्तरङ्ग-विक्षेप स्वत एव विदूरितो भवति भव्यात्मना हृदि । अन्ते वहु विभावयतो मम युष्मत्कथन सत्यमेव प्रतिभातम् । वय तु दोषसमूहैरावृता आचारैविचारैरपि । परन्तु, नहीदानी-मस्या विचारधाराया प्रचार कोलाहलश्च कार्य , यावदाचार्याणा सम्मुख न स्वविचारानुपढौकये, त्वरया नहि किमपि शोभन बोभ-वीति । शनै शनैर्विहितमीहित हित साध्नोति 'विविक्तात्मनाम् ।

---

१. अवध्यादिज्ञानी ।　२ सुखेन पार नेतव्या ।

प्रकार से निभाते हुए भी ज्यादा समय शास्त्रो के अवगाहन मे ही व्यतीत करते थे। कोई उल्लेखनीय शास्त्र-वाक्य पाते तो तत्काल ही वे मेधावी-मूर्धन्य एक अलग पत्र पर अकित कर लेते थे। जैसे-जैसे उन्होने शास्त्र-समुद्र मे गोते लगाए वैसे-वैसे ही उन्हे अपूर्व अनुभव रत्न प्राप्त हुए। जैसे-जैमे उनके अनुभव वढते गये, वैसे-वैसे उनकी शास्त्रावगाहन मे विशिष्ट रुचि जाग्रत हुई। इस तरह उन्होने दो वार आगम-सागरो का सम्यक् अवगाहन, चिन्तन एव पर्यालोचन करते हुए उन्हे आत्मसात् किया।

अव भिक्षु स्वामी ने कुछ नई स्थिति और भव्य क्राति का अनुभव करते हुए एक वार श्रावको के आगे स्पष्ट उद्घोपणा कर दी। मैने दो वार शास्त्र-सागर का विलोडन किया है। अपनी वुद्धि के अनुरूप उसके मन्थन मे कितनी आनन्दानुभूति की है यह मैं ही जानता हूँ या कोई सर्वज्ञ जानता हे।

अहो! एक-एक गमक, वाक्य, पद और अक्षर मे रमण करती हुई मेरी वुद्धि ने मुहूर्तो को क्षण की तरह विता दिया। कहा शास्त्रो का निर्देश? कहा वाह्य वहाना मात्र हमारा आचार? खड्गधारा से भी अति सूक्ष्म आगम की विचारधारा है। यहा पद-पद पर निरीक्षण, प्रतिवचन मे विवेक, प्रत्येक कार्य मे जागरूकता आवश्यक है। विना किया भी, मन से किया, यहा किया माना जाता है। हुआ भी, मन से न हुआ, नही हुआ माना जाता है। वाद रहित स्याद्वाद के विपय मे तो विद्वानो को वहुत चिन्तन करने की अपेक्षा है। नय-निक्षेपो के द्वारा भव्यात्माओ के आन्तरिक विक्षेप स्वत ही दूर हो जाते है। अन्त मे वहुत मनन करने पर तुम्हारा कथन मुझे सत्य प्रतीत हुआ। हमारा आचार और विचार दोषो के समूह से आवृत है। जव तक मैं आचार्य के सम्मुख अपने विचार पेश नही कर दू, तव तक इस विचार धारा का प्रचार और कोलाहल न करे। क्योकि जल्दी मे कुछ भी सुन्दर नही हो पाता। विवेकशालियो का धीरे-धीरे किया हुआ कार्य अभीप्सित और हित को साधने वाला होता है। मैं आशा करता हूँ

परम प्रिय किमपि पृथग् भवेदितीवानुभवद्भि, भक्त्यश्रु-परिपूर्णलोचनै., मस्तक-स्पर्श मुहुस्तच्चरणकमल वन्दमानै, स्तवकितपाणिपल्लव[1] माङ्गलिक-पाठ शृण्वद्भि, सुख सुख, शनै शनैर्विहर्तव्यमिति निवेदयद्भि', पुनरत्र शीघ्र दर्शन देयमिति साग्रह प्रार्थयद्भि, श्रद्धालुजनसमूहैरभिनन्द्यमाना भिक्षुप्रभृतयो मुनयो गुर्वभिमुख प्रतस्थिरे।

प्रतिग्राम स्थातु जाजायते जनाना हार्दिकी प्रार्थना, परन्तु भिक्षु स्वगुरुदिशि दत्तदृष्टिर्नहि स्थातुमिच्छति यत्र तत्र। पतन्ति वर्त्मनि भूरिशो दुर्लभभिक्षा ग्रामटिका[2]। अत सार्थद्वय विधाय वीरभानु-प्रभृति-मुनिद्वयी भिन्नेन पथा तत्र गन्तु प्रेरिता। आत्मना तृतीयो भिक्षुरपरेणाऽध्वना गन्तुमुत्सेहे। पृथग् विहरमाण मुनिद्वयमायतिहिता शिक्षा वितरन् भिक्षु जगाद—"यदि युवा पृथग् विहरमाणौ मत्त प्रथम गुरुदर्शन विदधीयाता, तत्र नात्रत्यमस्माक मान्यता-रहस्यमीपदप्युद्-घाटनीयम्। अहमागत्य स्वय सविनय सदाक्षिण्य शान्त्या समयमारा-धयञ्च शनै शनै सर्व गुरुभ्यो निवेदयिष्यामि। तदाऽनायास सत्य शिव सुन्दर सपन्न भावि। चेद् युवा मदागमनात्पूर्वमेव भिन्नत्व-भावना प्रकटीकर्त्तास्थस्तन्निशम्य गुरवो यद्युत्तेजिता भवितारस्तदा पश्चात् कथमपि न ते सम्यक् श्रद्धास्यन्ति न्याय्यमप्यस्माक कथनम्। अश्रद्दधानैर्गुरुभि सह कथमस्माक स्थायिका सभाविनी ? अतो युवाभ्यामस्मिन् विषये पूर्णमौनमालम्बनीयम्, न च व्यङ्ग्यध्वनि-नापि तेषा हृदय विचिकित्सित विधातव्यम्।

'तथा करिष्याव' इति कथयित्वा तौ मार्ग-पार्थक्य स्वीचक्रतु।

दुग्धसर्प्पिर्मध्वादिवरिष्ठमतिगरिष्ठमपि भोजन जीर्णयितु प्रभूष्णव[3] सन्ति प्रभूता पुमास, परन्तु गुह्यवार्ता सुजीर्णा न भवति

---

१. मुकलित-करपल्लवम्। २ कुत्सिता अल्पा अज्ञाता वा ग्रामा -ग्रामटिका.।

कुछ अत्यन्त प्रिय वस्तु अलग हो रही हो, ऐसा अनुभव करते हुए श्रद्धालुजन भक्ति के आसुओ से डब-डबायी आँखो वाले बार-बार मस्तक द्वारा चरण-कमलका स्पर्श कर वन्दना करने लगे। हाथ जोडकर मगल-पाठ सुनते हुए सुखपूर्वक धीरे-धीरे विहार करना'—यो निवेदन करने लगे। यहाँ वापिस शीघ्र दर्शन देना, यो आग्रहपूर्वक प्रार्थना करने लगे। इस प्रकार अभिनदित होते हुए श्री भिक्षु आदि मुनियो ने गुरु की ओर प्रस्थान किया।

हर गाव मे उन्हे ठहरने के लिए जनता हार्दिक प्रार्थना करती थी, किन्तु भिक्षु स्वामी की दृष्टि अपने गुरु की दिशा मे लगी हुई थी। वे जहाँ तहाँ नही ठहरना चाहते थे। मार्ग मे बहुत से छोटे गाव भी पडते थे जहाँ भिक्षा सुलभ नही थी। इसलिए दो ग्रुप (भाग) बनाकर वीरभान आदि मुनि-युगल को दूसरे मार्ग से वहाँ पहुचने के लिए प्रेरित किया। श्री भिक्षु आदि तीन मुनि दूसरे रास्ते से जाने के लिए तैयार हुए। पृथक विहार करने वाले मुनिद्वय को भविष्य के लिए शिक्षा देते हुए भिक्षु ने कहा—"यदि अलग विहार करते हुए तुम मेरे से पहले गुरुदर्शन कर लो तो यहाँ की मान्यता का बिल्कुल रहस्य प्रगट मत करना। मैं स्वय ही आकर विनय एव अनुकूलतापूर्वक शाँति मे समय देखकर धीरे-धीरे सब कुछ गुरुको निवेदन करुगा। तब अनायास ही सब सत्य, शिव और सुन्दर सम्पन्न होगा। आगमन से पूर्व ही तुम लोगो ने अगर भिन्नत्व भावना प्रकट कर दी तो उसे सुनकर यदि गुरुवर उत्तेजित हो जायेगे तो फिर किसी भी प्रकार वे हमारे न्याय-युक्त कथन को भी सही नही मानेंगे। अश्रद्धाशील गुरु के साथ हमारा रहना कैसे सभव होगा ? इसलिए इस विषय मे तुम्हे पूर्ण मौन रखना है और व्यग्य-ध्वनि मे भी उनके हृदय को शकित नही बनाना है।"

"ऐसा ही करेंगे" यह कहकर वे दोनो मुनि अलग मार्ग से चल पडे।

दूध, घी और मधु आदि से विशिष्ट अति गरिष्ठ भोजन को भी पचाने के लिए बहुत से मनुष्य समर्थ हैं, परन्तु उदर-पिशाचो के पेट मे भी कोई गुप्त बात नही पचती।

'कुत्सिताऽल्पाज्ञातेषु' इति कप् 'गावडिया' इति भाषायाम्। २ समर्था।

खलूदरपिशाचाना[1]मुदरेष्वपि । चित्रम्—भूमौ पदावलिमविन्यस्य-न्त्यपीय विश्वसितमधिकृत्य कर्णे चुरचुरायितापि[2], कर्णाकर्णिकया सचरिष्णु: कुत्रत्या कुत्रापि प्रसर्पति वातेनाऽनीयमानापि, वार्ता अग्रे अग्रे प्रसर्पन्ती पार्श्ववर्त्तिन्या परिस्थित्या, वातावरणेन चोपचित कलेवरा कामप्यन्यादृशीमाकृतिमासादयति ।

त्वरमाणस्यापि भिक्षो श्राद्धानामतीवानुरोधेन क्वचिदवाञ्छि-तोऽपिविलम्बः समजनि ।

विशिखगत्या[3] वहमानौ तौ मुनी कथमपि कुत्रापि काल नाऽति वाहयन्तौ सत्वर गुरुचरणान् समीपयामासतु ।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये
महाकाव्ये गद्य-प्रबन्धे दशम समुच्छ्वासः

---

१ भोजनभट्टानाम् । २. कानाफूसी, इतिभाषायाम् । ३ बाणगत्या, तीर की तरह, इतिभाषा ।

आश्चर्य ! भूमि पर पैर नही रखती हुई भी, विश्वस्त के कान मे धीरे से कही हुई भी, पवन के द्वारा अप्रसारित की हुई भी बात, एक कान से दूसरे कान मे गुजरती हुई कहा की कहा पहुँच जाती है। वह आगे-आगे बढती हुई पार्श्ववर्त्ती परिस्थिति और वातावरण से प्रभावित होकर कुछ नई ही आकृति को धारण कर लेती है।

शीघ्रता करते हुए भी, श्रावको के अति-अनुरोध के कारण श्री भिक्षु को अवाछित कुछ विलम्ब हो ही गया। वे दोनो मुनि तीर की तरह कही भी समय नही लगाते हुए गुरु के चरणो मे शीघ्र ही पहुँच गए।

दशवा समुच्छ्वास समाप्त



एकादश. समुच्छ्वासः | *

समस्त-वस्तु-विसर लघु-हिमकरण-मौक्तिकैर्मण्डयन्निव, प्रचण्डोऽपि रोषो न क्षान्ति-शक्त्याहन. स्थातु शक्त इतीव निजापरिमेय-शीतलतयोष्णता निर्गमयन्निव, न सर्वत्र समेपा सदृशी सपर्येति[1] [2]धूमयोनेरवमाननामभिव्यञ्जयन्निव, चिरबद्धकपाटाना गर्भ-गृहाणां द्वाराण्युद्घाटयन्निव, कामेन सह शीतेन कम्पमान-तनुना प्रवासिना पत्या विरहिणी श्यामां स्मारयन्निव, पुष्टिकृते वाताद[3]-पिस्तकाहि-फेनवीज - घुसृणाम्वर - देवकुसुम-शुण्ठि - सितोपलादि-पौष्टिक-द्रव्य-मिश्रितान् मुद्ग-माप-दालि-मोदकान् धन्यान् भोजयन्निव, सुलभ-सर्ववस्तूना सौभाग्यभाजां पूर्ण सम्माननीय· शीतर्तु समाजगाम ।

"सूर्यदेव ! शीघ्र तवोष्णान् किरणान् प्रसारय, पश्य तव शिशव. हिमान्याऽत्यन्त-कम्पमान-शरीरा [4]कटकटायितदशनास्तिष्ठन्ति" एव गावा. क्वचिदुन्नत-प्रदेशे खरांशुताप[5] प्रतीक्षमाणा प्रार्थ-याञ्चक्रु । अष्टमासेभ्य पुञ्जीकृता नीशारा[6] आविकाश्च शीतर्तु-कृपया दिवानिशमुपयोगितामापु । द्रविणाभावदु खिता जानु-भानु-कृशानुभि कथ कथमपि काल यापयन्तो बुभुक्षा-क्षामकुक्षयो रौद्र[7] वस्तुवृत्या रुद्र मेनिरे । चित्रम्—तस्मिन्नपि जैनामुनयोऽल्प-वासासि

---

१ सेवा । २ मेघस्य । ३ वाताद-बादाम, पिस्ताक-पिस्ता, अहिफेन वीज, पोस्त के दाने, इतिभाषा । ४ दातो को कटकटाते हुए, इतिभाषा । ५. सूर्य-

* ग्यारहवां समुच्छ्वास

समस्त वस्तु-समूह को ओसविन्दु रूप मोतियो से मण्डित करती हुई, प्रचण्ड रोप भी शान्ति के आगे नही ठहर सकता, मानो यह व्यक्त करने के लिये अपनी अपार शीतलता से निदाघ को मिटाती हुई, सव जगह सव की समान पूजा नही होती, मानो यो मेघ की अवमानना अभिव्यक्त करती हुई, भूमिगत (भोहरे) मकानो के वहुत समय से वन्द किये हुए कपाटो को खोलती हुई, काम के साथ शीत से कापते हुए शरीर वाले प्रवासी को विरहिणी कामिनी का स्मरण कराती हुई, पुष्टि के लिये वादाम, पिस्ता, केसर, अम्वर, लवग, सूठ और मितोपलादि पौष्टिक द्रव्यो से मिश्रित मूग, उडद की दालो के लड्डुओ का धनिको को भोजन कराती हुई, जिनको सब वस्तुएँ सुलभ है, उन सौभाग्यशालियो के लिये पूर्ण सम्माननीय रूप से शीत ऋतु अवतरित हुई।

"सूर्यदेव! शीघ्र तुम्हारी गर्म किरणो को फैलाओ। देखो तुम्हारे वच्चे वर्फ से अत्यन्त कम्पित शरीर वाले दातो को कटकटाते हुए खडे है।" यो कुछ ऊँचे स्थान पर सूर्य के ताप की प्रतीक्षा करते हुए वच्चो ने प्रार्थना की। आठ महिनो से तह कर रखी हुई रजाईया और कम्वलें शीत ऋतु के अनुग्रह से दिन-रात के लिये उपयोगी वन गई। धनाभाव से दुखित, भूख से क्षीण उदर वाले लोगो ने जानु, (घुटने) भानु और कृशानु (आग) के माध्यम से जैसे-तैसे समय को विताते हुए रौद्र (हेमत) को वस्तुत रुद्र (भयकर) माना। विस्मय है! उसमे भी जैन मुनि थोडे-से वस्त्र धारण करते

तापम्। ६ रजाइया, इतिभाषा। ७ हेमन्तम्।

विभ्रतो स्कन्धे धृतोपकरणा पानीय-पात्र-पाणय [१]सूक्ष्म-वैयुष्ट-मिहिका-वृष्टचाऽसह्यशीतले भूतले त्यक्तपदत्राण विहरन्ते । जाड्यमापितकर्ण-नक्र-कर-पदागुलि-प्रान्तमपि प्रालेय[२] मुष्टिद्वयमात्रसाध्य मन्वाना अतोऽनन्तगुणिता नारक-शीत-यातना स्मृति नयमाना स्तत्परीषहमकिञ्चित्कर गणयन्तोऽवगणयन्ति । उत, सर्वमपि कष्ट धैर्याधैर्य-निकषे निष्टङ्कितमल्पत्व बहुत्व चापनोपद्यते ।[३]

पतति शीते तीव्रतरे मरुधर-प्रदेशे विहरमाणा रघुनाथाचार्या भिक्षोरागमन प्रतीक्षमाणा साधुसङ्घ—परिवृता सहजित (सोहजत) पुरीमधिवसन्ति स्म तदानीम् ।

भिक्षो प्रागेव तौ मुनी सहसा गुरुपादाब्ज-मूल स्वात्मान निन्यतु. । सहर्ष सोत्साह सविनय गुरु वन्दमानौ सुखप्रश्न च पप्रच्छतु. । वात्सल्य वर्षता तयोर्मौलौ कृपा-सूचक कर-पल्लव निक्षिपता गुरुणा शारीरिकी, मानसिकी च कुशल-पृच्छा सस्नेहमकारि । 'क्वास्ति भिक्षु. ? कथ द्वाभ्यामेवात्रागतम् ? [४]कच्चिदस्ति स कुशली ?' किमप्यनिष्टमाशङ्कमानया मुद्रया पुनर्गुरुणाऽप्रच्छि । "अस्ति भगवन् ! स युष्माक प्रेष्ठ.[५] शिष्योऽस्माक प्रष्ठो[६] मुनिर्नितान्तमानन्दी वपुषा मनसापि" सहसा प्रत्यवादि द्वाभ्याम् ।

"किमेतादृश कारण जागरित यद् वा[७] न पश्यामि तत्सहगामिनौ साम्प्रतम्" पुन सविस्मयमाचार्येणाभ्यूहितम् ।

न चिन्त्य किमपि, पतन्ति खलु पथि भूरिशो ग्रामटिकास्तत्र न सुलभा भिक्षा भिक्षुकैरतस्तै. पथपार्श्वक्यमावयोर्विहितम्, अविलम्बमावामागतावत्र, तेपामप्यद्यश्वीन[८] ह्यागमन भावीति नौ निर्णय ।

---

१ सूक्ष्म-प्राभातिक-हिमवृष्ट्या । २. हिमपातम् । ३. भृश आपद्यते आपन्नः पद्यते । ४. इष्टप्रश्ने । ५ अतिशयेन प्रिय । ६ अग्रगामी । ७. युवाम् ।

हुए कन्धो पर उपकरण रखकर पानी का पात्र हाथ मे लेकर प्रभात मे होने वाली सूक्ष्म वर्फ की वृष्टि से एकदम शीतल वनी जमीन पर विना जूते पहने विहार करते है। कान, नाक, हाथ और पैर की अगुलियो से अग्रभाग को जड वना देने वाली सर्दी को दो मुठ्ठी मात्र मानते है। इससे अनन्तगुनी नरक की शीत-यातना को याद करते हुए, शीत-परीषह को मामूली समझते हुए उसकी उपेक्षा कर देते है। वास्तव मे सारे ही कष्ट धैर्य-अधैर्य की कसौटी पर कसने पर ही कम ज्यादा अनुभूत होते है।

उस तीव्र सर्दी के समय मरुधर प्रदेश मे विहार करते हुए आचार्य रघुनाथजी, श्री भिक्षु के आगमन की प्रतीक्षा मे अपने साधु सघ से परिवृत 'सोहजत' शहर मे विराजमान थे।

भिक्षु से पहले ही वे दोनो मुनि अकस्मात् गुरु के चरण कमलो मे पहुँच गये। सहर्ष उत्साहपूर्वक विनय से गुरु को वन्दना की और सुख प्रश्न पूछा। गुरु ने भी वात्सल्य की वर्षा करते हुए अपना कृपा-सूचक हाथ उनके मस्तक पर रखा एव स्नेहपूर्वक शारीरिक तथा मानसिक कुशल पूछा। भिक्षु कहा है? तुम दो ही यहां कैसे आये? क्या वह कुशल है? कुछ अनिष्ट की आशंकावाली मुद्रा से गुरु ने फिर जानना चाहा। "हा भगवन्! वह आपका अतिप्रिय शिष्य और हमारा अग्रेसर मुनि शरीर और मन से पूर्ण स्वस्थ है।" 'तत्काल उन्होने प्रत्युत्तर मे कहा।

"ऐसा क्या कारण हुआ उसे और उसके साथियो को नही देख रहा हूँ?" विस्मय करते हुए आचार्य ने पुन प्रश्न उपस्थित किया।

सोचने जैसा कुछ भी नही, मार्ग मे वहुत से छोटे गाव पडते है, वहां साधुओ को भिक्षा सुलभ नही है, इसलिये उन्होने हमारा पथ पृथक् कर दिया। हम यहां जल्दी पहुँच गये। वे भी आज-कल तक पहुँच जायेंगे, ऐमा लगता है।

---

८ आसन्नम् आज-कल तक, इतिभाषा।

अवगन्तव्यमिदमेव यद् राजनगरीया श्रावका. सत्या सत्यप्ररूपका: सत्यप्रेरकाश्च। तद्वद् वयमसत्या असत्य-प्ररूपका सावद्यानुमोदयितारश्च। प्रत्यह प्रतिपदमस्माभि प्रायश्चित्तार्हाणि कार्याणि क्रियन्ते। उपाश्रयादिनिर्माणाय श्रावका- प्रेर्यन्ते। उद्गमोत्पादादिदोपकलुपित प्रायोऽन्न-वस्त्र-पात्रौषधाद्युपभुज्यते। नास्ति तत्वानां श्रद्धापि न. शास्त्रोन्मुखा। [1]आलप्यालमिदम्, कणपरीक्षया स्थालीपाकपरीक्षा स्वतोऽर्थापत्याऽनुमातव्या। हन्त! बहुविकृत विद्यतेऽस्माकम्, तत्सर्व भिक्षुराख्यास्यति चारुतया।

स्वामिन्! वस्तुतस्तु तत्र तान् प्रतिबोधयितु गता वय, प्रत्युत तेभ्य प्रतिबुद्धा.। जाज्वल्यमानोऽय.पिण्डो यथा तोय तप्तिमानेतुं गतोऽपि स्वय शीतलतामात्मसात्करोति, तथा वयमपि।

यौक्तिक तेपा कथन रहस्ये भिक्षुणा निर्विवाद प्रतिपन्नमतएव श्रावकैर्भक्त्या वन्द्यः पूज्य. सम्माननीयश्चाजनि।" इति निगद्य जोषमासिषेवाते तौ।

इति श्रुत्वा कोपकम्प्राधरा अरुणितनेत्रा भृकुटि-भीपणा विमनायिताश्च जज्ञिरे गुरुचरणा।

ओ'!! किं चिन्तित, किं जातम्? मम प्रत्ययितो भिक्षुर्मे ग्रन्थिच्छेद करिष्यतीति स्वप्नान्तरेऽपि नाऽकल्पि मया।

धिग् धिग्!! वयमुन्मार्गगामिन'! वराका श्रावका सत्यालोचका'!! नाहमेतादृशं घोरमपमान सहिष्ये, करिष्ये च तात्कालिकी प्रतिक्रियाम्। येन श्रावकै. सह भिक्षुरपि भोत्स्यते स्वत उन्मार्ग-प्ररूपणा-फलम्। किमत्र [2]पोपाभगिन्या राज्यम्? यदृच्छया कोऽपि किमपि प्ररूपयितु शक्नुयात्! आगच्छतु भिक्षुर्दर्शयिष्यामि

---

१ अल कथनेन। २. पोपाबाई का राज्य, इतिभापा।

निवेदन करते है। उनका यही तात्पर्य है कि "राजनगर के श्रावक सच्चे हैं, सत्य प्ररूपक है और सत्य-प्रेरक हैं, वैसे ही हम असत्य है, असत्य के प्ररूपक हैं और सावद्य की अनुमोदना करने वाले है। प्रतिदिन पग-पग पर हम प्राय-श्चित्त-योग्य कार्य करते है। उपाश्रय आदि के निर्माण के लिये प्रेरणा देते है। उद्‌गम, उत्पाद, आदि दोषो से दूषित अन्न, वस्त्र, पात्र और औषधि आदि का उपयोग करते हैं। तत्त्वो की श्रद्धा भी हमारी शास्त्र-सम्मत नही है। बस, अधिक कहने से क्या ? कण-परीक्षा से हडिया मे पके हुए धान्य का अर्था-पत्ति से स्वत अनुमान लग जाता है। खेद है—हमारा बहुत कुछ विकृत है, वह सब अच्छी तरह भिक्षु ही बतायेंगे।

स्वामिन् ! वास्तव मे वहा हम उन्हे प्रतिबोध देने के लिये गये हुए हम उनसे प्रतिबोध ले आये हैं। जैसे पानी को गर्म करने के लिये गया हुआ जाज्वल्यमान लोहे का पिण्ड स्वय शीतलता पा जाता है, वैसा ही कुछ हमारे साथ हुआ।

युक्तिपूर्ण उनका अभिमत, एकान्त मे भिक्षु मुनि ने निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया। इसलिये ही वे श्रावको के द्वारा भक्ति से वन्दनीय, पूजनीय और सम्माननीय हो गये, इतना कहकर वे दोनो मौन हो गये।

यह सुनकर आचार्य रघुनाथजी के अधर कोप से कापने लगे, आखे लाल हो गई, भृकुटी भीषण रूप से तन गई और एकदम अन्यमनस्क हो गए।

अहो ! क्या सोचा था ? क्या हो गया ? मेरा परम विश्वास पात्र भिक्षु मेरी ही गांठ काटेगा—ऐसी मुझे स्वप्न मे भी कल्पना नही थी।

धिग्-धिग् ! हम उन्मार्गगामी है और वे बेचारे श्रावक सत्य के आलोचक है ! ऐसा घोर अपमान मैं नही सहन करूँगा और तत्काल प्रतिकार करूँगा, जिससे श्रावको के साथ स्वय भिक्षु भी उन्मार्ग-प्ररूपणा का फल भोगेगा। क्या यहाँ पोपाबाई का राज्य है ? जो स्वेच्छा से कोई भी, कुछ भी, प्ररूपणा

"वहूपकृत युष्माभिस्तत्र, परिवर्धमानेनोत्साहेन चातुर्मास्य व्यतीतमिति शोश्रुतमागन्तुकाना मुखेभ्य " पुन सोल्लास जिज्ञासित गुरुवर्येण ।

"सर्व श्रीमता कारुण्यम् । महत्प्रभावशाली युस्माकमन्तेवासी भिक्षु मुनि । न कथ सुरभिताना सुमनसा सौरभ दिग् दिगन्तर प्रसर्पेत् ? किन्तु" • • प्रोक्तमन्यतरेण मुनिना ।

"कथ प्रयुक्त त्वया किन्तु ? किन्तुना प्रतिपाद्यमपोदित स्यात् । कि सदिग्धा श्रावका नाभवन् गुरभक्ति-स्निग्धा " ससभ्रम वुभुत्सित[1] चाचार्यै ।

'न कथ जाता ? जाता श्रावकास्तु तद्भक्तिरक्ता, परन्तु तत् सर्व भिक्षुरागत्यैव कथयिष्यति, नास्माकमधिकारस्तदाविर्भावयितुम्" प्रत्युक्त सव्यङ्ग तेन ।

"तद्भक्ति-रक्ता वा मद्भक्ति-रक्ता, कि त्वया व्यक्तीकृत शव्दजालमुत्सर्पयता मुधैव । स्पष्टय, किमन्तरङ्गा स्थितिरिति" सभारमाचार्यैरन्वयोजि पुनरपि ।

"अलमस्थानीयया चर्चयाऽनया, सोऽलकर्मीण स्वयमवगमयिष्यति गुरु यथार्थरहस्येन वीतशङ्कम् । आगच्छन्त एव सन्ति ते मुनयो न वहीयान्[2] विलम्व " विज्ञप्त ताभ्याम् ।

"किमस्ति गोप्यमाचार्याणां पुरत विनयिना विनेयानाम्[3] ? न भेतव्य युवाभ्याम्, सत्य-परिस्थित्याऽवगन्तव्या वयम् । न धैर्यमालम्वते जिज्ञासातुर मे चेत " आश्वासन ददता रघुणाचार्येणाऽऽज्ञापि ।

अग्रगण्य-शासनादप्याचार्याणामाज्ञा वलीयसीति विभावयद्भ्या ताभ्या किञ्चिद् रहस्योद्घाटनमकारि—"भगवन् ! भिक्षुणैव विज्ञपनीय सर्वम्, तथापि युष्मदादेश-निघ्नतया[4] प्रकाश्यते किञ्चिद् ।

---

१. वोद्धुमिष्टम् । २ अतिशयेन वहु वहीयान् । ३ शिष्याणाम् ।

"वहां तुम लोगो ने बहुत उपकार किया, खूब उत्साहपूर्वक चतुर्मास व्यतीत किया, ऐसा आगन्तुक लोगो के मुंह से सुना है" गुरु ने उल्लास-पूर्वक फिर जिज्ञासा की।

"सब आपके चरणो का प्रताप है। आपके अन्तेवासी मुनि भिक्षु महान् प्रभावशाली हैं, सुरभित सुमनो की सौरभ दिग-दिगन्तर तक महक ही जाती है।" किन्तु दूसरा मुनि बोला।

"तुमने किन्तु का प्रयोग कैसे किया ? किन्तु से कही हुई बात अपवाद वाली बन जाती है। क्या सदिग्ध श्रावक गुरु भक्ति मे रक्त नही हुए ?" आश्चर्यपूर्वक आचार्य ने पूछा।

"नही क्यो हुए ? श्रावक तो उनकी भक्ति मे रक्त हुए ह, परन्तु वह सब भिक्षु मुनि आकर ही बताएंगे। उसे प्रकट करने का हमारा अधिकार नही है" उसने व्यगपूर्वक उत्तर दिया।

"उमकी भक्ति मे रक्त या मेरी भक्ति मे रक्त—शब्दजाल फैलाते हुए व्यर्थ ही यह तुमने क्या कहा ? स्पष्ट करो। अन्तरग स्थिति क्या है ?" दवाव देकर आचार्य ने पुन पूछा।

"इस अस्थानीय चर्चा से क्या मतलब ? वे कार्यक्षम स्वय ही आपको नि सकोच यथार्थ रहस्य की जानकारी देगे। वे आनेवाले ही है, ज्यादा विलम्ब नही है" दोनो ने निवेदन किया।

"विनयवान शिष्यो के आचार्यो के समक्ष गोपनीय क्या होता है ? तुम डरो मत, मुझे सही परिस्थिति से अवगत करो। मेरा जिज्ञासातुर मन धैर्य नही रख सकता।" आश्वासन देते हुए आचार्य रघुनाथजी ने आज्ञा दी।

अग्रण्य के आदेश से भी आचार्य की आज्ञा विशिष्ठ होती है—यह चिन्तन करते हुए उन दोनो ने कुछ रहस्योद्घाटन किया—भगवन् ! भिक्षु मुनि ही सब कुछ बतायेंगे, फिर भी आपका आदेश पालने के लिये हम कुछ

४. युष्मदादेशाधीनतया।

दिवसेऽपि [1]ज्योतिश्चक्रम्। एव रघुराचार्यो विहितान्तर्जल्पमनल्प-विकल्प-तल्पगो बभूव।

हन्त! अनवसरेऽमृतमपि विषायते, विषमप्यवसर-प्रयुक्त-ममृत-मतिरिच्यते। एकमेव वस्तु महद्धस्तोपढौकितं सन्महर्घ्यत्वमालिङ्गति, बहुमूल्यरत्नमपि कौलटनेयकरक्रोडस्थ[2] शतमूल्यमपि नार्हति। अवसरे प्रयुक्तमेकमपि सूक्त स्वात्या शूक्तिगत पानीयपृषदिव[3] मौक्तिकता-माराधयत् सेवते सार्वभौमाना मञ्जुलमौलिमुकुटानि। नितान्त-मन्तारक्ष्यमपि गुह्य भग्नपात्रगत पानीयमिव बहिरायात्यल्पसत्वा-नाम्। अत एव देवानाप्रियाना[4] नाग्रेसरता कमनीया। मूढाना मण्डनमस्ति मौनम्। तथापि ते मूढतया तन्मण्डन-मूल्याङ्कन कर्त्तुमक्षमा।

चित्रम्! नावापि पशुभि स्पष्टा वाणी, किन्तु कल्याणी वाणी प्राप्यापि तत्प्रयोगपद्धतिमविन्दमानो मन्द प्रतिपदमानन्द मन्दयति स्वजिह्वया। अथवा सत्यमुक्त नीतिविदा—

"वर पण्डित प्रत्यवस्थाता[5], भवति य समयमाप्य त्राता।
मूर्खो हितकारकोऽपि स्यात्समये निरर्थकमनर्थकारी।"

विवेको हि व्यनक्ति मनुष्यमपरजन्तुजातिभ्य, यदि स एव न स्फुरति मनुष्ये तर्हि चतुष्पदी-विहीनोऽपि प्रत्यक्षो नृपशु।

इत कतिपय-दिवसानन्तर समाजग्मुर्भिक्षुप्रभृतयो यतयो गुरू-पकण्ठम्। उच्चै स्वरं गुरुमभिनन्दन्तस्ते सभक्ति त्रि·प्रदक्षिणीकृत्य सावत्सरिक-चातुर्मासिक-पाक्षिक-क्षमापनामाम्रेडयन्त सोल्लास ववन्दिरे। चरणारविन्द मस्तकेन स्पर्श-स्पर्श सुख प्रश्नयामासु·, किन्तु अरुणिताभ्या नेत्राभ्या कोपधारा वर्षतेव गुरुणा न वन्दना

---

१. तारा दिखलाना, इतिभाषा। २ वराकीपुत्र-करगतम्। ३. पानीय-बिन्दुरिव। ४· मूर्खाणाम्। ५ शत्रु।

कर सके। आने दो भिक्षु को, दिन मे भी तारे दिखा दूँगा।" इस तरह आचार्य रघुनाथजी अपने मन मे अनेक विकल्प उठाने लगे।

हन्त ! विना अवसर अमृत भी विष वन जाता है। विष भी अवसर पर प्रयुक्त किया हुआ अमृत से भी अधिक फलदायी होता है। एक ही वस्तु महान व्यक्ति के हाथ मे पहुँची हुई महामूल्यवाली वन जाती है, वहुमूल्य रत्न भी घर-घर मे फिरने वाली भिखारिन के वच्चे के हाथ मे पडा सैकडो का मूल्य भी नही पाता। अवसर पर प्रयुक्त एक भी सूक्त, स्वाति-नक्षत्र मे सीप के मुंह मे गये जलविन्दु के समान मोती वनकर सम्राटो के मंजुल मुकुटो की शोभा वढाता है। नितान्त गोपनीय गुह्य भी, फूटे वर्तन के पानी की तरह, अल्पसत्व मनुष्यो मे नही टिक पाता। इसीलिए मूर्खों की अग्रेसरता शोभनीय नही होती। मूर्खों का मण्डन मौन है, फिर भी वे मूढता के कारण उस मण्डन का मूल्याकन नही कर पाते।

आश्चर्य है ! पशुओ ने स्पष्ट वाणी नही पाई, किन्तु मूर्ख कल्याणमयी वाणी पाकर भी उसके प्रयोग का सही ढग नही जानने के कारण कदम-कदम पर अपनी जीभ से आफत मोल ले लेता है। नीतिकारो ने ठीक कहा है—

"विद्वान शत्रु अच्छा है, वह समय पाकर रक्षक हो सकता है,
परन्तु मूर्ख हितकारी भी समय पर वेमतलव अनर्थकारी वन जाता है।"

विवेक ही मनुष्य को दूसरे जीव-जन्तुओ से पृथक् करता है। यदि वही मनुष्य मे स्फूर्त नही होता तो चार पैर न होते हुए भी वह प्रत्यक्ष नर-पशु है।

इधर कुछ दिनो वाद भिक्षु आदि मुनिजन गुरु के पास पहुँचे। ऊचे स्वर से गुरु का अभिनन्दन करते हुए उन्होने भक्ति-पूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर सावत्सरिक, चातुर्मासिक, पाक्षिक क्षमापना करते हुए सोल्लास वन्दना की। चरणकमलो का वार-वार मस्तक से स्पर्श करते हुए सुख-पृच्छा की, किन्तु लाल आखो से कोप की धारा वरसाते हुए गुरु ने वन्दना स्वीकार

स्वीचक्रे[1], न च वात्सल्येन करकमलमपि न्यधायि तेषा भक्तिनतेषु मस्तकेषु, प्रत्युत कषायौषध-पानखिन्नेनेव विमुखेन तन्मुखेनाऽभावि ।

इत्थ विमनायित भृकुटि-भीषरण, अरुरिणम्ना तप्तताम्र स्मारयदिव गुरोवदन विलोक्य भिक्षु शङ्कितहृदयो बभूव । किमपराद्ध मया, यद् गुरुर्न वन्दना स्वीकुरुते, न मस्तके कर धत्ते, नाऽऽलापयति च वात्सल्यकिरा गिरा । उत, आगतभ्या प्रागेव ताभ्या मुनिभ्या नून मन्त्रभेदो व्यधायि । अन्यथा मयि [2]हार्द्माभेजाना आचार्या कथ कोपकाषायिताक्षा स्यु ? असुन्दरमसाम्प्रतमुपनतमिदम् । खलु निर्णयामि साम्प्रतमेव ।

भगवन् ! कथमकृपाभाजनमय शिष्य ! वात्सल्यदानदक्षो दक्षिणो भवदीय कर कथ न स्पृष्टवान् मे मस्तकम् ! सुधामध्यनाहृतगर्नि नयन्ती श्रीमत्की वाणी न कथमुल्लापपट्वी बभूव मे ! मया किमनुचितमाचरितम्, यदत्रभवता चित्तमीदृशी ग्लानिमनैषीत् ?

क्षमाश्रमण ! शिष्याना शतशोऽप्यपराधा सह्यन्ते गणनिर्वाहकुशलैराचार्यै । अज्ञाता ज्ञाताश्चानेकशो ह्याशातना[3]जन्यन्तेमादृशैर्मन्दमेधोभि , परन्तु नहि मनस्विनो गुरुत्वमर्पयन्ति तादृशानि घटनाचक्राणि । अत एव 'सायरवरगभीरा' इति कथ्यन्ते महान्त शास्त्रेषु ।

एव विनयकान्तेन शान्तेन भिक्षुवचसा प्रेरितोऽपि नलिकयाऽऽत्तपवनप्रवाह-पावक इव प्रत्युत गुरुवर सज्वलित सजज्ञे, उष्णिमान प्रथयन् परुषैर्वचनै व्याजहार—"न जानासि किमपराद्ध त्वया ?

---

१. भावकर्मणः रूपमिदम तेन कर्तरि तृतीया । २ हार्दम्-प्रेम ।

नही की, और न ही उनकी भक्ति से विनत मस्तको पर वात्सल्य से अपना हाथ ही रखा। प्रत्युत कडवी औषधि के पान से विकृत मुँह की तरह उनका मुख विमुख रहा।

इस प्रकार विमनायित भृकुटि-भीषण, ललाई से तप्त ताँबे की स्मृति कराता हुआ-सा गुरु का मुख देखकर भिक्षु शकित-हृदय हुए। "मैंने क्या अपराध किया कि गुरु वन्दना भी नही स्वीकार करते, न सर पर हाथ रखते है और न ही वात्सल्यमय मधुरवाणी से बोलते है। क्या पहले आए हुए उन मुनियो ने रहस्य खोल दिया? अन्यथा मेरे पर पूर्ण स्नेह दृष्टि रखने वाले आचार्य इतनी लाल आखे क्यो करते? यह कार्य तो बडा ही असुन्दर और अनुपयुक्त हुआ। मैं अभी इसका पता लगाता हूँ।"

भगवन्! यह शिष्य अकृपा का पात्र क्यो है? वात्सल्य-दान देने मे प्रवीण आपके दक्षिणहाथ ने मेरे मस्तक का स्पर्श क्यो नही किया? सुधा से भी ज्यादा मधुर आपकी वाणी मेरे लिये क्यो नही खुली? मैंने ऐसा कौनसा अनुचित आचरण किया कि आपके दिल मे मेरे प्रति ऐसी घृणा उत्पन्न होगई!

क्षमाश्रमण! शिष्यो के सैकडो अपराध भी गणनिर्वाह-कुशल आचार्य सहते हैं। मेरे जैसे मद-बुद्धि ज्ञात-अज्ञात मे अनेक वार आशातना कर देते हैं, परन्तु आप जैसे मनस्वी उस घटनाचक्र को कोई महत्व नही देते। इसलिए ही महात्माओ को शास्त्रो मे 'सायरवरगभीरा' कहा है।

इसप्रकार के विनय भरे भिक्षु के शान्त वचनो से प्रेरित भी, नन्निका द्वारा हवा प्राप्त आग की तरह, गुरुवर एकदम भडक उठे। क्रुद्ध होकर कठोर वचन से बोले—"तू नही जानता! तूने कैसा अक्षम्य अपराध किया

---

२. विनयमर्यादोलङ्घनम् आशातना. कथ्यन्ते।

अनुचितमाचर्यापि तत्र पिधान दित्ससि ? तितांससि[1] च दम्भदक्षता मत्पुरतोऽपि ? कथमिव यवसपुञ्जे[2] चिराय तिष्ठति सवृतो धनञ्जय[3] ? पिहितमपि विहितमाग[4] क्वचिद् विस्फोट जनयत्येव । विश्वसता मया यत् कार्यार्थ प्रेपितस्त्वम् तद् विपरीत विधाय विनयव्याजेनाऽनयमकृतमिव चिकीर्षसि ? न सहिष्येऽह सङ्घ-परम्परा-तिरस्कारकर्त्री व्यक्तिगतामुच्छृङ्खलताम् । मामसूचयित्वैव त्वया कथकारं स्वमत्या विरुद्धघोपणाऽकारि कतिचनजनाना तोपार्थम् ? जात साम्प्रत भिन्न पन्था आवयो । विचारभेदो हि भिनत्ति सुदृढमैक्यमासेवमानान्यपि राष्ट्राणि । विचारधाराणामैक्येनैवैक-सूत्रप्रोता मणय इव सहस्थातु शक्नुवन्ति परम-प्रेम्णा पर सहस्रा । न मया तव कोऽपि सबन्ध, कुरु यदृच्छया प्ररूपणा को निरुणद्धि त्वाम्" ।

अत्युष्मोपतप्ताम्बरीपे[5] न शीतलजलकणा स्थितिमश्नुवते यथेति नीतिज्ञो भिक्षुर्विवर्धितमन्युमाचार्य विनय-गर्भया गिरा शीतलयन्निव कृताञ्जलिर्बभापे —"गुरुदेव ! भवत्पुरतोऽतद्रूपतया केनाप्यविवेकिना प्रस्तुता मत्कृता प्ररूपणा । सैव श्रीमता चित्ते खेदहेतुता गता । अह चारुतया व्यञ्जयिष्यामि ता निश्छल श्रीचरणानामग्रे । स्वयमेव ज्ञास्यन्ति गुरवोऽनौचित्यमौचित्य च तस्या । तथापि चेन्न प्रत्येति भवता चेतो मदुच्चारिता विचार-परम्पराम्, तर्हि प्रायश्चित्तेन मच्छुद्धिर्विधातव्या । यतो गुरूण:-मुपालम्भो भाग्यभाजामेव लम्भनीय । ते सूक्ष्मामपि क्षति न सहन्ते-तरामिति युक्तम् । तेपामवगुणसहिष्णुता शिप्याणामतीवाहितकरी जाजायते । दुर्गुणवर्जन गुरूणा तर्जनमपि सद्गुणानामावर्जन[6]

---

१ तनितुमिच्छसि । २ घासपुञ्जे । ३ अग्नि । ४ अपराध । ५ अतितप्तभ्राष्ट्रे । ६ सम्मुखीकरणम् ।

है ? अनुचित आचरण करके भी उसे ढकना चाहता है ? घास के ढेर मे छिपाई हुई आग वहुत समय कैसे टिक सकती है ? छिपाया हुआ अपराध कभी विस्फोट कर ही देता है ! विश्वस्त समझकर मैंने तुम्हे जिस कार्य के लिये भेजा था उसके विपरीत करके अव विनय के छल से यह दिखाने का प्रयास करता है कि मैंने गलत नही किया, लेकिन मै सघ परम्परा का तिरस्कार करने वाली व्यक्तिगत उच्छृखलता को कभी सहन नही करूगा ।

मुझे कोई सूचना दिए बिना ही कुछ व्यक्तियो के सतोप के लिए तुमने अपनी मति से ही नियम-विरुद्ध घोपणा कैसे की ? अब हमारा मार्ग अलग हो गया है । विचार-भेद सुदृढ एकता के सूत्र मे बधे हुए राष्ट्रो मे भी भेद डाल देता है । विचारो की एकता से ही एक धागे मे पिरोए हुए मणको की तरह हजारो आदमी परम प्रेम से साथ रह सकते है । अव मेरा तेरे साथ कोई सम्वन्ध नही है । मनचाही प्ररूपणा करने के लिए अव तुझे कौन रोकता है ? "अतिशय उष्मा मे उत्तप्त भाड पर शीतल जल के कण नही ठहर सकते" इस नीति के जानकार भिक्षु ने क्रुद्ध आचार्य को विनय भरी वाणी के द्वारा शीतल करते हुए वद्धाजलि होकर कहा—"गुरुदेव ! आपके आगे इस रूप मे मेरे द्वारा कृत प्ररूपणा किसी अविवेकी ने प्रस्तुत की है । वही आपके चित्त की खिन्नता का कारण वनी है । मैं उसे समीचीनता-पूर्वक निश्चलभाव से आपके चरणो मे अभिव्यजित करूगा और आप स्वय ही उसका औचित्य अनौचित्य जान जायेगे । इतने पर भी अगर मेरी कही हुई वात पर आपका हृदय विश्वस्त नही होता है तो प्रायश्चित्त के द्वारा मैं शुद्धि के लिए तत्पर हूँ, क्योकि गुरुओ का उलाहना भाग्यशालियो को ही मिलता है । वे (गुरु) छोटी-सी गलती को भी नहीं सहते, यह उचित है । उनके द्वारा अवगुणो का सहना शिष्यो के लिए वहुत अहितकारी वन

विलसति। तेषा कठोरापि प्रवृत्ति सितोपलेव किञ्चिदार्द्रीभावमासाद्य द्रवति तत्कालमेव। धन्योऽहमद्य गुरूणा परुषाभिर्गोभिर्निकषायित.।

इत्थ बहु विनयमादर्शयन् नितान्तहितेच्छुर्भिक्षु स्वगुरून् प्रसादयामास। कथमपि प्रसत्तिमाप्ता गुरव सम विधि यथावत् पालयामासु., लालयामासुश्च बहिर्वन्धुरेण व्यवहारेण भिक्षु पुन.।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये
महाकाव्ये गद्यप्रबन्धे एकादश समुच्छवास:

जाता है। दोषो की वर्जना करने वाली गुरुओ की तर्जना भी सद्‌गुणो की सर्जना है। उनकी कठोर प्रवृत्ति भी मिसरी के समान थोडा गीलापन पाकर तत्काल ही द्रवित हो जाती है। आज मैं धन्य हूँ, गुरुदेव के कठोर वचनो की कसौटी पर कसा गया।

इस प्रकार बहुत विनय दिखाते हुए नितान्त सघ का हित चाहने वाले भिक्षु ने अपने गुरु को प्रसन्न कर लिया। किसी प्रकार प्रसन्न हुए गुरु ने सारी विधि का यथावत् पालन किया और बाह्य व्यवहार को सुन्दर बनाते हुए भिक्षु की पुन वर्धापना की।

ग्यारहवा उच्छ्वास समाप्त



द्वादश. समुच्छ्वासः | *

सत्यमेव सत्यम्, सत्यमेव शिवम, सत्यमेव च सुन्दरमिति समन्तात्सर्वेऽपि विदुषा वरीयासो विदन्ति निगदन्ति च। तथापि सरलमपि तदनुशीलन न कर्त्तु शक्यते प्रायो मनुष्य.। परिणाम-शोभनमपि तदाऽऽपाते सत्यप्रियस्स धैर्य परीक्षितुकाममिव किञ्चित् कटुकायते बहुश। अतएव तदखण्डलाभदत्तदृष्टिना सत्यान्वेषिणा नरेण पुरा पूर्णविश्वासभाजा भवनीयम्।

गुरुतत्त्व-विचारभारभारी भिक्षु रुचितसमयमासाद्य पुनर्गुरुस्य· समस्त युक्तियुक्त श्रावकोदित सविनय निवेदयामास—"भदन्त! कस्यापि तोदन[1] समीचीनमसमीचीनमिति भगवदाज्ञा-तुलाया प्रत्यक्ष-परोक्षादि प्रमाण-रुपमानै[2] सह चारुतया तोलनीयम्। यदि सम्यक् प्रतिभासते तर्हि स्वीकरणीयम्, चेन्मिथ्या प्रतिभाति तर्हि तदु-पेक्षणीयम्। परन्तु अतोलयित्वैव 'किमेतेषा कथनै' इति न तिरस्कर-णीयम्। तत्रत्य-विज्ञ-श्रावका। कथनमयौक्तिक द्वेषबुद्ध्या वा किम-प्यनर्गलप्ररूपितमिति न प्रतिपन्नवती मदीया मति.। गम्भीरचिन्तया यथा-यथा पर्यालोचिता मया तदीया प्रश्नास्तथा-तथा शास्त्रीय-दृष्ट्या सम्यक्त्वमापेदाना सुतरा विभाविता। अत· तेषामप[3]-

१. प्रेरणम्। २ ०मानै—तोलने के साधन, बाट, इतिभाषा।

★ बारहवां समुच्छ्वास

सत्य ही सत्य है, सत्य ही शिव है और सत्य ही सुन्दर है "यह अच्छी तरह विद्वत्-शिरोमणि जानते है और बताते है। सत्य सरल होते हुए भी उसका अनुशीलन प्राय मनुष्य नही कर पाते है। फल निष्पत्ति मे सुन्दर होते हुए भी वह प्रारम्भ मे सत्यप्रिय के धैर्य की परीक्षा लेने का इच्छुक-सा प्राय. थोड़ा कटु होता है। इसलिए उसके अखण्ड लाभ पर दृष्टि लगाने वाले सत्यान्वेषी मनुष्य को पहले उसके प्रति पूर्ण विश्वस्त होना चाहिए।

महान् तत्व के भार से भारी भिक्षु ने उचित समय देखकर श्रावको द्वारा कही गई युक्ति-पूर्ण समग्र बात विनय-पूर्वक गुरु को निवेदन कर दी—गुरुवर! कोई भी मान्यता समीचीन है या असमीचीन यह भगवान की आज्ञा की तुला पर प्रत्यक्ष परोक्षादिप्रमाण रूप बाटो के साथ सम्यक्तया तोलनी चाहिए। यदि उपयुक्त सत्य लगे तो स्वीकार करना चाहिए। अगर मिथ्या प्रतिभापित हो तो उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। परन्तु बिना तौले ही 'इनके कथन का क्या मूल्य', यो तिरस्कार नही करना चाहिए। वहा के विज्ञ श्रावको का कथन अयौक्तिक अथवा द्वेष-बुद्धि से उन्होने कुछ अनर्गल कहा है—यह मेरी बुद्धि नही स्वीकार करती गम्भीर चिन्तन से जैसे-जैसे मैंने उनके प्रश्नो पर पर्यालोचन किया वैसे-वैसे वे शास्त्रीय-दृष्टि से मुझे सम्यक् लगे। इसलिए आत्मार्थी उनका खण्डन नही

---

३. सत्य-तिरोधानम्।

न्हुतिर्नात्मवता कर्त्तुं शक्या। को हि क्षणिकस्वार्थ-सिद्धये शास्त्र-प्रतीप[1] प्ररूपयितु दु.साहस कुर्व्वीत ? विभाव्यताम् न किमस्माभिरुपाश्रयनिर्मितये प्रेर्यन्ते श्रावका ? कुत, कुत्र, कथ, कदा करणोयमिति दिक्सूचया रहसि न कि सकेत्यन्तेऽग्रेवर्त्तिनो भक्ता. ? न किमाधाकर्मादयो दोपा आसे०यन्तेऽशन-वसनौपधि-पात्रादिपदार्थानधिकृत्य ? यया श्रद्धया व्यधायि गृहत्याग सा श्रद्धा विवृद्धिमाप्ता उत हानिम् ! अल पल्लवितेन, 'नहि मनश्छन्न चौर्यम्' इति प्रथिता जनश्रुति·।

आचारकालुष्यात्पुनर्विचारेष्वपि स्फुरति वहु वैपरीत्यमस्माकम्। लौकिकानां विचारधाराप्यस्मद्विचारमन्दिरे कृतसचारेति मे प्रत्यय·। यथा—देवाधिदेवोऽर्हन् देवः, वाह्याभ्यन्तर-ग्रन्थि-मुक्तो निर्ग्रन्थो गुरु, पुनर्जिनप्रज्ञप्त तत्वम्। एतेषा सम्यक्तया श्रद्धानमेव सम्यक्त्वमित्यार्हती वाणी। ततो यत्रार्हतामाज्ञा तत्रैव धर्म., कथमपि नाज्ञाविरुद्ध·। आज्ञावहिर्भूतोऽपि चेद् धर्मस्तर्हि स कुत आगतः ? केन प्ररूपित. ? केन सस्थापित ? न सभवति जनकमन्तरेण सन्तानोत्पत्ति।

तथा व्रतेष्वेव धर्मो नाऽव्रतेषु। दयायामेव धर्मो न हिंसायाम्। पटुनोपदेशेन हृदयपरिवर्तनमेव धर्मः न च वलप्रयोगेण, आत्मजन्यो हि धर्मो न पुन स्वर्ण-रूप्यकादिद्रव्य-जन्यः। एते खलु सार्वजनीना· सार्वभौमा. [2]सार्वसिद्धान्तप्रसिद्धा सिद्धान्ता वर्तन्ते। एतेष्वपि यदि कुत्रचिद् व्यत्यासो[3] विधीयते तर्हि कथ सम्यक्त्वमस्माक स्थैर्यमियर्त्ति ? महाकृच्छ्र-साध्य कृत्स्न क्रियाकाण्डमपि च कथ साफल्यमालिङ्गति ?

किञ्च-शुभयोगेन यदा जायते पुण्यस्य वन्ध. पुनरशुभयोगेन पापस्य, तदा का तृतीया ह्येतादृशी क्रिया विद्यते यया पुण्यपापे

---

१ शास्त्र-विरुद्धम्। २ 'सार्व० सार्वा'—सर्वज्ञा इत्यर्थ। ३. विपर्यय:।

कर सकता। क्षणिक स्वार्थ-सिद्धि के लिए कौन शास्त्रो के प्रतिकूल प्ररूपणा करने का दु साहस करे? आप जरा सोचे, क्या हम उपाश्रय-निर्माण के लिए श्रावको को प्रेरित नही करते? किससे, कहा, कैसे, कब, क्या करना है—क्या इस दिशा-दर्शन से एकान्त मे आन्तरिक भक्तो को सकेत नही दिया जाता? क्या आहार, वसन, औषधि और पात्र आदि के विषय मे आधाकर्म आदि दोप सेवन नही किए जाते? जिस श्रद्धा से गृहत्याग किया था उसकी संवृद्धि हुई है या ह्रास? बस, ज्यादा विस्तार से क्या मतलब? 'मन से छिपी चोरी नही नही होती', यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है।

आचार-शैथिल्य के कारण हमारे विचारो मे भी बहुत विपर्यय है। लौकिक विचारधारा भी हमारी विचारधारा मे घर कर गई है। जैसे—देवाधिदेव अर्हन् देव, बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थियो से मुक्त निर्ग्रन्थ गुरु और जिनप्ररूपित तत्व इनकी सम्यक्तया श्रद्धा ही सम्यक्त्व है, यही अरहन्तो की वाणी है। इसलिए जहा तीर्थंकरो की आज्ञा है, वही धर्म है। आज्ञा के विपरीत किसी प्रकार भी धर्म नही हो सकता। आज्ञा के बाहर भी अगर धर्म है तो वह कहाँ से आया? किसने प्ररूपित किया? किसने सस्थापित किया? जनक के बिना सन्तान की उत्पत्ति सभव नही होती।

वैसे ही व्रतो मे ही धर्म है, अव्रतो मे नही। दया मे ही धर्म है, हिंसा मे नही। हृदय परिवर्तन करने वाले उपदेश से ही धर्म है, बल-प्रयोग से नही। धर्म आत्मा से पैदा होता है, स्वर्ण-रूप्यक आदि द्रव्य से नही। ये सार्वजनीन, सार्वभौम सर्वज्ञ के सिद्धान्तो मे प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इनमे भी कही विपर्यय किया जाता है तो हमारा सम्यक्त्व कैसे सुस्थिर रह सकता है और जो महान् कष्ट से साध्य है वह सारा क्रियाकाण्ड भी कैसे सफल हो सकता है?

क्योकि जब शुभयोग से पुण्य का बन्ध होता है और अशुभयोग से पाप का तब तीसरी ऐसी कौन-सी क्रिया है जिसके द्वारा पुण्य-पाप इकट्ठे होकर

करम्बीभूय[1] मिश्रत्वमासादयत ? कथमपि न धीमतामुरीकरणार्ह-मिदम्-यदऽशुभ-शुभयोगौ करम्बितौ स्याताम्। नैकस्मिन् समये योगद्वयी स्वीकुरुते शास्त्रम्, तदा कथमेकस्या क्रियाया पुण्य-पापवन्धः स्यात्कृतानुवन्धः। अस्मन्मान्यतानुसारतस्तु दत्त केनापि दयार्द्र हृदयेन क्षुधाक्षामकुक्षये, तृषा शुष्यदास्याय, जरसा जर्जरितवपुषे, रुजाक्षीण-शक्तये वा गृजनमूलकादि-वनस्पतिदान पायित चामृतायमान शीतलं नीरम्, तत्र यद् गृजन-मूलकाद्याश्रितानन्त-जीवाना जाता भक्षणेन विराधना सा पापहेतुता याति, यत्तस्य क्षुधाऽधीरे शरीरे तृपार्त्तरौद्र-ध्यान-तामसे मानसे च या शान्ति, यत्सुखम्, या च प्रथीयसी प्रीतिः समुत्पन्ना सा पुण्यहेतुता वृणुते। अत पुण्यपाप-सपृक्ति समञ्जसेति न प्रस्फुटा विचारधारा। यत स्वल्पतरमेकेन्द्रियाणा प्राणव्यपरो-पणेन जात कल्कम्[2], परन्तु महापुण्यवता सुलब्धधर्मध्यानासेवनात्र-सराणा पञ्चेन्द्रियाणा प्राणरक्षा महापुण्य-निदानम्। अनया पद्धत्या ऽल्पीयसा पापेन महापुण्यबन्ध क कर्त्तु नेहते धीधरो नर.।

अत्र चिन्त्यम्—भवत्यन्यान्य-वस्तुषु मिश्रत्वम्, किन्तु पौरस्त्य-पाश्चात्य-वर्त्मनोरिव धर्माधर्मयो. कथकार मिश्रता ? या दय याः क्रिया सा कथ हिंसामयी ? हिंस्रा च क्रिया कथ दयामयी ? कथ छायालोकयोरेकत्र सगम ! यद्येव स्यात्तर्हि याज्ञिकै किमपराद्धम्। तैरपि पशूना वधे पापम्, दक्षिणा-दाने च प्रभूतपुण्योपचय प्रचार्यते।

किञ्च—निरवद्य-क्रियाया प्रभोराज्ञा, न तया पापबन्ध, आज्ञा-शून्या तु सावद्यक्रिया, न तया वृषपोष[3]। धर्माऽधर्म-भेदाभ्या द्वावेव भिन्नौ मार्गौ स्पष्टौ, तदा तदुभय-तत्वमाभेजान कस्तार्तीयीकः पन्था पण्डित-मतिगम्य।

---

१ मिश्रीभूय। २. पापम्। ३. 'स्नुहिर्वज्रो महातरु' इति हैम.। 'थोर' इतिभाषा।

मिश्र बन जाते हैं। बुद्धिमानो के द्वारा यह सिद्धान्त किसी भी प्रकार स्वीकार करने योग्य नही है कि शुभयोग और अशुभयोग मिश्र होते है। एक समय मे दोनो योगो का होना शास्त्र भी स्वीकार नही करता। तो फिर एक क्रिया मे पुण्य और पाप दोनो का बन्ध कैसे हो सकता है ? अपनी मान्यता के अनुसार तो किसी दयार्द्र हृदय व्यक्ति ने भूख से चिपके पेट वाले का, प्यास से मुंह सूखने वाले को, बुढापे से जर्जरित तन वाले को और रोग से एकदम कमजोर बने व्यक्ति को गाजर-मूली आदि योग्य वस्तुए दी और अमृतोपम शीतल जल पिलाया। वहाँ जो गाजर-मूली आदि वनस्पति के भक्षण से उनके आश्रित अनन्त जीवो की विराधना (हिंसा) होती है वह पाप का कारण है, पर क्षुधा से उसके अधीर शरीर को और तृषा से व्याकुल मन को जो शान्ति मिलती है, जो सुख मिलता है और प्रेम विस्तार पाता है यह सब पुण्य का कारण बनता हे। इसलिए पुण्य पाप को एक साथ मानने वाली, अपनी विचारधारा बिल्कुल स्पष्ट है। क्योंकि एकेन्द्रिय जीवो के हनन से थोडा पाप हुआ परन्तु महापुण्यशाली जिन्हे कि धर्म ध्यान का सुअवसर मिलता हे उन पचेन्द्रिय प्राणियो की प्राणरक्षा करना महान् पुण्य का कारण है। इस पद्धति के कारण अल्प पाप के द्वारा महापुण्य का बन्धन कौन बुद्धिमान मनुष्य नही करना चाहेगा ?

यहाँ जरा चिन्तन करना चाहिए। दूसरी वस्तुओ में तो मिलावट हो सकती है किन्तु पूर्व और पश्चिम मे जाने वाले मार्गो की तरह धर्म और अधर्म का कैसे मिलान हो सकता है ? जो दया की क्रिया है, वह हिंसा की कैसे हो सकती है और जो हिंसा की है वह दया की कैसे हो सकती है ? धूप-छाया दोनो एक जगह कैसे हो सकते हैं ? यदि ऐसा ही होता तो याज्ञिक लोगो ने क्या अपराध किया था ? उन्होंने भी पशुओ के वध मे पाप और दक्षिणा दान मे प्रचुर पुण्य-सचय बताया है।

क्योकि निरवद्य (पापरहित) क्रियाओ मे भगवान की आज्ञा है, उससे पाप बन्धन नही होता। आज्ञा-शून्य जो क्रिया होती है, वह सावद्य क्रिया होती है, उसमे पाप का पोषण होता है। धर्म और अधर्म के भेद से दो ही भिन्न मार्ग है उन दो के अतिरिक्त तत्वमय कोई तीसरा मार्ग बुद्धिगम्य नही लगता।

स्वामिन् ! जिह्वाया औषध यदि नयनयुगे प्रयुज्यते, नयनौषध च व्याप्रियते चेज्जिह्वायाम्, तदा जिह्वा विकृतिमाद्रियते, विगत-ज्योतिर्जायते च नेत्र-युगलम् । तथैव पारमार्थिक कार्य प्रक्षिप्यते व्यवहारे, व्यावहारिक च निक्षिप्यते पारमार्थिके, तदानी द्वयोरपि विनाश सावकाश. स्यात् । एव लौकिकी, लोकोत्तरा चानुकम्पापि भिन्नामाशामासेवमाना नैकत्व प्रापणीया ।

या दया शरीरादि-बाह्योपकरणमधिकृत्य जागर्या श्रयति सा क्षणिक-क्षुत्-तृट्-शीत-तापादि-कष्टापहा परोपकार-नाम्ना जेगीय-मानाऽपि नात्मसाधनी, नैकान्तिकी, नात्यन्तिकी च । यतो न तत्रात्मसाधनाया. कापि चर्चा । तत्र तु तदुपरितन-कष्ट-प्रणाशेन क्षणिका प्रीति· समुत्पाद्यते, राग-द्वेषादे· किमप्युपशमन स्यादिति न संभावना ।

या भावना परिवर्त्तितुमीशा क्षमा-मुक्ति-सारल्यादि-धर्मोपचय-कारिका अनादि भवामयपीडित-जीवजीवातु:, अर्हदादिभिराचीर्णा परमात्मिक-सौख्यदान-प्रवणा वास्तविकी साऽऽत्मदया सुतरा विज्ञातव्या तात्विकै· । चिन्त्य स्पष्टमनयो· पार्थक्यम्, यथा—एका पारमार्थिकी, द्वितीया व्यावहारिकी । एकाभ्यन्तर-कष्टापहा, परा बाह्यकष्टापहा । एकाशुद्धतत्वनिबन्धना, अन्या मोहनिबन्धना । एका शाश्वतिकी, इतरा क्षणिका । एका मोक्षदर्शिका, परा ससार-वर्धनी । एकाकारणशोधनी, परा कार्यदत्तदृष्टि. । एका लौकिकी, परा लोकोत्तरा पुन । तत. सावद्य-निरवद्य-भेदाभ्यामनुकम्पापि-नि.शङ्क द्वैधमाद्रियतेतराम् ।

स्वामिन् ! जीभ की औषधि यदि आखो मे डाल दी जाए और आखो की औषधि यदि जिह्वा पर लगा दी जाए तो जीभ फट जाती है और आखे फूट जाती है। वैसे ही पारमार्थिक कार्य को व्यवहार मे और व्यावहारिक कार्य को पारमार्थिक मे डाला जाता है तो दोनो का ही विनाश हो जाता है। इसी प्रकार लौकिक और लोकोत्तर दया भी भिन्न-भिन्न होती है उन्हे एक नही बनानी चाहिए।

जो दया शरीर आदि बाह्य उपकरणो के विषय मे होती है वह क्षणिक भूख, तृषा, शीत और ताप के कष्टो को मिटाने वाली, परोपकार के नाम से पुकारे जाने पर भी आत्म-साधक नही होती है, न ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भी होती है, क्योंकि वहा आत्म-साधना की कोई चर्चा नही होती। वहा तो उस ऊपर के कष्ट को मिटाने के लिए केवल क्षणिक प्रीति पैदा की जाती है, राग-द्वेष आदि से किसी का कुछ उपशमन हो इसकी कोई सम्भावना नही।

जो भावना को बदलने मे समर्थ क्षमा, मुक्ति, सरलता आदि धर्मो को बढ़ाने वाली, अनादि भव-रोग से पीडितो के लिए जीवन-औषधि, सर्वज्ञ आदि के द्वारा व्यवहृत परम आत्मिक सुख को देने वाली ही तत्व-ज्ञाताओ को वास्तविक आत्म-दया माननी चाहिए। इन दोनो अनुकम्पाओ मे स्पष्ट विभेद है। जैसे—एक पारमार्थिक है दूसरी व्यावहारिक। एक आभ्यन्तर कष्टो को दूर करने वाली है, दूसरी बाह्य-कष्टो को। एक शुद्ध तत्व के कारण होती है, दूसरी मोह के कारण। एक शाश्वत होती है, दूसरी क्षणिक। एक मोक्ष को निकट करने वाली होती है, दूसरी ससार को बढाने वाली। एक कारण की शोधक है, दूसरी केवल कार्य की। एक लौकिक है और दूसरी लोकोत्तर। इसलिए सावद्य-निरवद्य भेद से अनुकम्पा भी नि.सन्देह दो प्रकार की हो जाती है।

गो-महिष्यर्क[1]-वज्रोद्भव चतुर्विध दुग्ध किमेकरूपता लभते ? दुग्धनाम्ना प्रसिद्धमपि तत् कि तुल्यकक्षता प्रतिपद्यते ? दयां मोह चेदेकत्वमानयामस्तदा न कि [2]हविस्तमाखुसमिश्रणं स्यात् ? मोहरागस्त्वष्टादशपापेष्वेकादश पापम् । तत् पुण्यहेतुक स्वीकुर्वाणाः कथ सम्यक् श्रद्धावन्तो वयमिति चिन्तनीयमीषत् ।

अस्ति मिथ साहाय्यसापेक्ष जनाना जीवनम् । तत्र कश्चित् कर्तव्य-वुद्धया कश्चित् स्वार्थवुद्धया, कश्चिद् व्यवहार-निर्वाहार्थ च, ददाति, गृह्णाति च स्व पर साहाय्यम् । तेनैव जगता व्यवहार सुन्दर सगच्छते । को निरुणद्धि तन्नकर्तव्यमिति कृत्वा । परन्तु तत्रात्म-कल्याणमिति मतिर्न सङ्गतिमङ्गतितरा सम्यक्दृशाम् ।

गुरुवर ! दानविपयेऽपि तादृगेव प्रकारद्वयी समुल्लसति । यन्नहि दीयमानमेव दान पारमार्थिकम् । तत्रापि चित्तवित्त पात्रादीना न क्रियते यावत्परिच्छित्ति[3]स्तावन्न तत् पुण्यहेतुतामधिगच्छति । हीन-दीन-कृपणादिभ्यश्चित्तवित्तपात्रादिभेदान् गौणीकृत्य तेपा वाह्यार्ति-विनाशहेतोरनुकम्पया, कर्तव्य-बुद्धया, कीर्त्यादिकामनया वा अन्नवस्त्रौपधगोस्वर्णादीना यद् दान तल्लौकिक, व्यावहारिक च निगद्यते ।

यत् पुनश्चित्तवित्तपात्रादीना भेदान् विविच्य केवल सयमोपष्ट-म्भहेतोरनागसितया द्रव्यक्षेत्रकालभावादिविशुद्धमतिथिसविभाग-व्रतवर्णित दानम् तल्लोकोत्तर परमपुण्यमात्मकल्याणकृत् कथ्यते । यतस्तेन शुभयोग-प्रवृत्तिस्तया सह निर्जरया पुण्यबन्धः । अत्युत्कृष्ट-भावनया शालिभद्रधन्यादिवत् सत्वर मोक्षावाप्ति. ।

तादृश सूक्ष्म तत्वमविदन्तोऽपि लौकिका सात्विकराजस-तामसभेदतस्त्रिविध दान विविञ्चन्ति । पात्राऽपात्रयोर्भिन्नत्व धेनु-

---

१ गाय, भैंस, आक और थोर का दूध—इतिभाषा । २. घी-तमाखू का मिश्रण, इतिभाषा । ३ विवेक ।

गौ, भैस, आक और थोर क्या इन चारो का दूध एक प्रकार का हो सकता है ? दूध, नाम से एक होने पर भी, क्या वह एक समान होता है ? दया और मोह को अगर एक बनादे तो क्या घी और तम्बाकू को मिश्रित नही कर दिया जाता है ? मोह राग तो अट्ठारह पापो मे एक पाप है, उसे पुण्य का हेतु मानते हुए हम कैसे सम्यक् श्रद्धावान हो सकते हैं ? आपको कुछ चिन्तन करना चाहिए।

मनुष्य का जीवन परस्पर सहायता सापेक्ष है। वहा कोई कर्तव्य-बुद्धि से, कोई स्वार्थ-बुद्धि से कोई व्यवहार निभाने के लिए सहायता देता, लेता है। उसी से ससार का व्यवहार सुचारुरूप मे चलता है। 'उसे नही करना चाहिए' ऐसा कहकर कौन रोकता है ? परन्तु वहाँ आत्म-कल्याण की बुद्धि रखना यह सम्यक् दृष्टि वालो के लिए युक्ति-युक्त नही।

गुरुवर ! दान के विषय मे भी वैसे ही दो प्रकार है। क्योकि देना ही पारमार्थिक दान नही है। वहा भी चित्त, वस्तु और पात्र आदि का विवेक नहीं किया जाता तब तक वह पुण्य का हेतु नही बनता। चित्त, वस्तु और पात्र के विवेक को गौण करके हीन, दीन और कृपण आदि को उनकी बाह्य पीड़ा को मिटाने के निमित्त दया भाव से, कर्तव्य-बुद्धि से कीर्ति आदि की कामना से अन्न, वस्त्र, औषधि गौ और स्वर्ण आदि का जो दान दिया जाता है वह लौकिक और व्यावहारिक कहलाता है। जो चित्त, वस्तु तथा पात्र आदि के भेद को समझ कर सयम उपवृद्धि के लिए निस्पृहभाव से द्रव्य, क्षेत्र, कालभाव आदि की विशुद्धि-पूर्वक अतिथि सविभाग व्रत मे वर्णित दान दिया जाता है वह लोकोत्तर परम पुण्य और आत्मकल्याणकारी कहलाता है, क्योकि उससे शुभयोग की प्रवृत्ति होती है, उसके साथ निर्जरा होकर पुण्य का बन्ध होता है। अति उत्कृष्ट भावना से दान देने पर शालिभद्र और धन्य आदि की तरह शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

उतना सूक्ष्म तत्त्व नही समझते हुए भी लौकिक, (इतर धर्मवाले), सात्त्विक, राजसिक और तामसिक यो दान के तीन भेद करके विवेचन करते

पन्नग-दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ति । नि सकोचमपात्रदानमपुण्यनिदानमिति स्वीकुर्वन्ति । तदा कथमार्हतै[1]रस्माभिः करम्वित क्रियते दानद्वयम् ।

अहो ! असयतो नरो यत् स्वय भुड्क्ते तत्र स्पष्ट पाप स्वीकुर्महे, परन्तु स हि कस्मैचिदसयताय किमपि ददत् पुण्य-प्राग्भार सचिनुते, न कि विचित्रेय मान्यता ? कथं नास्मदीया मतिर्विचारयितु वाध्या भवतीति मोहमाहात्म्यम् ।

पुनश्चतुर्दशविध दान देदीयमाना श्रमणोपासका शोश्रूयन्ते शास्त्रेषु, परन्तु केनापि स्वर्णरत्नमुक्तादीना दान कस्मैचित् पात्राय कृतमिति नाकर्ण्यते कुत्रापि । वय तु धार्मिककृत्यार्थ रूप्यकादिदातॄन् 'दानशोण्डीरा इमे महामान्या' इत्याद्युपाधिभि. समलकुर्महे । धर्ममर्मशून्यान् तान् हृदा श्लाघामहे, किमिद न्याय्यम् ?

एकाऽन्यापि मान्यता मम हृदय दु.खाकरोति, यन्मिथ्यात्विना सर्वापि क्रिया न प्रभोराज्ञानुवर्त्तिनीति मन्यामहे वयम् । तेषा शुभ दान, शील, सत्य, ब्रह्मचर्यमपि च ससारवर्धकमेव, घोरातिघोरा तपश्चर्यापि न धर्मानुवन्धिनी । तथैव सम्यक्त्विना या काश्चन क्रियास्ता सर्वा अपि मोक्षोन्मुखा ।

स्थानाङ्गे[2] तु केवल शील-सपन्ना श्रुतविरहिता अपि चतुर्भङ्गया भगवदाज्ञाया देशाराधकत्वेन निरूपिता । यत्तेषा शुभा क्रिया देशाराधकत्व प्राप्नोति, तदा सा कथ भगवदाज्ञातो वहिर्भूतैवेति स्वीकार्यम् । यदि मिथ्यादृशा कापि कृतिर्नोत्थान-कारिका तदा कथमेकेन्द्रियजीवो द्वीन्द्रियतामधिगच्छति ? कथ द्वीन्द्रि-यादय पञ्चेन्द्रियता पुन. ?

---

१. अर्हदनुयायिभिः । २. तृतीयमङ्गम् स्थानाङ्गम्

है। पात्र और अपात्र का भिन्नत्व गौ और सर्प के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। अपात्र दान पाप का कारण है इसे नि सकोच स्वीकार करते है। तब हम जैन मतावलम्बी दान-युगल को कैसे मिश्रित कर सकते है ?

अहो ! असयत जो स्वय खाता है उसमे स्पष्ट पाप मानते हैं, परन्तु वही किसी असयमी को कुछ दे तो पुण्य-सचय करता है क्या यह विचित्र मान्यता नही ह ? क्यो नही हमारी बुद्धि यहा पर विचार करने के लिए बाध्य होती है ? मोह की महिमा बडी गजब है !

शास्त्रो मे चौदह प्रकार का दान देने वाले श्रावको का वर्णन आता है। परन्तु किसी ने स्वर्ण, रत्न, मोती आदि का दान किसी पात्र को दिया, ऐसा तो कही भी सुनने मे नही आता। हम तो धार्मिककृत्यो के लिये रुपये आदि देने वालो को "ये महामान्य दानवीर है" इत्यादि उपाधियो से आभूषित करते है। धर्म-मर्म से शून्य उन व्यक्तियो की हृदय से श्लाघा करते हैं क्या यह न्यायोचित हे ?

एक दूसरी मान्यता भी मेरे हृदय को खिन्न करती हे कि मिथ्यात्वियो की सब ही क्रियाएँ हम भगवान की आज्ञा मे नही मानते। उनके शुभ दान, शील, सत्य, ब्रह्मचर्य भी ससार वर्धक और घोरातिघोर तपश्चर्या भी धर्मानुबधिनी नही हैं, वैसे ही सम्यक्त्वियो की जो कुछ भी क्रियाए है वे सब मोक्ष की हेतुभूत हैं।

स्थानाग सूत्र मे तो केवल शील-सम्पन्न श्रुत-रहित को चतुर्भगी मे भगवान की आज्ञा का देश-आराधक कहा है। यदि उनकी शुभ-क्रियाएँ देश आराधक होती हे तो उनकी क्रियाओ को भगवान की आज्ञा के बाहर कैसे माना जा सकता है ? यदि मिथ्यात्वियो की कोई भी क्रिया उत्थान कारी नही होती तो एकेन्द्रिय जीव द्वीन्द्रिय मे कैसे आए ? और द्वीन्द्रिय आदि पचेन्द्रियता को कैसे पाए ? व्याख्याप्रज्ञप्ति मे तो अश्रुत्वा (असोच्चा) केवलियो का भी विवरण मिलता है तो फिर असम्यक्त्वियो की शुभ क्रिया ससार का हेतु बने यह कैसे उचित है ?

बत ! बत ! व्याख्याप्रज्ञप्त्यामश्रुत्वा[1] केवलिनोऽपि व्यावर्णिता स्तदा कथमसम्यक्त्वेन शुभा अपि क्रियाः संसारहेतुतामृच्छन्तीति समीचीनम् । अहह !! भवति किमिदं भजमानम्[2]—यदहं सितोपला-मास्वादयामि तदा मधुरा, यदि परो भक्षति तर्हि कटुकटुकेति ।

अतो गुरुदेवैरुपर्युक्ते यथातथ्ये तत्वे सूक्ष्मधिया पुनरपक्षग्राहिण्या दृष्ट्या पर्यालोच्यम् । यदि सम्यक् प्रतीयते स्पष्टमङ्गीकर्तव्यम् । सत्योरीकारे[3] न युष्माकं प्रतिष्ठा क्षीणा भाविनी, प्रत्युत सत्यान्वेषिणां हृदये युष्मदीया सान्द्रा[4] सत्यप्रतिच्छाया प्रपतिष्यतीति मे निश्चयः ।

मा भवतु वा बाह्या प्रतिष्ठा, गच्छतु वा लौकिकं गौरवम्, म्लायतु वाऽवाञ्छनीयं महत्वम्, यतः प्राप्तमनन्तशो गौरवत्रयम्, लब्धाऽनन्तशो जगद्व्यापिनी ख्यातिः, परन्तु नावाप्तमात्मनीनं तत्वम्, सुकृतस्वीकाराय पुण्योऽवसरः, स्वरूपदर्शनायाऽऽदर्शतुल्यो विवेकः, सत्यनिर्वहणाय मेरुसन्निभं च धैर्यम् ।

भगवन् ! अहं युष्माकमाज्ञानुवर्त्ती शिष्योऽस्मि, यूयं मे परमा-भ्यर्हिता[5] आचार्यपादा यदि स्वीकुर्वन्ति निरवद्यां[6]पद्याम् । अन्यथा किमप्यन्यदेव चिन्तनीयमिति मे स्पष्टा विनतिः । भाविगरभे[7] किं निहितमिति कोऽभिज्ञातुं शक्नोति साम्प्रतम् ।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये
महाकाव्ये गद्यप्रबन्धे द्वादशः समुच्छ्वासः

---

१ असोच्चाकेवली । २. युक्तम् । ३. सत्य-स्वीकारे । ४ अत्यधिका । ५. परमपूजिता. । ६ मार्गम् । ७ गर्भस्तु गरभो भ्रूणो' इतिहैम ।

क्या यह युक्ति-पूर्ण हो सकता है कि मै मिश्री का आस्वादन करूं तव तो मीठी होती है परन्तु अगर कोई दूसरा खाए तो कडवी वन जाती है।

इस लिए गुरुदेव को उपयुक्त वास्तविक तथ्य के विषय मे सूक्ष्म बुद्धि से और आग्रह-रहित दृष्टि से पुन पर्यालोचन करना चाहिए। यदि सम्यक् प्रतीत होता है तो उसे स्पष्ट स्वीकार करना चाहिए। सत्य स्वीकृति से आपकी प्रतिष्ठा क्षीण नही होगी, प्रत्युत सत्यान्वेपी व्यक्तियो के हृदय मे सत्यनिष्ठा की प्रतिछाया और गहरी पडेगी—ऐसा मेरा निश्चय है।

वाह्य प्रतिष्ठा चाहे न भी हो, लौकिक गौरव चला जाए अथवा अवांछनीय महत्व मिट जाए तो क्या हानि ? क्योकि अनन्त वार तीन गौरवो के साथ जगत्-व्यापी ख्याति पाई है, किन्तु आत्मिक-तत्व नही पाया, सम्यक् आचरण के लिए पवित्र अवसर नही मिला, स्वरूप-दर्शन के लिए निर्मल दर्पण तुल्य विवेक और सत्य को निभाने के लिए मेरु के समान धैर्य नही मिला।

भगवन् ! यदि आप निरवद्य-मार्ग स्वीकार करते है तो मैं आपका आज्ञानुवर्ती शिष्य हूँ और आप मेरे परम पूज्य आचार्य है, अन्यथा कुछ दूसरा ही चिन्तन करना होगा। यह मेरा स्पष्ट निवेदन है। भविष्य के गर्भ मे क्या छिपा हुआ है उसे कौन जान सकता है ?

बारहवां समुच्छ्वास समाप्त



त्रयोदशः समुच्छ्वासः | ★

सत्यस्य स्पष्टकथनमिव श्रवणमपि नास्ति सुशकम् । सत्य हित भवदपि न प्राय कर्ण-प्रियम् । असत्यमहितमपि कर्णामृतायते बहुशः व्यवहारकुशलानाम् । कियदपि सत्य गीतीकृत्य प्राकट्य नयता तथाऽपि तच्छीतलजलमिवानृताऽनल तत्कालमुपशमयितुमलमलम् । अनृतोपशमे तदाश्रित स्वार्थं स्वयमेव विनष्टप्रायो भवति । स्वार्थ-विनाशे तद्वतश्चित्ते निश्चिताऽप्रियता समुत्पद्यते । जायमाना ऽप्रियता क्रोधोत्पत्ते कारणतामुपैति । तदुत्पत्तौ लुप्त-विवेकनेत्र-ज्योतिर्यथार्थता द्रष्टुमसमर्थ स्यान्नर । यथार्थतामपश्यन् कदाग्रह-ग्राहनिगृहीतो दुर्गतौ निपतत्येव ध्रुवम् ।

अतीव निर्मलधिया याथार्थ्य दिदर्शयिषुणा भिक्षुणा गुरुपुरत शान्तमुपढौकिता तात्त्विकी विचारधारा, परन्तु निपुण-वैद्योपचर्याप्य-साध्य-गदवतीव नहि सम्यक् परिणता गुरौ ।

"कामराग-स्नेहरागाभ्यामपि दुरुच्छेद पापीयान् [1]दृष्टिराग" इति सूक्ति सत्यापयन्निव सकोप सगर्ह गुरु प्रत्युवाच —"भिक्षो ! तव प्रज्ञालापान् श्रुत्वा मद्हृदयमतीव खिन्नतामवाप । हा ! कीदृशी पुरा तव घनजलधारेव निर्मला मतिरासीत् । पर साम्प्रत कुसग-कर्दम-सपृक्ता कीदृङ् मलाविलाऽभूदिति महच्चित्रणीयम् ।

---

१ दर्शनराग — मतरागइत्यर्थ ।

★ | # तेरहवां समुच्छ्वास

सत्य के स्पष्ट कथन की तरह सत्य का श्रवण भी सरल नही है। हित-कारी होता हुआ भी सत्य प्राय कर्णप्रिय नही होता। व्यवहार-कुशलो का असत्य, अहितकारी होता हुआ भी कानो को अमृत के समान लगता है। सत्य को कितना भी शीतल करके कहो, फिर भी वह शीतल जल की तरह असत्य की आग को तत्काल उपशान्त करने मे समर्थ है। असत्य का खडन होने पर उसके आश्रित स्वार्थ स्वय ही विनष्ट होने लगता है। स्वार्थ नष्ट होने पर स्वार्थी के चित्त मे निश्चित ही अप्रियता का आविर्भाव हो जाता है। उत्पन्न अप्रियता क्रोध का कारण बनती है। क्रोध उत्पन्न होने पर व्यक्ति का विवेक लुप्त हो जाता है। वह यथार्थता को देखने के लिए समर्थ नही हो पाता। वस्तु-तत्त्व को नही देखने वाला कदाग्रह-ग्रस्त होकर निश्चित ही दुर्गति मे पडता है।

अत्यन्त निर्मल बुद्धि से यथार्थ का दर्शन कराने के इच्छुक भिक्षु ने अपनी तात्त्विक विचारधारा गुरु के आगे बडे शान्त भाव से प्रस्तुत की। परन्तु निपुण वैद्य का उपचार भी जैसे असाध्य रोगी को सम्यक् परिणत नही होता, वैसे ही गुरु के हृदय मे इसकी सम्यक् परिणति नही हुई।

"काम-राग स्नेह-राग से भी बढकर महापाप दृष्टि-राग है। वह सज्जन व्यक्तियो के लिये भी दुश्छेद्य है" इस सूक्त को सत्य करते हुए गर्हा-पूर्वक क्रुद्ध गुरु ने कहा—"भिक्षो! तुम्हारी आकाशी उडाने जैसी बातो को सुनकर मेरा हृदय अत्यन्त खिन्न हो गया है। हा! तुम्हारी बुद्धि मेघ की जलधारा के समान कितनी निर्मल थी, परन्तु अब कुसग के कीचड मे पडकर कितनी मलिन बन गई है, यह महान् आश्चर्य की बात है।

(भ्रकुटी भ्रामयन्) शिष्यो भूत्वापि गुरूणा गुरुर्भवितु प्रयतसे ! लघुवदन-कुहराद् बृहती शास्त्रीयविवेचना कुर्वन् न त्रपसे ! अस्माभिस्तु किमपि विज्ञातमेव नहीति प्रकटयन् वाचाटतामुद्भावयसे ।

चित्रम् ! बत, बत ! नहि पूर्वावस्था स्मर्यते किञ्चिदुड्डीनकुशलै पतत्रिभि[1] । नहि जनकाद्या ज्यायास पूज्यन्ते किञ्चिदर्जन-समर्थैरात्मजै । नहि विद्या-गुरव सम्मान्यन्ते किञ्चित्साक्षरतामापन्नै प्राथमकल्पिकै[2] । न वेत्सि, भृशमनुभूतिभाजामस्माक कुन्तला[3] पलितत्वमापन्ना, नहि घासवत्सूर्यातापेन धवलिमानमाप्ता । न कि स्मरसि भुक्तमस्माभिर्यावत् सैन्धव त्वया तावन्नान्नमपि ।

उग्र ! करोपि दोषाविष्करणम् । यदि दोपा एव न सभवेयुस्तर्हि न कि वयमपि झगिति केवलिनो भवाम । छद्मस्थास्तु छद्मन्येव वर्तन्ते । तेपा त्वन्धानामिव यन्न कूपगर्त्तादिषु पतन तदेव महद् भागधेयम् । पतन तु प्रतिपद सभवत्येव न नव्यमत्र ।

नहि उपाश्रया केवल साध्वर्थमेव निर्मीयन्तेतराम् । तिष्ठन्ति ननु कियन्ति दिनानि साध्व्य ! ते तु पवनवदप्रतिबन्ध विहरमाणा नैकत्र प्रायो निवसन्ति । किन्तु तत्र श्रावका श्राविकाश्च प्रत्यह सामायिक-पौषधादीनि कुर्वन्ति । जीवदयापि जाजायते पर्वतिथिष्वपि । यदि निर्विघ्न स्थान न स्यात्तदा क्व महतो जनसमुदायस्यैकत्र समावेश स्यात् । गृहस्थाना गृहे धार्मिकाणा स्थितिर्नौचित्यमञ्चति कथमपि ।

मन्ये, 'अस्तिदोपा मुनयस्तत्प्रेरयन्त , परन्तु गुरूणा सकेतमन्तरेण नहि सम्यक् सम्पादित भवति किमपि । यतोऽर्थस्य श्लाघ्योऽपि त्यागो नहि गृहस्थै सुकर । यदा मुनीश्वराणा मार्मिका उपदेशा

---

१ पक्षिभि । २ नवदीक्षितै । ३ केशा । ४ अस्तीति अव्यय सत्तार्थे 'अस्तिक्षीरा ब्राह्मणीवत्' समास ।

(भृकुटी को घुमाकर) शिष्य होकर भी तू गुरुओं का गुरु बनने का प्रयास कर रहा है। छोटे मुंह मे महान् शास्त्रीय विवेचना करते हुए तुझे शर्म नही आती ? हमने तो कुछ समझा ही नही, ऐसे प्रगट करते हुए वाचालता कर रहा है।

आश्चर्य है ! उडने मे कुशल पक्षी अपनी पूर्व अवस्था का बिल्कुल भी स्मरण नही करते। कुछ कमाने के योग्य बेटे अपने पिता आदि पूज्यो को आदर नही देते ? नव दीक्षित मुनि थोडी-सी साक्षरता पाने पर अपने विद्या गुरुओ का सम्मान नही करते। तू नही जानता, अतिशय अनुभूतिवालो के हमारे श्वेत हुए केश घास की तरह सूर्य की धूप से धवल नही हुए है। तू क्या इसे नही जानता, जितना हमने नमक खाया है उतना तूने अन्न भी नही खाया।

ओह ! आज दोष दिखाने लगा। यदि दोष ही न होते तो क्या हम भी क्षणो मे 'केवल-ज्ञानी' नही बन जाते। छद्मस्थ तो आवरण मे ही रहते हैं। उनका तो अन्धो की तरह कुए-गड्ढे आदि मे जो पतन नही होता, वही महान् भाग्य है। पतन की तो कदम-कदम पर सम्भावना रहती ही है। उसमे नवीनता क्या है ?

उपाश्रय केवल साधुओ के लिए नही बनाए जाते। साधु कितने दिन ठहरते हैं ? वे तो पवन की तरह अप्रतिबन्ध विहार करते हुए प्राय एक जगह नही ठहरते, किन्तु वहाँ श्रावक और श्राविकाएँ प्रतिदिन सामायिक-पौषध आदि करती हैं। पर्व-तिथियो मे जीव-दया भी की जाती है। यदि निर्विघ्न स्थान न हो तो महान् जन समुदाय का एक स्थान पर कहाँ समावेश हो ? गृहस्थो के घरो मे धार्मिको की स्थिति किसी भी प्रकार उचित नही होती।

मानता हूँ, उनकी प्रेरणा करते हुए मुनिजन सदोष बन जाते है, परन्तु गुरुओ के सकेत के बिना कुछ भी सम्यक् सम्पादित नही हो पाता। धन का प्रशसनीय त्याग भी गृहस्थो के लिए सरल नही है। जब मुनिजनो के मार्मिक

हृत्तन्त्री झङ्कृतयति तदानीमेव [1]सरघासमूहं सञ्चितमधिव द्रव्य वर्षितु प्रवृत्त भवति। यदि श्रावकास्तादृशा. स्युस्तदा तु मुनितल्लजै[2]र्वाचयमीभूतै[3]रेव भाव्यम्। परन्तु क्वैदयुगीनाना[4] श्राद्धानामीदृशी वदान्यता[5]। ते तु गार्हस्थ्य-पङ्कमग्ना नोत्सहन्ते स्वत किमपीदृक्ष धर्म्य कृत्य कर्त्तुं हिरुक् पवित्रप्रेरणाया। ततोऽस्माभि कर्तव्यमेवानुष्ठीयते, क्व दोपपोप।

तथैव क्रीतकृतादिदोपा अपि सुलब्धसमयपोपा वर्तन्ते। वर्तते कुत्रापि कुत्रिकापणो यत्र सर्वमेव मार्गित वस्तु सुप्राप स्यात्। न च देदीयमानैर्दातृभिरपि नक्रमोटन विधीयते, साम्प्रत क्व तादृशी विवर्धमाना भावना! हन्त! इदानी तु हिमानी-कम्प कम्पन्ते ददाना दायकाना करा सह हृदयै। निगूहन्ते केचित्सद् वस्त्वपि दानार्थमागतान् मुनीन् प्रेक्ष्य। अनेपणीयमिति कृत्वा प्रत्यागमयन्ति केचन वस्त्वर्थमटाट्यमानान्[6] मुनीन्। वितरन्ति केचिल्लज्जयापि यत् किञ्चिद्धस्तोत्तरदानरूपम्। तादृशे समये कथ सयमयात्राया निर्वाह स्यात् क्रीतकृतादिदोपसेवनमन्तरेण।

दया-दानादि विषये तु पुनस्त्वया घोर वैपरीत्य प्रतिश्रुत, तत् कथमपि नाङ्गीकरणार्हम्। क्व वय निरूपयामोऽनुकम्पादानाऽतिथिसविभागयो साम्यम्। अनुकम्पादाने तु परक्लेशव्यपोहार्थमनुकम्पित हृदेव परम-पुण्यप्रकृतिबन्धहेतु। अतिथिसविभागे[7] सुमुनिदाने तु जायते वरिष्ठभावनयाऽपरिमेया निर्जरा, तया प्रोज्ज्वल. स्यादात्मा, ततो मोक्षावाप्ति। कथ तद् वर्त्मद्वय मेलयसि विमर्शवन्ध्यतया? यद्यनुकम्पादानमेव न स्यात्तदा कथमवाप तद् दानदशके प्रथम स्थानम्।

---

१ मधुमक्षिका समूहे। २ मुनिश्रेष्ठै। ३ मौनिभि। ४. आधुनिकानाम्। ५ दानशीलता। ६ इतस्ततो भ्रमत। ७ श्रावकस्य द्वादशे व्रते।

उपदेश उनकी हृदय-तन्त्री को झकृत करते है तब ही मधुमक्खियो के समूहो से सचित मधु की तरह द्रव्य बरसने लगता है। यदि श्रावक वैसे समझदार हो तब मुनिजनो को मौन ही रखना चाहिए। परन्तु आधुनिक युग के श्रावको मे ऐसी दानशीलता कहाँ है ? वे तो गृहस्थी के कीचड मे फसे हुए विना पवित्र प्रेरणा के स्वत ऐसा कोई धार्मिक कृत्य करने के लिए उत्साहित नही होते। इसलिए हम कर्तव्य का ही परिपालन करते है, इसमे दोप कहाँ है ? वैसे ही क्रीतकृत आदि दोप भी समय की ही देन है। क्या कही पर 'कुत्रिकापण' है ? जहा सभी याचित वस्तुएँ सुलभ हो सके ? और दान भी देते हुए नाक न सिकोडना पडे। वर्तमान मे वैसी वढती हुई भावना कहाँ मिलती है ? अभी तो दाताओ के हाथ दान देते हुए वर्फ की ठडी के समान कम्पित होते है। कुछ लोग वस्तु होते हुए भी साधुओ को भिक्षा के लिए घर आए हुए देखकर छिपा देते है। कुछ लोग वस्तु के लिए पर्यटन करते हुए मुनियो को अनेपणीय (अशुद्ध) कहकर वापिस कर देते है, कितनेक जन हाथ के उत्तर रूप लज्जा से थोडा-सा देते हैं। ऐसे समय मे 'क्रीत-कृत' (मोल लिया हुआ) आदि दोपो के सेवन विना सयम-यात्रा निर्वाह कैसे हो ?

दया-दान आदि के विपय मे तो तूने घोर विपरीतता स्वीकार कर ली है। जो कि किसी भी प्रकार अगीकार के योग्य नही है। हम अनुकम्पा-दान और अतिथि-सविभाग की समानता कहाँ निरूपित करते है ? अनुकम्पा-दान तो दूसरो के क्लेश दूर करने के लिए जो हृदय मे अनुकम्पन होता है उसीसे परम पुण्य प्रकृति का वधन होता है। अतिथि सविभाग मे शुद्ध मुनियो को पवित्र भावना से दान देने पर अपरिमेय निर्जरा होती है और उसके द्वारा आत्मा उज्ज्वल वनती है और उसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। उन दो मार्गो को चिन्तन-शून्यता मे कैसे एक करता है ? यदि अनुकम्पा-दान ही न हो तो उसे दान के दश प्रकारो मे प्रथम नम्बर कैसे मिलता ?

अरे! अनुकम्पापि भवेत् कदापि सावद्या? केन बुद्धि-ब्रह्मचारिणोच्चारितम्[1]—अन्धतमसमयी प्रदीप कलिकेति! को विपश्चिन्मनुते—उष्णता-वर्धनी हिमवतोऽवतरन्ती सुरशैवलिन्या[2] सलिल लहरी! यत्र शोभनभावनाया प्राबल्य न्यूनमपि वस्तुशत गौणीभाव भजते, तत्र यदि पात्रापात्रविवेचनया गभीर गम्यते तदा भासुरा भद्रभावना भस्मसात्स्यादिति सर्वानुभूत तथ्यम्। दाता तूत्कृष्टभावनया दत्ते, लभते स तदनुरूप फलम्। गृहीता गृहीत्वा कि करिष्यतीति न चिन्त्यम्। 'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी' इय लोकोक्तिर्यथार्थेति नो निर्णय।

पुनर्मिथ्यादृशा शुभापि क्रिया विक्रिया परिणत्या विकृतैव नारेकणीय[3] स्वल्पमपि। नाकारि किमस्माभिर्गौतमस्वामिन सदृशी क्रिया मिथ्यात्वमासेवमानै, परन्तु कि तया जातमिति चिन्तनीयमीषत्। यत्राङ्क एव नास्ति तत्र केवल बिन्दुभि. कि प्रयोजनमिति स्पष्टमेव। यत् किञ्चित्पौद्गलिकसुखावाप्तिर्भवेत्, परन्तु कि तया, प्रत्युत ससारवर्धनी सा।

भद्र! पूर्वाचार्या स्वल्पमतयो नासन्, तैर्यत् प्ररूपित, यदाचरित, यदाज्ञापित तस्मिन् वर्त्मनि नि शङ्कतया पदानुपदिकैरस्माभिर्भवनीयम्। राजमार्ग गच्छन्त स्वयमेव मोक्षप्रतीहारसामीप्य[4] सेविष्यामहे सुखेन। रथचक्रद्वय-परिमिता जैनधर्मगङ्गा यथा चलति तथा चलतु पञ्चमारे, अवसर्पिणी काले वृद्धिस्तु वाञ्छनीयैव किम्! अतो वृथा स्वमत्यभिनिवेशविशृङ्खल कदाग्रह मुक्त्वा प्रगच्छति मार्ग विधेहि गमनप्रयत्नम्। नहि साहसिकमनार्यजुष्ट दुष्ट कण्टकाकुलमध्वानं मुधैव मृगयस्व।

---

१ बुद्धिब्रह्मचारिणा-बुद्धिहीनेन इत्यर्थ। २. गङ्गाया। ३ न शङ्कनीयम्। ४ मोक्षद्वार-समीपताम्।

अरे! अनुकम्पा भी कभी सावद्य (सपाप) होती है? किस मूर्ख-शिरोमणि ने कहा कि दीप की लौ अन्धकारमयी होती है। कौन बुद्धिमान मानता है—हिमालय से उतरती हुई गगा की सलिल लहरी उष्णता को वढाने वाली होती है। जहाँ पवित्र भावना का थोडा भी प्रावल्य होता है वहाँ सैकडो वस्तुएँ भी गौण वन जाती है; वहाँ यदि पात्र-अपात्र की विवेचना से गभीर चिन्तन करे तो प्रदीप्त भव्य भावना राख वन जाती है यह सर्वानुभूत तथ्य है। दाता तो उत्कृष्ट भावना से दान देता है और वह उसके अनुरूप फल पाता है। ग्रहण करने वाला लेकर क्या करेगा, यह उसके लिए चिन्तनीय नही होता। "जिसकी जैसी भावना होती है वैसी ही उसको सिद्धि मिलती है।" यह लोकोक्ति यथार्थ है ऐसा हमारा निर्णय है।

मिथ्यात्वियो की शुभ क्रिया भी परिणति-विकृत होने के कारण विक्रिया ही होती है। यहाँ थोडा भी सन्देह नही करना चाहिए। मिथ्यात्व का आसेवन करते हुए हमने क्या गौतम स्वामी के समान क्रिया नही की है, परन्तु उससे क्या हुआ, जरा चिन्तन करना चाहिए। जहाँ अक ही नही है वहाँ केवल विन्दुओ से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है, यह स्पष्ट ही है। तुच्छ पौद्गलिक सुख की प्राप्ति हो जाती है परन्तु उससे क्या हो? प्रत्युत वह ससार-भ्रमण का कारण वनती है।

भद्र! पूर्ववर्ती आचार्य मन्दमति नही थे। उन्होने जो प्ररूपित किया है, जो आचरण किया है, जो आज्ञाये दी है उस मार्ग मे हमे नि शक भाव से उनके पद-चिन्हो पर चलना चाहिए। राजमार्ग पर चलते हुए अपने आप सुख-पूर्वक मोक्ष-द्वार के पास पहुँच जाएँगे। जैन-धर्म की गगा रथ के दोनो चक्रो के वीच समाने योग्य रह चुकी है। पचम आरक मे जैसी चलती है वैसी चलती रहे। अवसर्प्पिणी-काल मे वृद्धि की तो आशा ही कैसे की जा सकती है, इसलिए वृथा अपनी मति के अभिनिवेश से पैदा हुए शृङ्खलाहीन कुत्सित आग्रह का परित्याग कर चालू मार्ग मे चलने का प्रयत्न कर। व्यर्थ ही अनार्य जन सेवित दु.साहस से भरे विपम कण्टकाकीर्ण मार्ग की खोज मत कर।

हा ! खिद्येऽहम् ! य कृशानुस्नात कुम्भमिव परिपक्व मत्वा तत्र प्राहिण्वम्, स एवाऽऽमदशामापन्न [1] । य भिपग्वरमामयाविना-मामोपशमनायाऽप्रैपम्, स एव तीव्रामयाक्रान्तः समजनिष्ट ।

(विहायसि विलोकमाना गुरव) हन्त !! नाद्यापि दृश्यते जैनाना सौभाग्यम् ।

वत्स ! कुससर्गभुजङ्गमवक्रोद्वान्ता विपविन्दवस्ते चैतन्य मूर्च्छयितवन्त , दृष्टिमन्यादृशी च कृतवन्त । साम्प्रत शुद्ध सिद्धान्त-वाक्यजागुलिकैरपि[3] कृच्छ्रसाध्यस्तत्रोपचार । यद्युपचारसोमान-मतिक्रम्य परिणतो विषवेगस्तर्हि सम्यक्त्वशरीरस्य नाश एव सुनिश्चित ।"

सति सत्यकथनाऽदत्तलक्षे चिरासेवितदोप-परिपुष्टिदक्षे गुरौ कि करणीयमिति चिन्तान्दोलितहृदयो भिक्षु पुनगुरु सद्वर्त्मा-ऽऽनेतु प्रायतिष्ट—"स्वामिन् ! केवलमयथार्थ-प्रतिवचनदानेन नहि भवति तत्त्व-निर्णीति । यदि नाह तत्व सम्यक् श्रद्दधे तर्हि भवन्तो मा युक्त्या प्रतिवोधयन्तु । यान् यान् तर्कानुपढौकेऽह तान् तान् समीचीनतया समाधाय नि शङ्कता मे हृदय नयताम् । नाह कदाग्रह करिष्ये, चेन्मम हृच्छङ्का अपनीता स्यु । यावत् सशयित मे मन-स्तावदह कथ स्वीकुर्वे भवत्कथनमपि ।

किञ्च—न मया गार्हस्थ्यत्याग. केवलमुदरपोषणाय व्यधायि । उदरपूर्त्यर्हायास्तत्राप्युचितसामग्र्या न मे नैयून्यमासीत् । भीषण-कष्टाना सहने को नाम लाभो यदि वास्तविक तत्व न करायत्तम् । इत्थ भगवद्भिस्तु शास्त्रे पूर्वमेव प्रतिपादितम्—ये शिथिलाचारिणः पार्श्वस्था भविष्यन्ति ते दुपमारनाम्ना स्वदोपान् पिधास्यन्ति ।

---

१ अपरिपक्वदशा प्राप्त । २ जाङ्गुलिको विपभिपग् इतिहैम. ।

हा ! मुझे खेद है, जिसे आग मे पके हुए घट की तरह परिपक्व मानकर वहाँ भेजा था वही कच्चा निकल गया। जिस वैद्य को रोगियो का रोग मिटाने के लिए भेजा था वह स्वय ही तीव्र रोग से आक्रान्त हो गया।

(आकाश की ओर देखते हुए) हा ! आज भी जैनो का सौभाग्य नहीं दिखाई देता।

वत्स ! कुसग के सर्प के मुख से उद्‌वान्त विप-विन्दुओ ने तेरे चैतन्य को मूर्छित कर दिया है और दृष्टि दूसरे ही प्रकार की वना दी है। अब शुद्ध सिद्धात के वाक्य रूप विप-वैद्यो के द्वारा भी तेरा उपचार कष्ट साध्य हो गया है। यदि उपचार की सीमा को लाघकर विप का वेग वढ गया है तब तो सम्यक्त्व शरीर का नाश ही सुनिश्चित है।

गुरु सत्य कथन के प्रति ध्यान नही देते, चिरकाल से सेवित दोपो की पुप्टि मे दक्षता दिखलाते है, ऐसे गुरु के विपय मे मुझे क्या करना चाहिए, इस चिन्ता से आन्दोलित भिक्षु ने गुरु को फिर सन्मार्ग मे लाने के लिए प्रयास किया—"स्वामिन् ! केवल अयथार्थ उत्तर देने से तत्व-निर्णय नही हो जाता। यदि मुझे तत्त्व की सम्यक् श्रद्धा नही है तो आप मुझे युक्ति से प्रतिवोध दे। मैं जो जो तर्क उपस्थित करता हूँ उन सवका युक्ति-पुरस्सर समाधान करके मेरे हृदय को नि शक करे। मै कदाग्रह नही करूगा यदि मेरे हृदय की शका मिटा दी गई। जव तक मेरा मन सशय-ग्रस्त है तब तक मै आपके कथन को भी कैसे स्वीकार करू ?

मैने केवल उदर-पोपण के लिए ससार का त्याग नही किया है। उदर पूर्ति के योग्य उचित सामग्री का मुझे वहाँ भी अभाव नही था। भीषण कष्टो को सहने मे कौन-सा लाभ है, यदि वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति न हो ? इस तरह भगवान ने तो शास्त्रो मे पहले ही कह दिया था—"जो शिथिलाचारी

भङ्ग सत्सङ्ग । अलमलमनया सह स्थायिकया, त्वद्विवेचन तुभ्यमेव श्रेयसेऽस्तु नान्यस्मै ।

गुरोर्हृद्दौर्बल्यमाकलयन् भिक्षुर्विहस्य पुनर्गुरु विनिन्ये । मा भूद् भावुकहृदामुपरि मदीय. प्रभावश्चेदित्याशङ्कते भवता हृदयम्, तर्हि स्यु श्रीमता सहयायिन. केवल तादृशा एव मुनयो ये न विदन्ति किमप्यागमरहस्यम्, भवतु नाम कापि तत्वचर्चा नामोभिर्ज्ञातु पार्यते किमपि ।

साशङ्कमुच्चै पुनर्गुरुर्बभाण—स्पष्टमुक्त मया, न त्वया सह कथमपि भावी मे चातुर्मासिको निवास., अलमितरप्रपञ्चेन ।

इदानी कतिपयदिनानि गुरुणा सह स्थित्वा पुनर्गुरु-प्रेरणया किंकर्तव्यविमूढो भिक्षु. पृथग् विजहार ।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये
महाकाव्ये गद्यप्रबन्धे त्रयोदश समुच्छ्वास

इसके साथ रहने से। तुम्हारा विवेचन तुम्हारे लिए ही श्रेयस्कर हो दूसरों को इसकी आवश्यकता नहीं।"

गुरु के हृदय का दौर्बल्य देखकर थोड़ा मुस्कराते हुए भिक्षु ने फिर गुरु को विनति की—"भावुक हृदयों पर मेरा प्रभाव न पड़े अगर आपका हृदय इस आशंका से ग्रस्त है, तो आपके साथ केवल वैसे ही साधु रहें, जिन्हें आगम-रहस्यों का कुछ भी ज्ञान नहीं। कोई तत्व-चर्चा चले उसे समझने के लिए वे समर्थ नहीं हों।"

आवेश-पूर्वक ऊंचे स्वर से गुरु ने कहा—"मैंने साफ कह दिया, तुम्हारे साथ मेरा चातुर्मासिक निवास किसी भी दशा में नहीं हो सकता। व्यर्थ की दूसरी बातों से क्या मतलब ?

कतिपय दिनों तक गुरु के साथ रहकर फिर गुरु की प्रेरणा से किंकर्तव्य-विमूढ भिक्षु ने पृथक् विहार किया।

तेरहवां समुच्छ्वास समाप्त



अग्निवत् सर्वभक्षिणो भूत्वा नरकं यास्यन्ति । महानिशीथेऽपि नरकगमनार्हाणामाचार्यादीनां न किं विचित्रा सङ्ख्या वर्णिता विद्यते ?

हन्त ! जीवितां मक्षिकां कथं जेगिल्यते धीमान् ! स्पष्टेष्वपराधेषु कथं गजनिमीलिका[1] ध्रियतेतरामात्मार्थिना नरेण ।"

अरुणीभूय पुनर्गुरुणाऽभाणि—"नाहं तव बहु व्यावर्णनं शुश्रूषे । जीवनविषमास्ते विषोद्गारा मा परान् निश्चेतनीकार्षुरिति तव मौनं स्व-परकृते विशेषलाभकृदिति मे मतिः ।"

आगच्छति वेगवति तापे नौषधं देयमिति नीतिज्ञो भिक्षुः समय-लङ्घनमेव शोभनं मन्वानः तूष्णीमापेदे । शनैः शनैः समयमासाद्य स्तब्धहृदयमपि जिनेश्वराऽऽदेशोष्णिम्ना द्रवयिष्यामीति निर्णीय तदानीमाहारादि-संबन्धं न विचिच्छेद । पुनरेकत्वैकरसिकतया गुरुं नम्रं निवेदयामास—"गुरुदेव ! तूष्णीमासेविष्येऽहमस्मिन् विषये साम्प्रतं भवदनुशासनतः, परन्तु नहि मे विचिकित्सितं[2] चिकित्सितमभूत् साम्प्रतिकैर्बाह्यप्रतीकारैः । अहं पुनर्गंभीरं विमृक्ष्यामि, भवद्भिरपि च गभीरदृशा विमृष्टव्यम् । वाञ्छाम्यहमागामिनीं चतुर्मासीमपि श्रीमद्भिः सहैव कर्त्तुम् । यथा प्रलम्बायमाने प्रावृषि[3] बहुविस्तरतस्तत्त्वचर्चा सुकरा भवेत् हृद्-विचिकित्सा अपि सुनिरसिताश्च संभाविन्यः ।

हृत्कम्पनेन सह मस्तकं कम्पयन् गुरुराह—"[4]नाहं त्वां दृढमात्त-कुहेवाकं साकं रक्षितुमिच्छामि वद्धकाले वर्षर्त्तौ । आशङ्के, तव कुतर्क-संपर्कतोऽन्येऽपि ममाल्पज्ञाः शिष्या भ्रमित-मस्तिष्काः स्युः । यतः-शीघ्रं यथा विषं परिणमति, न तथाऽमृतम्, यथाऽनलः स्वकार्य-कुशलो न तथा जलम्, यथाऽसत्सङ्गो रङ्गत्तरङ्गो न तथा चाऽभङ्ग-

१ उपेक्षा । २. संशयितम् । ३ वर्षाकाले । ४. गृहीतकदाग्रहम् ।

पार्श्वस्थ होंगे वे दु पम आरक के नाम से अपने दोपो को छिपाए गे, अग्नि की तरह सर्वभक्षी वनकर नरक मे जायेंगे ।" महानिशीथ मे भी नरक मे जाने वाले आचार्यों आदि की विचित्र सख्या का वर्णन है ।

खेद है, जीवित मक्खी को बुद्धिमान कैसे निगल सकता है ? स्पष्ट अपराधो मे आत्मार्थी मनुष्य उपेक्षा भाव कैसे धारण कर सकता है ?"

लाल आँखे करके गुरु ने फिर कहा—मैं तुम्हारा वहुत वर्णन सुनना नही चाहता। जीवन के लिए विपम तुम्हारे विप-उद्गार दूसरो को निश्चेतन न वनाए इसलिए तुम्हारा मौन रहना ही स्व और पर के लिये विशेप लाभ-दायक हे, ऐसी मेरी मान्यता है ।

आती हुई तेज वुखार मे कोई दवा नही देनी चाहिये, इस नीति के जानकार भिक्षु ने समय का लघन ही उचित है, ऐसा मानते हुये मौन धारण कर लिया। धीरे-धीरे समय पाकर स्तब्ध हृदय को भी जिनेश्वर के आदेश की उष्णिमा से द्रवित कर दूंगा, ऐसा निर्णय करके उस समय आहार आदि का संवधविच्छेद नही किया और एकता के एकमात्र रसिक वनते हुए गुरु को विनम्र निवेदन किया—"गुरुदेव ! आपकी आज्ञा से अव मैं इस विपय मे मौन रखूगा , परन्तु मेरी शकाओ का इन वाह्य प्रतिकारो से कोई समाधान नही हुआ । मैं पुन गभीर विमर्शन करूगा । आप भी गम्भीर दृष्टि से चिन्तन करिए । मैं आगामी चतुर्मास भी आपके साथ ही करना चाहता हूँ। जिससे कि चतुर्मास के दीर्घ समय मे वहुत विस्तार से तत्व-चर्चा तथा हृदय की शकाओ का समाधान सभव हो सके।"

हृदय-कम्पन के साथ सिर को हिलाते हुए गुरु ने कहा—"मैं तुझ दृढ कदाग्रही को वर्पा-ऋतु के वद्धकाल मे साथ रखना नही चाहता। मुझे आशका होती है तुम्हारी कुतर्कें सुनकर मेरे अल्पज्ञ दूसरे शिष्य भी भ्रमित-मस्तिष्क वन जाए गे, क्योकि जितना शीघ्र विप फैलता है उतना जल्दी अमृत नही। जैसी आग अपना कार्य करने मे कुशल है, वैसे जल नही। जितना जल्दी असत्सग रंग लाता है, उतना शीघ्र सत्सग नही। वस-वस काफी हो गया

चतुर्दश समुच्छ्वास | *

प्रसह्य किमप्यवरुद्ध पुनर्गुर्व्वी वलवत्तामादधातीति प्रकृतेर्नियम । परिवर्त्तित हृदय परिवर्तयति वचन मानसमपि । सुसहा मनस्विभि भीषणा विपत्तय , परन्तु दु सहा तैरसत्येन क्रियमाणाऽऽत्म-प्रवञ्चना। प्रत्यक्ष पराक्रमापमान पर्याण[1] सह्यते किमुत केसरिणा ? जाग्रज्ज्योतिषा ज्वलेनन क्षम्यते कि भस्मनेव पदाक्रान्ति ? शीर्यमाणशरीरनाशे नहि नाशयितुमिच्छन्ति महामनस सात्त्विक शरीरम् । मन्मन्यन्ते ते सत्यमेव जीवन-सर्वस्वम् । 'सत्यमेव जयते नानृतम्' इति वाक्य सार्धत्रिकोटीरोमराजिव्याप्त विलसति येषा समन्तत । स्वाहा भवतु सर्वापि वाह्या सुखसामग्री, परन्तु तिष्ठतुतमा जीवन-सर्वस्व ध्रुव सत्यधनम् । यत सत्य नहि बाह्य-सामग्री-सापेक्षम् । उपस्थिता भवति स्वयमेव सहयोगिनी वाह्यसामग्री सत्यसेविना पुरत. ।

अस्तु, बहुचिन्तनचञ्चुना भिक्षुणा स्वतत्त्व तत्त्वतरलित प्रेक्षमाणेन "नाऽसत्येन सह सन्धि केनापि मूल्येन कार्य" इति नि शङ्क निरणायि । कियत्कालमह प्रतीक्षिष्ये सत्यं गलग्राह गृह्णन् द्रव्यगुरु-

---

१ पलाण, जीन इतिभाषा ।

★ चौदहवाँ समुच्छ्वास

बलपूर्वक कोई चीज रोकी हुई बाद मे अत्यन्त वेगवत्ता धारण करती है, यह प्रकृति का नियम है। परिवर्तित हृदय, वचन और मन को भी परिवर्तित कर देता है। मनस्वी भीषण विपत्तियो को सुख से सह जाते है परन्तु असत्य से की जाने वाली आत्म-प्रवचना उनके लिए दु:सह हो जाती है। प्रत्यक्ष पराक्रम के अपमान स्वरूप पर्याण (जीन) को क्या सिंह कभी सह सकता है? धधकते हुए अगारो वाली आग क्या कभी भस्म की ज्यो पदाघात सह सकती है? विनाशशील शरीर के नाश होने पर भी महामना कभी सात्त्विक शरीर को नाश करना नही चाहते। वे सत्य को ही जीवन सर्वस्व मानते है "सत्य की ही विजय होती है झूठ की नहीं" यह वाक्य जिनके साढे तीन करोड रोमराजि मे अच्छी तरह व्याप्त हो चुका है। सारी वाह्य सामग्री भले स्वाहा हो जाये, पर जीवन-सर्वस्व ध्रुव सत्य-धन अवश्य बचे, क्योंकि सत्य वाह्य सामग्री से अपेक्षा नही रखता। सत्य-सेवियो के समक्ष सहयोग देने वाली सामग्री स्वय ही उपस्थित हो जाती है।

अस्तु, बहुत चिन्तनशील भिक्षु ने अपने तत्त्व को यथार्थ देखते हुए असत्य के साथ सधि किसी भी मूल्य पर नही करनी है—यह नि शक निर्णय कर लिया। मैं द्रव्य गुरु के प्रेम मे फसकर सत्य को ग्रहण करने के लिए

प्रेमवशंवदः । व्यतीतो विलक्षणः क्षणः कथमपि नहि प्रत्यावर्तते प्रयत्नशतैरपि । स एव दक्षकोटीकोटीरायमाणो यो वार्तमानिकं क्षणं सफलयति सुकर्मणा । नास्ति मम कापि समीहा गुरुं विलङ्घ्य पार्थक्यमुररीकर्तुम्, किन्तु किं क्रियते यदि गुरवः कथमपि न मन्त्रं स्वीकर्तुमुशन्ति[1] । नाऽत्याक्षमहं स्वजनादिसङ्गं केवलमाद्यून-वृत्तये[2] । यदि गङ्गामुपेत्यापि नैर्मल्यप्रधानं स्नानं नाऽकारि तर्हि किं तीर्थयात्रया ? नन्दनवनमध्युष्यापि नेत्रानन्दं स्वदन्निजमन्तःकरणम् तर्हि किमपराद्धं स्वतः स्वग्रामपरिसरोच्छ्रितेन बब्बूलकाननेन । नैव चर्या वर्या या प्राप्तुमीशा यथेप्सितं स्थानम् । जायते नयं कृतिः फलवती यावन्न स्यात्साऽविकृतिमती । कोऽस्ति तादृशो मूर्खश्रेणिप्रवग्रिमो यो व्ययीकृत्य रत्नानि तद्व्यतिहारेणा[3]ऽर्जयति प्रस्तरशकलानि । नाहमीदृशः स्रष्टास्मि इति निश्चित्य 'बगडी' नगरे गुरुं साक्षाच्चकार, रहसि सविनयं च विज्ञपयामास—"गुरुवर ! बहु चिन्तितं मया पूर्वनिवेदित-विषये, किन्तु न ममान्तःकरणं साक्ष्यं ददाति तत्र स्वल्पमपि । ततः श्रीमन्तः पीनपुण्येनाऽनुरुणध्मि यदाचारविचारेषु विचारचणेन[4] भाव्यं भव्यहृदयेन भवता । कथमहमात्मानं वञ्चयामि मृषाऽऽचारशैथिल्यं पुष्णन् । निर्भयमपि मे हृदयं बिभेति विरुद्धमुद्भावयितुम् । न मम हृदयं दूनमस्ति[5] कस्मैचिद् भौतिकसुखाय नूनम् । न मम मानसं व्याकुलमस्ति गौरवत्रिकाय । नानुभवाम्यत्र किमपि न्यूनत्वमन्यत्राचारशैथिल्यात् । तदसहिष्णुरहं तातप्ये रात्रिंदिवं मिथ्यात्ववह्निना । तदुपचारो यद्यनुष्ठीयते श्रेष्ठदृष्टिभाजा श्रीमता तर्हि भवानेव मम मन्दिरस्य देवता आजन्म पर्युपासनीया निर्भरभक्तितः । यदि नैवम्, तर्हि कियत्कालमहमात्मानं वञ्चयिष्यामि मिथ्याचारैः ।"

---

१ इच्छन्ति । २ उदरभरण-निमित्तम् । ३ तद्विनिमयेन । ४. विचारचञ्चुना । ५ सतप्तम् ।

कितने काल तक प्रतीक्षा करूगा ? वीता हुआ विलक्षण क्षण किसी भी प्रकार सैकडो प्रयत्नो के द्वारा भी वापिस नही आता। वही दक्षो की श्रेणि मे मुकुट होता है, जो वर्तमान के क्षण को सुकर्म से सफल वनाता है। गुरु को छोडकर मेरी कोई पृथक होने की इच्छा नही है , किन्तु क्या किया जाए, यदि गुरु किमी भी प्रकार सत्य को स्वीकार करना नही चाहते। मैंने केवल उदर-पूर्ति के लिए स्वजन आदि के सग का परित्याग नही किया है। यदि गगा को पाकर भी नैर्मल्य-जनक स्नान नही किया तो तीर्थ-यात्रा से क्या मतलव ? नन्दनवन मे रहकर भी यदि मन को आनन्द मे परिपूर्ण नही वनाया तो फिर उस ववूल कानन ने क्या अपराध किया जो स्वत ही ग्राम के निकट था। वही चर्या अच्छी है जो इच्छित लक्ष्य प्राप्त करने मे ममर्थ हो। कृति कैसे मफल हो सकती है जव तक कि वह विकार से रहित न हो जाए। ऐसा कौन मूर्ख शिरोमणि है जो रत्नो का व्यय कर उसके वदले मे पत्थर के टुकडे लाए ? "मैं ऐसा करने वाला नही हूँ"—ऐसा निर्णय करके श्री भिक्षु "वगडी" नगर मे गुरु से मिले और एकान्त मे विनय-पूर्वक निवेदन किया—"गुरुवर ! मैंने पूर्व निवेदित विपय मे वहुत चिन्तन किया है, किन्तु मेरा अन्त करण वहाँ किंचित् भी साक्षी नही देता। इसी लिए आपको वार-वार अनुरोध करता हूँ कि आचार-विचार के विपय मे भव्यता के माथ विचार करना चाहिए। मैं आचार-शैथिल्य का परिपोषण करता हुआ व्यर्थ ही क्यो आत्म वचना करू ? मेरा निर्भय हृदय भी विरुद्ध प्ररूपणा करते हुए कापता है। मेरा मन किसी भौतिक सुख के लिए व्यग्र नही है और न ही तीन प्रकार के गौरव के लिए व्याकुल है। दूसरी सम्प्रदायो की आचार-शिथिलता से यहाँ कुछ कमी महसूस नही करता। उसको न सहता हुआ मैं रात-दिन मिथ्यात्व की आग से जलता हूँ। यदि आप श्रेष्ठ दृष्टि से उमका उपचार करते है तो परिपूर्ण भक्ति से पर्युपासनीय मेरे मन मन्दिर के आप ही देवता है। यदि ऐमा नही , तो मै मिथ्या आचार मे अपनी आत्मा को कव तक छलूगा ?

क्षागस्वुधौ गङ्गाप्रपतनमिव भिक्षोरनघमपि वचन नहि माधुर्येण परिणेमे गुरुहृदये। उद्वेलितवार्धिरिव मताग्रह-कल्लोललोलमग्नसो रघुराचार्य· प्रोवाच— अरे! मूर्खोऽसि, पुन· पुनस्तामेव कथां रारटीमि। राघव इव रघुरपि नैव द्विर्भाषते, यत् सत्यमवभासते तदेव पुरस्सरयन् व्रजति, न त्यजतितरां पुनः कदाप्यानुवंशिकी परम्पराम्। यदि परम्पराप्रतिपादित तत्त्व न तव प्रेक्षा प्रतिपद्यते, तर्हि गुरुश्रद्धयैव प्रत्येहि गुरूदित मुदितेन मनसा। कृत्स्न भवत्येव बुद्धिगम्यमित्यसम्भवम्। न शिष्याणा तर्क-कार्कश्ये पतितुमधिकार, तैस्तु महामनसा पदानुपदिकैरेव भवनीयमिति धीमता मतम्। न श्रुतस्त्वया किमु कृष्णभेरी-दृष्टान्त· ? यत्तस्या गदापहारिण्यामितरेतरकाष्ठ-सयोजनेन जाता सा क्षीणशक्ति·। तद्वत् सर्वभवोपतापहारिणि शास्त्रवचने स्वमत्याऽपरापर-भावार्थसयोजनेन जन्यत महती प्रतिपदमव्यवस्था। अत ऊर्ध्व नहि कस्याप्यग्रतोऽप्येषा तव भ्रान्ता विचारधारा रक्षणीयेति मम शासनम्, किमपासनं मुधैव करोषि मुखसगतीना प्राचीनसयमपद्धतीना हठाग्रहव्यग्रमानस· ?

इत्थं दुराग्रह-ग्रसित-विवेकचक्षुषो गुरोर्निर्विचार तर्जनमाकर्ण्य भिक्षुर्हताश· सजज्ञे। 'नैषु तिलेषु तैल'मिति निर्णीय तूष्णीमाशिश्रिये।

अहो! गृहत्यागतोऽपि दुष्करश्चिरसंस्तुत-सम्प्रदायपरित्याग·। तत्र प्रतिग्राम· प्रतिपुर, प्रतिप्रदेशश्च परिचिता जना·। चिर सञ्चिता तेषा हृदयेऽखण्डा सत्कार-पूर्णा श्रद्धा। साधुमण्डल्यामपि— केचिद् गुरुस्थानीया· ज्येष्ठा मित्रायमाणा समवयस्का· केचित्, शुश्रूषमाणा· स्नेहसिक्ता लघुमुनय केचिद्, भ्रातृ-भ्रातृव्य-भगिनी-भागिनेय-मातुलादीना सबन्धा अपि सम्प्रदाय जिहासु प्रत्यहन्ते, बलादवरुन्धन्ति

क्षार-समुद्र मे गगा-प्रपतन के समान भिक्षु का निर्मल वचन भी गुरु के हृदय मे मधुरता से परिणत नही हुआ। उद्वेलित सागर की तरह मताग्रह की लहरो मे चचल मन वाले आचार्य रघुनाथजी ने कहा—"अरे ! क्या मूर्ख हो ? जो बार-बार उसी कथा को रटते हो। राघव (राम) की तरह रघु भी दो प्रकार की बात नही करता, जो सत्य लगता है उसी को आगे रख कर चलता है। कभी भी अपनी वश-परम्परा का परित्याग नही करता। यदि परम्परा प्रतिपादित तत्त्व को तेरी बुद्धि स्वीकार नही करती तो गुरु की श्रद्धा से ही गुरु के कहे पर प्रमुदित मन से विश्वास करलो। सब कुछ बुद्धिगम्य हो ही जाए यह असम्भव है। शिष्यो को तर्क की कठोरता मे पडने का अधिकार नही है। उनको तो नि सकोच होकर गुरु के पद-चिन्हो पर ही चलना चाहिए, ऐसा बुद्धिमानो का मत है। क्या तूने कृष्ण-भैरी का दृष्टान्त नही सुना ? वह रोग को मिटाने वाली थी पर दूसरे-दूसरे काष्ठ के सयोजन से वह उस शक्ति से विकल हो गई। वैसे ही ससार के सब उपतापो को मिटाने वाले शास्त्र-वचन मे भी अपनी मति से दूसरे-दूसरे भावार्थो के संयोजन से प्रतिपद पर महान् अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, इससे आगे यह तेरी भ्रान्त विचार-धारा किसी के भी समक्ष मत रखना, यह मेरी आज्ञा है। हठाग्रह मे व्यग्र हृदय बनकर सुखदायक प्राचीन सयम-मार्ग का व्यर्थ ही क्यो खडन करता है ?

इस तरह दुराग्रह मे ग्रस्त विवेक चक्षु वाले गुरु की विचार-शून्य फटकार सुनकर भिक्षु हताश होगये। "इन तिलो मे तेल नही" यह सोचकर मौन हो गये।

अहो ! गृहत्याग से भी चिर-परिचित सम्प्रदाय का परित्याग कठिन बन जाता है। जहाँ हर गाव, हर नगर और हर प्रदेश मे परिचित जन होते है। उनके हृदय मे चिर-सचित सत्कार पूर्ण अखड श्रद्धा होती है। साधु-मडली मे भी कुछ गुरु स्थानीय ज्येष्ठ, कुछ मैत्री करने वाले समवयस्क, कुछ सेवा करने वाले स्नेह-सिक्त छोटे मुनि होते है। भाई, चाचा, बहिन, भाणेज और मामा आदि के सबध भी सम्प्रदाय का परित्याग करने वाले के विघ्न बनकर बलपूर्वक उसे कुछ नव्य पदन्यास करते हुए को रोकते है। सम्प्रदाय से

च कुर्वन्त किमपि नव्य-पदन्यासम्। विच्छिन्न-सम्प्रदाय-सम्बन्धस्यापि का स्थितिः सम्मुखीना भाविनीति भविष्यदुदरे निहितम्। इत्थ-रोधा के के प्रतिक्रियात्मका विरोधा उत्पत्स्यमाना का स्थितिं प्रापयन्ति तमसहायमिति को जानीते ? परिपूर्णसामर्थ्यभाजां विपक्षाणामग्रे कथमिव नव्याङ्कुरोऽपि फलवती भवेदिति चिन्त्यम्। सहयायिनोऽपि सर्वत प्रातिकूल्य, विचारस्वातन्त्र्य चानुभवन्तः कियत्काल सहगामिन स्युरिति विचारणीय प्रश्न ; एवमनल्प-विकल्पतल्पे शयानो भिक्षु रात्रौ न गाढनिद्राऽऽलिङ्गितो बभूव। पार्श्वे परावर्त्तमान कटुमधुरान् पार्थक्य[1]-स्वप्नान् ददर्श।

केनाप्यपूर्व-भव्यालोकेनालोकिताऽशाविवरोऽशुमाली 'देवो भूत्वा देव यजेत' इत्युक्ति चरितार्थयन्निव समनाशालिनमेन भिक्षुराज दिदृक्षुर्वासन्तिक समशीतोष्णकाल बिभ्रत्प्राच्यामुदियाय। मन्द-मन्द वहमानेन मधुमासपवनेन माधुर्येणेव सिक्त सर्वोऽपि जीवलोक। चित्रम् ! अप्राप्तवर्षापि वनराजि. केवल चैत्रिक[2]-श्वसनेनाऽनुप्राणिता कृतकायकल्पेव स्वजीर्णशीर्णावयवान् पृथक् कृत्वा नवपल्लववती पुष्पवती चाजनि। प्राप्तनवमञ्जरीभि सुरभित सहकार कोकिलाना काकलीभिर्भूमावेव[3] स्वर्गमवतारयामास। कटुसत्य-कथकसोदरो निम्बोऽपि चुल्लान्[4] कोष्ठगतोष्णिम-निहन्त्रीस्वकटु-मञ्जरीपानाय निमन्त्रयामास। वर्षास्वपल्लवितोऽपि यवासो[5] वसन्तर्तुकृपासुधासिक्तो विकस्वरमुख प्रोन्नतकन्धरो विललास। [6]अस्तिपुष्पफलोऽहमिति नाऽपत्रपिष्णुनाऽभावि[7] पत्रशून्यशरीरेणापि करीरेण। परिपक्वप्रायाणि वप्रेषु विलसन्ति स्म [8]शूकधान्यानि। पीतता प्राप्ताश्चणकक्षुपा [9]क्षपानाथज्योत्स्नया लब्धसौवर्णकान्तयो दीप्यन्ते स्म।

---

१. भिन्नत्व-स्वप्नान्। २ चैत्रमास-पवनेन। ३ 'काकली तु कल. सूक्ष्म एक तालो लयानुग' (इतिहेम') ४. नेत्ररोगिण ५ वनस्पति-विशेष.

सम्बन्ध विच्छेद कर देने पर भी आगे क्या परिस्थिति सामने आयेगी यह भविष्य के उदर मे ही निहित होता है। क्या-क्या दु ख जनक प्रतिक्रियात्मक विरोध पैदा होते हुए उस असहाय को किस परिस्थिति मे डाल देगे यह कौन जानता है ? परिपूर्ण सामर्थ्यशाली विपक्षियो के आगे नये अकुर का वपन कैसे सफल होगा यह भी चिन्तनीय बन जाता है। सहयोगी भी सब जगह प्रतिकूलता और विचार-स्वातन्त्र्य को अनुभव करते हुए कितने समय तक सहयोगी बने रहेगे, यह भी विचारणीय प्रश्न है, यो अनेक विकल्पो की शैय्या पर सोते हुए भिक्षु को रात्रि मे पूरी नीद भी नही आई। करवटे बदलते हुए सम्प्रदाय त्याग के कडवे मीठे सपने देखते रहे।

कोई अपूर्व भव्य आलोक से दिशा विवर को आलोकित करता हुआ सूर्य "देव होकर देव की पूजा करनी चाहिए" इस उक्ति को चरितार्थ करता हुआ समताशाली भिक्षु राज को देखने का इच्छुक वसन्त का समशीतोष्ण समय लेकर पूर्व दिशि मे उदित हुआ। मन्द-मन्द चलती हुई चैत्र मास की हवा ने सारे ही जीवलोक को माधुर्य से अभिषिक्त कर दिया। आश्चर्य है ! वर्षा नही होने पर भी वनराजि केवल चैत्र की पवन से अनुप्राणित होकर कायाकल्प करने वाले के समान अपने जीर्ण-शीर्ण अवयवो को पृथक करके नये पत्तो वाली और फूलो वाली हो गई। नव-मजरियो से सुरभित सहकार (आम्र) ने कोकिलो के मदुरव से पृथ्वी पर ही स्वर्ग को उतार दिया। कटु सत्य वक्ता के भाई नीम ने भी उदर की गर्मी को शान्त करने वाली अपनी कडवी मजरी पीने के लिये नेत्र-रोगियो को निमन्त्रण दिया। वर्षा मे अपल्लवित जवास भी वसन्त ऋतु की कृपा-अमृत से अभिषिक्त विकस्वर मुख तनकर खडा शोभित हो रहा था। पत्तो से रहित तन वाला करीर (करेडा) भी मैं फूल, फलवाला हूँ—यह सोचते हुए लज्जा का अनुभव नही कर रहा था। खेतो मे जौ गेहूँ आदि धान्य प्राय. पक गये थे। पीले हुए चने के पौधे चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से स्वर्ण-कान्ति पाकर अद्भुत शोभित हो रहे थे।

---

६. पुष्पफलयुक्त । ७ लज्जाशीलोऽपत्रपिष्णु (इतिहैम.)। ८ यव-गोधूमादीनि ।

जागरूको नवीनोत्साहेन सह भिक्षु शास्त्रीयदिक्षु गन्तु दृढ संकल्पयामास। अत्रापि शमिश्रेष्ठेन तिथिरपि शुभोदर्का रामनवमी। विचारसाम्येन त्रयोदशसाधव सत्याराधनायै भिक्षुमनुसर्त्तु मुत्सेहिरे तदानीम्। तेषु-छिन्नमायाजाल स्थिरपाल प्रथम।१। विगता ऽऽलस्य-तन्द्र, फतेहचन्द्रो द्वितीयः।२। इमो द्वावपि भिक्षुनो दीक्षा-वयोज्येष्ठौ। सर्वभ्रान्तिहरस्टोकरजित् तृतीय।३। भिक्षुकृपासनाथो हरनाथश्चतुर्थ।४। वयसा वालोऽपि विततगुणमालो भारीमाल पञ्चम।५। तथैवाऽपरे वीरभानु।६। लक्ष्मीचन्द्र।७। भक्तराम।८। गुलाव।९। द्वितीय-भारमल।१०। रूपचन्द्र।११। प्रेमाह्वया क्रमशो द्वादश-सख्या-पूरका मुनयो वभूवु: एषु पञ्च रघोराचार्यस्य, षट् श्रीजयमल्लजित्सप्रदायस्य, द्वावन्यसप्रदायस्य च सर्वे समील्य ते त्रयोदश-सख्या लभन्ते स्म।

एभिर्द्वादशभिर्मुनिभि सार्धमात्मना त्रयोदशो भिक्षुर्गुरो सवन्धविच्छेदाय मूर्त्त पराक्रम इव स्कन्धारोपित-स्वोपधि-वीवधो गुरूपकण्ठमाजगाम। वीरोदात्तया वाचा निःशङ्क प्रोवाच—"आचार्या! अन्तस्तत्त्वमजानता मया यूयमात्मोद्धाराय गुरुत्वे-नाङ्गीकृता, परन्तु साम्प्रतमह न पश्यामि युष्मासु सम्यक् श्रद्धा चारित्र च। विनयेन वहु प्रार्थिता अपि न यूय मत्कथनोपरि विमर्शन कुरुथ, ततोऽह स्वकल्याणाय द्रव्यगुरुभि सहाऽऽहारादि-सवन्धान् व्यवच्छेद्य स्वेच्छया मदनुयायिभिर्मुनिभि सत्रा[1] पार्थक्य-मङ्गीकरोमि। यन्मया किमप्यपराद्ध भवेत् तत् भवता क्षन्तव्यम्" इति निगद्य तत्काल ततो निस्ससार।

द्रव्यगुरवस्तु विद्युदाहता इव स्तव्धा इवाऽनयाऽप्रत्याशित-घटनया कम्पिता इव च जज्ञिरे। अहह! भावना-सख्याकै[2] शिष्यै

---

१ सत्रा-सार्धम्। २ द्वादशसख्याकै।

जागरूक भिक्षु ने अभिनव उत्साह के साथ शास्त्रीय दिशि मे जाने का सुदृढ सकल्प किया। उस सन्त-श्रेष्ठ ने तिथि भी शुभ भविष्य वाली राम नवमी पाई। विचार साम्य के कारण सत्य की आराधना के लिए उस समय भिक्षु का अनुगमन करने के लिए तेरह साधु उत्साहित (तैयार) हुए। उनमे मायाजाल को तोडने वाले 'स्थिरपाल जी' पहले, आलस्य और तन्द्रा का परित्याग करने वाले 'फतेहचन्द' जी दूसरे, ये दोनो ही भिक्षु से दीक्षा और वय मे बडे थे। सब भ्रान्ति को दूर करने वाले 'टोकर जी' तीसरे, भिक्षु की कृपा से सनाथ 'हरनाथ जी' चौथे, वय से छोटे होते हुए भी गुणो मे मोटे 'भारमल जी' पाचवे, वैसे ही दूसरे छ मुनि 'वीरभानजी, लक्ष्मीचद जी, भगतरामजी, गुलाबजी, दूसरे भारमलजी, रूपचन्द जी, प्रेमचन्दजी,' थे। इनमे पाच आचार्य रघुनाथ जी की, छह श्री जयमल जी की सम्प्रदाय के और दो किसी दूसरी सम्प्रदाय के यो सब मिलकर तेरह सत थे।

इन बारह मुनियो के साथ अपने आप मे तेरहवे भिक्षु स्वामी गुरु से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए मूर्तिमान पराक्रम के समान कन्धो पर अपने उपकरणो का भार लेकर गुरु के निकट पहुँचे। धीर और उदात्त वाणी से नि सकोच बोले—'आचार्य प्रवर! वास्तविक तत्त्व को नही जानते हुए मैंने आपको आत्मोद्धार के लिए गुरु-रूप से स्वीकार किया था, परन्तु अब मैं आपमे न सम्यक्त्व देखता हूँ और न चारित्र। विनय से बहुत प्रार्थना करने पर भी मेरे कथन पर आप कोई विमर्शन नही करते है, इसलिए मैं आत्म-कल्याण के लिए द्रव्य गुरु से भोजन आदि का सम्बन्ध विच्छेद करके स्वेच्छा से अपने अनुयायी साधुओ के साथ पृथक होता हूँ। मैंने कोई भी अपराध किया हो तो उसे क्षमा करना।" यह कहकर तत्काल वहाँ से निकल गये।

द्रव्य गुरु तो विद्युत-आहत के समान स्तब्ध हुए इस अप्रत्याशित घटना से काप गये। अहो! भावना की सख्या (बारह की सख्या) के समान शिष्यो

सह निर्गच्छति भिक्षुर्मां विरहय्य। कल्पित मया तु भ्रान्तमस्तकोऽयमेकाकी कि कर्त्तुमीशो मत्सप्रदायस्य। अन्त. स्थितेनतेन शनैः शनै. स्व-विचारैरैक्यमानीता. कियन्तो मुनय ।

हन्त, हन्त! दौर्भाग्यमेतद् मुनिगणस्य। न कथमुद्गतमात्रं विपाङ्कुरं छेत्तु प्रायाति[1] मया? उत्पन्नप्राय आमयः 'किमिति कृत्वा' कथमुपेक्षित! क्वचिद् भिद्यमान दुर्ग प्रमादेन न कथ झगिति समीकृतम्! अथवा न किमेकेनैव छिद्रेण मध्येसमुद्र निमज्जति नौ ? न किमेकेनैव व्रणेन व्याप्त भवति सर्व वपु ? न किमेकेनैव छन्दोभङ्गेन दुष्ट भवति काव्यम् ?

अलमतीतस्य शोकेन, साम्प्रत तथा करणीय यथा स्वयमय व्याकुलीभूय कुत्रापि शरणमलभमान पुनर्मामिवाभ्युपगच्छेत् इति विचिन्त्य कुबुद्धिचक्र भ्रामयन् द्रव्यगुरु. प्रमुखै श्रावकै सह तत्काल विजने विमर्शनं कृत्वाऽमोघप्राय सङ्घसत्ता-शस्त्रप्रयोग पूर्णबलेन चकार ।

झगिति वभ्राम [2]सेवकस्तत्र प्रतिगृहम्—मादु. केऽपि श्रावका गुरुविमुखेभ्य सङ्घवहिर्गतेभ्यो भिक्ष्वादिमुनिपाशेभ्य[3] स्थानदानम्। य कश्चिदाहोपुरुषिकया[4] दास्यति स्थान, न स स्थान प्राप्स्यति सङ्घीयनामावल्याम्" इत्याम्रेडयन् स सर्वान् श्रावकान् साशङ्कान् विदधे ।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये
महाकाव्ये गद्यप्रबन्धे चतुर्दश· समुच्छ्वास.

---

१ प्रयत्न कृतवान्। २ सेवगजातीय । ३ 'कुत्सायां पाश' इतिवैयाःकरणा । ४ दर्पात्साऽऽहोपुरुषिका (इतिहैम.)।

के साथ भिक्षु मुझे छोडकर जा रहा है। मैंने तो कल्पना की थी कि यह भ्रान्त-मस्तक वाला अकेला मेरे सम्प्रदाय का क्या कर सकता है ? इसने अन्दर रहते हुए धीरे-धीरे कितने साधुओ को अपने विचारो मे सहमत वना लिया।

हन्त ! हन्त ! यह साधु-सघ का दुर्भाग्य है। मैंने उगते ही इस विप अकुर का छेदन करने का प्रयास क्यो नही किया ? उठते हुए रोग को साधारण समझकर उपेक्षा क्यो की ? कही से फूटते हुए दुर्ग की प्रमादवश मैंने तत्काल मरम्मत क्यो नही की ? क्या एक ही छेद से समुद्र मे नौका नही डूव जाती ? क्या एक ही व्रण से समग्र शरीर व्याप्त नही हो जाता ? क्या एक ही छद के भंग से काव्य दूषित नही हो जाता ?

अतीत के शोक से क्या हो ? अव वैसा करना चाहिए जिससे स्वय ही यह व्याकुल होकर कही भी आश्रय नही पाता हुआ वापिस मेरी ही शरण मे आ जाए, यह सोचकर कुवुद्धि-चक्र को घुमाते हुए द्रव्य गुरु ने प्रमुख श्रावको के साथ एकान्त मे चिन्तन करके सघ-सत्ता के अमोघ शस्त्र का पूर्ण वल से प्रयोग किया।

तत्काल वहाँ 'सेवग' (एक जाति विशेप) को प्रत्येक घर मे घुमा दिया। "कोई भी श्रावक, गुरु से विमुख सघ वहिर्गत भिक्षु आदि जाली मुनियो को स्थान मत दो। जो कोई अपने अहकारवश उन्हे स्थान देगा वह संघ की नामावली मे स्थान नही पाएगा" यो वार-वार कहते हुए उसने सव श्रावको को भयभीत वना दिया।

चौदहवां समुच्छ्वास समाप्त

पञ्चदश समुच्छ्वासः | *

विरोधेन नावरुध्यते मनस्विना प्रगतिः। किं कम्पते कल्पान्तवात्ययापि[1] मेरुः। त्रुट्यति किमयोघनेन तर्जितमपि वज्रम्। विरोधाग्निपरीक्षायां समुत्तीर्णा एव सन्तः स्वर्णवन्नैर्मल्यमालिङ्गन्ति। यस्मिन् पथि जातस्तेषां नैयायिकः पावनपदन्यासस्तमुत्पथगामिनं घोषयन्तोऽपि प्रान्ते तमेवानुसर्त्तुमुत्सहन्ते विपक्षाः प्रायेण।

नाऽवापि वम्भ्रम्यमाणेन भिक्षुणा भ्रमितस्ततः प्रयतमानेनापि विशालायां तस्यां वसतौ क्षणमपि स्थातुं कुत्रापि स्थानम्। विपक्षैरन्वीयमानमार्गाय तस्मै कञ्चित्स्थानं दातुं हृदा समीहमानोऽपि सङ्घाज्ञाभङ्गभयतो न तादृक् कर्त्तुं प्रबभूव। काऽकारिणिकी विपदमाह्वयते स्म स्वसद्मनि! भूरयः परिचिता अपि लोकास्त्रेपिरे सम्मुखीनया दृशा भिक्षुं प्रेक्षितुमपि। प्रसह्य प्रेरयामासुः केचन पुनस्तत्रैवागन्तुमतत्त्ववेदितया। परन्तु वीराग्रणीर्भिक्षुः परित्यक्तकञ्चुकः नागेश इव न पुनरङ्गीकर्त्तुं मियेष।

'का नाम चिन्ता यदि न मिलतितरामत्र स्थानम्। बहवोऽवसथा[2] विलसन्ति स्थानदानप्रवणाः परितोऽस्मान्' इति निर्भयं भिक्षुणाऽभाणि। अधुनैव विहरामोऽन्यत्रेति निगद्य सह भिक्षुभिर्भिक्षुर्विहारार्थं नगराद् बहिर्निस्ससार।

---

१ वातानां समूहो वात्या, तया। २. अवसथाः-ग्रामाः।

★ | पन्द्रहवां समुच्छ्वास

मनस्वियो की प्रगति विरोध से अवरुद्ध नही होती । क्या कल्पान्त-काल की वायु से भी मेरु कम्पित होता है ? क्या लोह के घन से पीटने पर भी वज्र टूटता है ? विरोध की अग्नि-परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर ही सज्जन स्वर्ण की तरह निर्मलता को पाते हैं । जिस दिशि मे उनका न्याय-युक्त पावन पदन्यास होता है , उन्मार्ग गमन बताते हुए भी प्राय विपक्षी जन अन्त मे उसी का अनुसरण करने के लिए उत्साहित हो उठते है ।

घूमते हुए भिक्षु ने इधर-उधर खूब प्रयत्न करने पर भी उस विशाल नगर मे क्षणभर भी ठहरने के लिए कही भी स्थान नही पाया । विरोधी जन पीछे लगे होने के कारण कोई उनको हृदय से स्थान देने की चाह रखता हुआ भी, सघ की आज्ञा-भग के भय से वैसा नही कर सका । कौन बेमतलब अपने घर मे विपत्ति को बुलाए ? बहुत से परिचित लोग दृष्टि मिलाकर भिक्षु को देखते हुए भी सरमाते थे । तत्व के अजानकार कुछ लोगो ने वापिस वही जाने की बल-पूर्वक प्रेरणा की ? परन्तु वीरो के अग्रणी भिक्षु ने नाग के समान परित्यक्त कञ्चुक को पुन स्वीकार करना बिल्कुल नही चाहा ।

"क्या चिन्ता है यदि ठहरने को यहाँ स्थान नही मिलता तो, हमारे चारो तरफ स्थान देने वाले बहुत से गाँव है"—यह भिक्षु ने निर्भय होकर कहा । अभी अन्यत्र विहार करे । यह कहकर भिक्षु स्वामी साधुओ के साथ विहार के लिए नगर से बाहर आये ।

श्रीभिक्षोर्गमनमसहमानेव प्रकृतिस्तत्काल करीपकपया वात्या गच्छन्त भिक्षुराज बलादवरुरोध। उत्कलिक-माण्डलिक-वातोत्थापितया धूल्या दिग्विभागा 'ववसिरे। शङ्कु-सकाशा बदर्या, बबूलस्य च कण्टका महामहिम्नोऽस्य विहार रुरोधित्सव' इव पथि तिर्यक् पतिता।

'वाति महावाते न विहर्तव्य मुनिभि' इति दैपेयो वहिर्विहारचेष्टा शिथिलीचकार। द्रव्यभावभेदभिन्नमग्रत पृष्टतश्च प्रतिकूल वातावरण लक्षीकृत्य क्व स्थेयमिति चिन्तयता भिक्षुणा न्यभालि स्वर्गीय—'जयन्तसिहस्य' शवदाहोपरिनिर्मित श्लक्ष्णपाषाणघटित विशाल छत्राकारमनवरोध विगतविरोध स्थानम्। हरिरिव निर्भीको धृतोत्साहो भिक्षु [3] समुनि 'श्मशानेऽप्येकदा' इत्याप्तोक्ति चरितार्थयन्निव तस्या श्मशानच्छत्रिकाया सुखमुवास।

नगरपरिसरे 'जयन्तसिह' च्छत्रिकाया तस्थिवास भिक्षु निशम्य द्रव्याचार्या भूरिनागरिकै सह तत्र समाजग्मु। प्रत्यागमयितु स्वशिष्य सहार्दमुवाच—"भिक्षो! मा गण मुक्त्वा बहिर्गम, मा कृथा साहसिक कृत्य, वृथा गणभेद च। विभावय, सम्प्रति दुषम काल, तत्प्रभावत स्पष्टा सहननहानिस्ततो बलवीर्यादीना च हानि। तथैव ज्ञान-दर्शन-विशिष्ट-लब्ध्यादीना हानिस्तत्र न कथ सभवति चारित्रस्यापि हानिरतो दुराग्रह त्यज। नहि विशुद्ध सयममाराधयितुमर्हो भविष्यसि कलिकालेऽस्मिन्। वण्ठजनोचितेन किमहितकारिहठेन? कल्पनाया ससारो यादृगस्ति सुन्दरो न खलु तादृशो नयनगोचर। भिन्नत्वे भिन्नत्वमेव विद्यते। भिन्नत्वमाप्तो जलविन्दु किमु सिन्धुसाम्य सेवते? अद्यावधि न विकृत किमपि,

---

१. 'वसक् आच्छादने इत्यस्य णवादौ रूपम्। २. रोद्धुमिच्छव ३ मुनिभि सह समुनि, अव्ययीभाव समास।

श्री भिक्षु का गमन नही सहन करती हुई मानो प्रकृति ने भीपण तूफान लाकर जाते हुए भिक्षु को वलपूर्वक रोक लिया। उत्कलिक माण्डलिक वायु से उठी धूल ने सव दिशाओ को ढक दिया। कीलो के समान वदरी (वोरडी) और ववूल के काटे इस महिमाशाली का मानो विहार रोकने के लिए ही मार्ग मे विखर गए।

'तूफान चलते हुए मुनियो को विहार नही करना चाहिए' इस नियम के अनुसार भिक्षु ने विहार की चेप्टा शिथिल कर दी। द्रव्य और भाव से आगे और पीछे प्रतिकूल वातावरण देखकर कहाँ ठहरना चाहिए, ऐसा विचार करते हुए भिक्षु को स्वर्गीय जयसिंह जी के शव-दाह पर चिकने पत्थरो से निर्मित-छत्राकार वनी हुई विशाल छतरी निर्विघ्न लगो। सिंह के समान निर्भय उत्साहवान भिक्षु "श्मशान मे भी एकवार" इस आप्त उक्ति को चरितार्थ करते हुए मुनियो के साथ उस श्मशान छत्रिका मे सुख-पूर्वक ठहरे।

नगर की सीमा पर जयसिंहजी की 'छतरी' मे भिक्षु ठहरे है यह सुन कर द्रव्य आचार्य वहुत से नागरिको के साथ वहाँ आये। वापिस चलने के लिए अपने शिप्य को सौहार्द-पूर्वक कहा—भिक्षु! गण को छोडकर वाहर मत जाओ। दु साहस का कार्य और व्यर्थ ही गणभेद मत करो। सोचो, अभी दु.पम काल है। उसके प्रभाव से स्पष्ट ही सहनन की हानि है, उससे वलवीर्य आदि का ह्रास है। वैसे ही ज्ञान-दर्शन विशिष्ट लब्धि आदि की भी हानि है। वहा चरित्र की हानि भी कैसे सभव नही है? इसलिए दुराग्रह को छोडो। इस कलिकाल मे विशुद्ध सयम पालन के लिए समर्थ नही हो सकोगे। मूर्ख-जनोचित अहितकारी हठ से क्या प्रयोजन? कल्पना का ससार जितना सुन्दर दिखाई पडता है वास्तविक वैसा नही होता। भिन्नत्व मे भिन्नत्व ही है। भिन्न (अलग) हुआ जल विन्दु क्या सिंधु की समता कर सकता है? अभी

यज्जात तज्जातम् ! प्रत्यावलस्व गुरुकथनात्पुनरुपाश्रयम् । मा स्था निराश्रयीभूय प्रेतपति-भूमिकायाम् [1] । पश्य, सर्वेऽप्येतेऽस्माक परम-भक्ता श्रावकास्त्वां विरहकातरया दृशा निभालयन्ति, प्रतिपालयन्ति च यत्र तत्र स्थिताः पुन. प्रत्यावर्तमान द्रष्टुम् ।"

मधुलिप्तखड्गधारातुल्यया ऽऽपातमधुरयाऽनया गुरो. प्रेरणया-ऽनान्दोलितमतिर्यतिशार्दूलो भिक्षुर्युक्तियुक्तया वाचा तदाग्रह निग्रहयामास—"आचार्या ! कथ. युष्माक कथनं प्रत्येमि यत्स्पष्ट शास्त्रे विलोकित 'चलिष्यति नून साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप तीर्थ पञ्चमारपर्यन्तमिति' । कथमात्मीय दौर्बल्यं दुःषमकाल-पिधानेन पिधातु प्रयत्यते युष्माभि· । मन्ये, कालप्रभावतो निश्चिता ज़ाता सहननादीना हानि·, परन्त्वस्य नेद तात्पर्यं यज्जानन्तोऽपि वय दोषान् सेवामहे, तान् कालदोषतो गौणीकृत्य स्वान् निर्दोषान् व्याकुर्महे । न कि सन्त्यमून्येव लक्षणानि शास्त्रवर्णितताना पार्श्व-स्थानामुत्सन्नाना, कुशीलाना च ।

सुस्पष्ट भिक्षु-प्रत्युत्तरतो जातनिराशाना गुरूणा शिष्यविरह-धूमाकुले नेत्रे कमप्युपायमलभमाने बाष्पपूर्णेऽजनिपाताम् । हा ! कि जातमिदमिति भ्रान्त्याऽऽलिङ्गितं मन. किमपि चेतयितुमक्षमताम-ऽन्वभवत् । गणभेद-व्यथा-गद्गदा वाणी निरक्षरा बभूव ।

दयनीयाऽवस्थमस्वस्थ रघुमाचार्यं विलोक्य केनचिच्छ्यामर्षि-शिष्येणोदयभानुनोट्टङ्कितम्—"चित्रम् ! एकस्य महत्सप्रदायस्य स्वामित्वमासेवमाना यूय कथ कतिपयशिष्याणा कृते बाष्पपूर्ण-लोचना सजाता ? अहह ! बहिर्भावमाभेजाना अपि नैते ग्लायन्ति, कि नु म्लायन्ति श्रीमन्तो भूयिष्ठ-साधुसन्दोह-परिवृताः ?

---

१ श्मशानभूमिकायाम् ।

तक कुछ नहीं बिगड़ा, जो हुआ सो हुआ। गुरु के कथन से वापिस उपाश्रय में चलो। निराश्रय होकर श्मशान-भूमि में मत ठहरो। देखो, ये सब अपने परमभक्त श्रावक तुम्हे विरह-कातर दृष्टि से देखते है और जहाँ-तहाँ ठहरे हुए पुनरागमन को देखने के इच्छुक है। मधुलिप्त खड्गधारा के समान प्रारम्भ मे मधुर दीखने वाली गुरु की इस प्रेरणा से अकम्पित बुद्धि वाले साधुओ मे शार्दूल के तुल्य भिक्षु ने युक्ति-युक्त वाणी से उनके आग्रह को निगृहीत किया—"आचार्यवर! मैं कैसे आपके कथन का विश्वास करू ? क्योंकि शास्त्रो मे साफ देखा है कि साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ पचम आरक के अन्त तक चलेगा। आत्म-दुर्बलता के कारण दुषमकाल के ढक्कन से ढकने का आप क्यो प्रयत्न करते है ? काल प्रभाव से निश्चित ही सहनन आदि की हानि हुई हैं, इसे मैं मानता हूँ, परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि जानते हुए भी हम दोषो का सेवन करे। उन्हे काल-दोष के बहाने गौण करके अपने को निर्दोष घोषित करे। क्या ये ही शास्त्रो मे वर्णित पार्श्वस्थ, उत्सन्न और कुशीलो के लक्षण नही है ?"

भिक्षु के सुस्पष्ट प्रत्युत्तर से निराश गुरु के शिष्य के विरह रूप धूम से व्याकुल आखें कोई भी उपाय न पाकर आसुओ से परिपूर्ण हो गई। हा! यह क्या हो गया ? यो भ्रान्ति से विमूढ मन कुछ भी सोचने के लिए असमर्थ हो गया। गण-भेद की व्यथा से गद्गद् वाणी मौन हो गई।

रघु आचार्य को अस्वस्थ और दयनीय दशा मे देखकर उदयभानु नामक श्यामजी ऋषि के शिष्य ने कहा—आश्चर्य है, एक महान् सम्प्रदाय के स्वामी होकर कुछ शिष्यो के लिए आपने आँखे आसुओ से कैसे भर ली ? अहो! बाहर निकलने वाले भी ये खिन्न नही होते ? आप बहुत से साधुओ से परिवेष्टित कैसे म्लानमुख हो गये ?

गणभङ्गक्लेशविधुरेण भग्नस्वर द्रव्यगुरुणोदतारि—"एको यथाजातोऽपि शिष्यो यदि सेवासुखस्वप्नायित गुरु त्यजति, भजति च पार्थक्यमविनयितया, तदपि खिद्यते गुरोर्मन, मम तु पञ्च पञ्च शिष्यसत्तमा. पार्थक्यमर्थयन्ते, न कथ वज्रदृढमपि हृदय द्वैधमाद्रियते भो! अनया पद्धत्या यद्येकैकश इष्टिका भित्ति जह्यु स्तदा कियत्काल श्रेष्ठमपि सदन स्थेष्ठ[2] स्यात्। गुरूणा प्रेमार्द्रवाक्येन सर्वमपि वातावरणमार्द्रमिव स्नेहसिक्तमिव जानम्, परन्तु विलसत्सात्त्विकप्रेम्णा दैपेयेन व्यचिन्ति—स्मरामि, यदाह गृहमत्याक्ष तदा मे वात्सल्यपूर्णा माता करुण पर्यदेविष्ट[3]। कास्कान् चिरागास्निग्धान् विलापानुज्जगौ। ते सर्वेऽप्युपेक्षिता मयाऽऽत्मकल्याणैकदृष्टचा। साम्प्रत गुरूणा परिणामभीषणे स्नेहपाशे पतेय चेद् नूनमेषा परिदेवनमिद दुर्गतौ मम भूरि परिदेवनकारण भावि। सत्यम्, प्रतिकूलपरीषहेणापि सुदुःषहोऽनुकूलपरीषह। प्रतिकूले दार्ढ्य भजमाना अपीतरत्र चञ्चलचेतसो जायन्ते, परन्तु वीरवरिष्ठ भिक्षु नहि परिदेवनपरा पटुता मायाजाले पातयितु चक्षमे।

अमोघ मत्वा क्षिप्तमपि प्रथममस्त्रमकिञ्चत्कर पश्यद्भिर्गुरुभि पुनर्द्वितीय तीक्ष्णतरमस्त्र प्रायुङ्क्त—"भिक्षो! क्व यास्यसि? याहि, अग्रे त्वम्, पश्चादहम्, विधास्ये भूरिशो लोकान् तव पृष्टत यथा त्वमुपर्युपरिजायमानैर्नानाविधै कष्टैर्व्यग्रीभूय तटाऽदर्शि-शकुन्त-पोतन्यायात् पुनर्मामेवाऽनुसरिष्यसि। अतस्त्यज मानम्, साम्प्रतमहमनुरुणध्मि पश्चादागन्तुम्, पश्चात्त्व मच्छरणमङ्गीकर्तुं प्रयतिष्यसे।"

प्रत्युत्पन्नमति श्रीभिक्षु: प्रतिकूलार्थ वाक्यमनुकूलयन् सहर्ष जगाद—"घृतेन स्नातु श्रीमता जिह्वा, मोदकपूरित च भवतु भवता

---

१ मूढ। २ स्थास्नु। ३. रोदनमकार्षीत्।

गण-भग के क्लेश से व्यथित द्रव्य गुरु ने टूटते हुए स्वर मे उत्तर दिया—एक मूर्ख शिष्य भी यदि सेवा सुख का स्वप्न देखने वाले गुरु को छोडता है और अविनीतता से अलग होता है तो भी गुरु का मन खिन्न होता है, अरे! मेरे तो पाच-पाँच उत्तम शिष्य पृथक होते है। वज्र के समान कठोर हृदय भी क्या नही टूट जाता? इस पद्धति मे यदि एक-एक ईट दीवार को छोडती रहे तो श्रेष्ठ मकान भी कितने समय तक टिक सकता है? गुरु के प्रेम मे भीगे वाक्य मे समग्र वातावरण स्नेह सिक्त-सा हो गया परन्तु सात्विक प्रेम वाले भिक्षु ने सोचा— याद है, जब मैंने घर छोडा था तब वात्सल्य-पूर्ण मेरी मा ने भी करुण रुदन किया था। किन-किन चिर आशा स्निग्ध विलापो को उगला था। एक आत्म-कल्याण की दृष्टि से उन सब की भी मैंने उपेक्षा कर दी थी। अब गुरु के स्नेह-पाश मे, जिसका परिणाम भयकर है, अगर पडू तो निश्चित ही इनका यह रुदन दुर्गति मे मेरे बहुत-बहुत रुदन का कारण बनेगा। सत्य ही प्रतिकूल परीपह से भी अनुकूल परीपह दु सह होता है। प्रतिकूलता मे दृढता रखने वाले भी अनुकूलता मे चचल चित्त वाले हो जाते है, किन्तु वीरो मे वरिष्ठ भिक्षु को विलाप भरी चतुराई माया-जाल मे बाधने के लिए समर्थ नही हुई।

अमोघ मानकर फेंका गया भी प्रथम अस्त्र निरर्थक देखकर गुरु ने फिर दूसरे तीक्ष्णतर अस्त्र का प्रयोग किया। भिक्षो! तुम कहाँ जाओगे? चलो, आगे तुम पीछे मैं। मैं तुम्हारे पीछे बहुत-से लोगो को लगा दू गा। जिससे कि तुम ऊपर से ऊपर होने वाले तरह-तरह के कष्टो से व्याकुल होकर तट नही देखने वाले पक्षी के बच्चे की भांति उसी जहाज की ज्यो वापिस मेरा ही अनुसरण करोगे। इसलिए मान को छोडो। अभी मैं पुनरागमन के लिए अनुरोध करता हूँ, फिर तुम मेरी शरण पाने के लिए प्रयास करोगे।

प्रत्युत्पन्नमति श्री भिक्षु ने प्रतिकूल अर्थ वाले वाक्य को अनुकूल लेते हुए सहर्ष कहा—"आपकी जिह्वा घी से स्नान करे, और आपका मुख मोदको से

मुखम् । स्वीकरोमि पुन शुभशकुनायितमिदमाशीर्वचनम् 'यदग्रतोऽह पृष्टतो भवान्' सद्धर्मप्ररूपणयाऽहमग्रगामी भावीति नाश्चर्यम्, आचार-शैथिल्याद् द्रव्यगुरूणा पृष्टतो गमनमपि सम्भावनीयम् । पुनर्लोका मम पृष्टगामिनस्तदैव भाविनो यदा मम सत्यप्रिय: सिद्धान्त. प्रसारमाप्स्यति ।

पुन न भयम्, भवतु किमपि, नाह कथमपि सत्य विसिसृक्षु-[1] रस्मि प्राणपणेनापि । कियज्जीवितम् । स्वोपकार: प्राथमिक:, द्वैतीयीक परोपकार । कुर्वन्तुतमा भवन्तो यदृच्छया नाह विचलितो भविष्यामि स्वसत्यविचारधारात. ।

सर्वमपि कृत प्रयत्न 'भस्मनि हुत' मन्वाना द्रव्यगुरवो निराशी-भूय पुन स्वस्थानमागु ।

प्रभु-ध्यानपरेण श्रीभिक्षुणा सुखमभिनिष्क्रमणस्य प्रथमा तमस्विन्यपि सदालोकमयी श्मशानच्छत्रिकाया व्यत्यगायि । प्रातस्ततो ऽन्यत्र विजहार साधुभि सार्धम् ।

तस्कराणा पृष्टत स्थानाध्यक्षेण गन्तव्यमित्यहभावनया गुरुणाऽनुभिक्षु गमनमकारि । प्रतिग्रामं श्रावकानेकत्रीकृत्य "निह्नवोऽय[2] भिक्षु" इति सबोध्य स्थानान्नपानादिदानाय प्रत्याख्याप्य, सङ्घाजाया विभीषिका चोत्पाद्य भृश कृच्छ्रयामास । परन्तु सर्वसहो भिक्षु सम्मुखीनान् क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-शय्यादि-परीषहान् सम तितिक्षाञ्चक्रे । एते विपक्षा मम सहजतया कलुष-निर्जराकारणता लभन्तेऽत. कथ न सम्मान्या. ? अवेतनिक ममा-ऽमल मृजन्तीति[3] कथ नोपकारिण. ? स्वत एव मा विख्यातनामान विदधत कथ नैते सज्जनशेखरा ! स्वसञ्चित-पुण्यव्ययेन मम पुण्यवृद्धि कर्तुं चेष्टमाना कथ न महामनस ? पारवश्येन तु

---

१ विस्रष्टुमिच्छु. । २ तत्व-विपरीत निह्नव कथ्यते । ३ शोधयन्ति ।

भरे और मै शुभ-शकुन के रूप मे इसे आशीर्वाद वचन मानकर स्वीकार करता हूँ कि 'आगे मैं, पीछे आप, सद्धर्म प्ररूपणा मे मैं अग्रगामी बनूगा इसमे आश्चर्य नही। आचार-शैथिल्य के कारण द्रव्य गुरु का पीछे गमन भी सभव है और फिर लोक मेरे पीछे तभी लगेगे जब मेरा सत्य-प्रिय सिद्धान्त प्रसार पाएगा।"

कुछ भी हो, मुझे कोई भय नही। मै किसी भी प्रकार प्राणो का उत्सर्ग करके भी सत्य को नही छोडूगा। कितना जीना है ? प्रथम स्वोपकार और दूसरे पद पर परोपकार है। आप अपनी मर्जी से कुछ भी करे मैं अपनी (सत्य) विचारधारा से विचलित नही होऊगा।

सब ही किया प्रयत्न राख मे यज्ञ के समान मानते हुए द्रव्य गुरु निराश होकर वापिस अपने स्थान पर आ गए।

श्मशान की 'छतरी' मे भगवान के ध्यान मे तल्लीन श्री भिक्षु ने अभिनिष्क्रमण की अधकारमयी प्रथमरात्रि को भी उद्योतमयी बनाकर सुख-पूर्वक व्यतीत की। प्रात वहाँ से साधुओ के साथ अन्यत्र विहार किया।

चोरो के पीछे स्थानाध्यक्ष (थानेदार) को जाना चाहिए, इसी अहभावना से गुरु ने भिक्षु का पीछा किया। प्रत्येक ग्राम मे श्रावको को एकत्रित करके "यह भिक्षु निह्नव है" ऐसा समझाकर स्थान, अन्न, पान आदि नही देने का प्रत्याख्यान कराके और सघ-आज्ञा की विभीषिका दिखाकर बहुत उत्पात मचाया। परन्तु सहिष्णु भिक्षु ने सम्मुखीन क्षुधा, पिपासा, शीत-उष्ण और शैया आदि के परीषहो को समभाव पूर्वक सहन किया। ये विपक्षी सहज मेरे कर्म निर्जरा के कारण बनते है। इसलिए क्यो नही वे सम्मान्य है ? अवैतनिक रूप से मेरे आत्म-मल का परिमार्जन करते है इसलिए कैसे उपकारी नही है ? स्वत ही मुझे प्रख्यात करते हुए ये क्यो नही सज्जन-शिरोमणि है ? अपने सचित पुण्य व्यय से मेरी पुण्य-वृद्धि करने के लिए प्रयत्नशील ये क्यो नही महामना हैं ? यहाँ प्राणी परवशता से तो महान

महाकृच्छ्राण्यपि सह्यन्तेऽत्र देहिभि, परन्तु निराकुलतया स्वातन्त्र्येण सहन तु महानिर्जरा-महापर्यवसान-कारणमित्यागममतम् । अहो ' जिनकल्पिकास्तूदीर्य घोरकष्टानि सम्मुखयन्ति, मम तु परैरुदीर्णानि सुसहानि कानिचित्कष्टानि सन्त्यभिमुखानि, तानि सम्यक् सहित्वा स्वमार्गपुरस्सरो भवामि, ददामि चात्मबलस्य सुन्दरा परीक्षाम् । इत्थ दृढभावनया दम्भोलिहृदयो' दैपेयो 'वरलु' ग्राममाजगाम । अनुगच्छन्तो द्रव्याचार्या अप्यागतवन्तः । तत्रापि श्रीभिक्षु पुन प्रत्यावलयितु प्रयेतिरे—'शिष्य ! अतिबलादाकृष्टा रज्जुर्जातु द्वैधमाप्नोति । नास्मिन् कलौ पूर्ण साधुत्व पालयितु .वयम् । किमाहोपुरुषिकया कलिकाललीलामवहेलयसि ? त्रिकोटिविशुद्ध साधुत्व चेद् घटिकाद्वयमितमपि पाल्येत तर्हि न कि केवलज्ञानावाप्ति स्यात् ? नहि षष्ठगुणस्थानस्थस्य त्रयोदश-गुणस्थानकथा मुखमण्डनतामेति । नहि सहस्राशुकथया शार्वरीय[2] तमो विनश्यति ।"

अचारुविचारचुम्बित गुरुकथन युक्त्याऽपास्यन् श्रीभिक्षुराह—"गुरव ! परमविशुद्धेन घटिका—द्वयसाधुत्वेन चेत् कैवल्यावाप्तिस्तर्हि घटिकाद्वय त्वह श्वासोच्छ्वासान् निरुध्यापि तिष्ठेयम् । प्रभवशय्यम्भवादिभि श्रीवर्धमानपट्टधारिभि न किं पालित घटिकाद्वयमपि शुद्ध चारित्र यत्तैर्नावापि केवलज्ञानम् ! चतुर्दश-सहस्रसख्याकेषु देवार्यशिष्येषु महर्षीणा केवला सप्तशती केवलिनी जज्ञे, इतरे त्रयोदशसहस्रत्रिशतसख्याका छद्मस्था मुनय. किं न सिषेविरे मुहूर्त्तमात्रमपि निर्मल सयमम् ! अलमन्येषा कथया वा, श्रीचरमजिनेश्वरा वर्धमानस्वामिनोऽपि द्वादशवर्षत्रयोदशपक्षपर्यन्त नाऽलभन्त पञ्चम ज्ञानम्, तेऽपि किं छद्मस्थ्ये नहि घटिकाद्वय यावदखण्ड चारित्रमाराधितवन्त. ।

---

१ वज्र-हृदय । २ शर्वर्या भव शार्वरीयम्-नैशमित्यर्थ. ।

कष्टो को सहते हैं, परन्तु स्व-वशता मे निराकुलता से सहना महानिर्जरा-महा पर्यवमान का कारण है यह आगम का अभिमत है। अहो ! जिन कल्पिक तो उदीरणा करके घोर कष्टो को सम्मुख ले लेते हैं। मेरे तो दूसरो के द्वारा उदीर्ण सुसह कुछ ही कष्ट सामने है। उनको अच्छी तरह से सहकर अपने मार्ग मे अग्रसर बनू और आत्मबल की सुन्दर परीक्षा दू। इस तरह की दृढ भावना से वज्र-हृदय भिक्षु 'बरलू' ग्राम मे आये। अनुगमन करते हुए द्रव्याचार्य भी वही आ पहुँचे। वहा भी श्री भिक्षु को वापिस आने के लिए प्रयत्न किया—"शिष्य ! अति हठ मत करो, अधिक खीचने से डोरा टूट जाती है। इस कलियुग मे पूर्ण साधुत्व नही पाला जा सकता। अपने घमण्ड मे क्यो व्यर्थ कलिकाल की अवहेलना करते हो ? त्रिकोटी-विशुद्ध साधुत्व अगर दो घडी भी पल जाए तो क्या केवलज्ञान की प्राप्ति नही हो जाए ? छट्ठे गुणस्थान मे रहने वाले के मुख से तेरहवे गुणस्थान की कथा शोभित नही होती। सूर्य की कथा करने मे रात्रि का अधकार विनष्ट नही हो जाता।"

भ्रान्त विचारो से भरे गुरु के कथन का युक्ति से खडन करते हुए श्रीभिक्षु ने कहा—"गुरुवर ! दो घडी के परम विशुद्ध साधुत्व से यदि केवल-ज्ञान की प्राप्ति होती हो तो दो घडी तक तो मैं श्वासोच्छ्वास रोककर भी रह सकता हूँ। श्री वर्धमान के पट्टधर प्रभव, शय्यम्भव आदि ने क्या दो घडी तक भी शुद्ध चारित्र नही पाला, जो उन्होने कैवल्य नही पाया ? भगवान महावीर के चौदह हजार शिष्यो मे केवल सात सौ महर्षि ही केवल ज्ञानी बने, तो क्या दूसरे तेरह हजार तीन सौ छद्मस्थ मुनियो ने मुहूर्तमात्र भी निर्मल सयम नही पाला ? दूसरो की बात रहने दे, श्री चरम जिनेश्वर वर्धमान स्वामी ने भी बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक पचम ज्ञान नही पाया, क्या उन्होने भी छद्मस्थ अवस्था मे दो घडी भी अखड चारित्र की आराधना नही की ?

नैवम्, न भवन्ति यावद् घनघात्यानि कर्माणि समूलनाशं नष्टानि तावन्नाप्यतेऽतिनिर्मलं चारित्रं पालयद्भिरपि केवलम्। स्वदौर्बल्यं पिधातुमित्थमसंबद्धप्ररूपणयाऽलम्। नाहं जानानोऽक्षिनिमीलनं करिष्ये। भवद्भ्यो यद् रोचते तत् कर्त्तव्यम्। हरिरिव वनान्यङ्गी-कृत्य हरिरिव पालयिष्यामि सोपयोगम्।

निश्छद्मां नैयायिकीं भिक्षोर्गिरं निशम्य निरुत्तरीभूय गुरवो मौनमालम्बिरे, मिथ्याभिनिवेश-वशंवदा यथाकथञ्चित् श्रीभिक्षो-र्विरोधं कर्त्तुं च निश्चिक्यिरे।

इति श्री चन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये
महाकाव्ये गद्यप्रबन्धे पञ्चदश समुच्छ्वासः

नही ऐसा नही है, जब तक घनघाती कर्म समूल नष्ट नही होते है तब तक अति निर्मल चारित्र पालने वालो को भी केवलज्ञान नही प्राप्त होता। अपनी दुर्बलता को ढकने के लिए इस तरह असगत प्ररूपणा करने से क्या प्रयोजन ? मै जानता हुआ अपनी आखे नही मूंदूंगा। आपको रुचे वह कर सकते है। सिह-वृत्ति मे लिये गए व्रतो को उपयोग सहित सिह-वृत्ति से ही पालूंगा।

भिक्षु की निश्छल न्याय युक्त वाणी सुनकर निरुत्तर होकर गुरु ने मौन धारण कर लिया। मिथ्या आग्रह के वश जैसे-तैसे भिक्षु का विरोध करने का निश्चय किया।

पन्द्रहवा समुच्छ्वास समाप्त

षोडशः समुच्छ्वासः | ★

किं कर्त्तुमेकेन शक्यते शक्तिशालिनापि सेनापतिना विना तरस्विनी पृतनाम्[1] सहस्रसंख्याकै किरणैरेव सूर्य सहस्रांशुसंज्ञया जेगीयते, अन्यथा स एव किं न तारककोटीमधिरोहति ? एकत्वमापन्ना भूरयो जना सङ्घसंज्ञा लभन्ते। प्रादुर्भूता स्यात् स्थिरा शक्ति स्वत एव सङ्घे। न किमैक्यमापेदानै सूक्ष्मशुम्बैरेव सम्पाद्यते करिभिरपिदुस्त्रोटनीया रज्जु। किमन्यै ? समुदितैस्तृणैरेव जन्यते सर्वगृहकश्मलहरी प्रतिगृह सम्माननीया वहुकरी[2]। एकस्त्वेक एव, द्वो समतया मिलितौ लभेते एकादश-संख्याम्।

न मिलन्ति नून प्रबलपुण्योपचयमन्तरेण पुत्रा शिष्याश्च लसत्सल्लक्षणा, आज्ञाधीना, प्रवीणाः, सेवाहेवाकिनश्च। किं तैर्बहुभिरपि पुत्रै शिष्यैश्च यैर्नाह्लादकारिभिर्भूयते गुरुचरणानाम्।

यदासीद् भिक्षुस्वामी द्रव्यदीक्षाया रघूणा शिष्यभावमङ्गीकुर्वाण., तत्र तेनापि स्व-स्व शिष्यकरणप्रथया प्रेरितेन कृष्णजिद्-भारमल-नामानौ पितृपुत्रौ शिष्यत्वेनोरीकृतौ। दशवर्षीयो बालोऽपि भारीमाल सरलप्रकृतिरासीत्, किन्तु कृष्णाख्य पिता हितमसहमानश्चण्डप्रकृतिरनुभूत। यदा श्रीभिक्षुर्द्रव्यगुरुतो भिन्नत्वमाभेजे

१ सेनाम्। २. बुहारी, इतिभाषा।

★ सोलहवां समुच्छ्वास

विना पराक्रम वाली सेना के अकेला शक्तिशाली सेनापति भी क्या कर सकता है ? हजारो किरणो के कारण ही सूर्य सहस्राशु कहलाता है, अन्यथा वह भी क्या तारो की गिनती मे नही आ जाए ? एकत्व प्राप्त बहुत से जन, सघ-सज्ञा को पाते है। सघ मे स्वत ही स्थिर-शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। क्या ऐक्य प्राप्त सूक्ष्म धागो से ही, जिसको हाथी भी न तोड सके ऐसा रस्सा बनता है ? दूसरो का क्या ? इकट्ठे हुए तृणो से ही सब घर का कचरा साफ करने वाली और प्रतिगृह मे सम्मान पाने वाली बुहारी का जन्म होता है। एक तो एक ही है, दो समान स्थिति को पाकर ग्यारह बन जाते हैं।

निश्चित ही प्रबल-पुण्य के सचय विना लक्षणवान, आज्ञाकारी, प्रवीण और सेवाभावी पुत्र या शिष्य नही मिलते। उन बहुत से पुत्रो या शिष्यो से क्या लाभ जो गुरुजनो के मन को आह्लादित करने वाले नही होते।

जब भिक्षु स्वामी द्रव्य-दीक्षा मे आचार्य रघुनाथ जी के शिष्य थे, वहाँ उन्होने अपना-अपना शिष्य बनाने की प्रथा से प्रेरित होकर कृष्ण जी—भारमल्ल नाम के पिता पुत्र को शिष्य रूप मे स्वीकृत किया था। भारीमल दश वर्ष का बालक होता हुआ भी सरल प्रकृति का था, किन्तु पिता किसनोजी हित-शिक्षा नही सहने वाले चण्ड-प्रकृति के थे। जब श्री भिक्षु स्वामी द्रव्य

तदा तावपि वर्षचतुष्टयं तत्र स्थित्वा स्वदीक्षागुरुणा सार्धमेव पृथक्त्वमुररीचक्रतु । पृथक्भूतेन दीपाङ्गजेन निर्व्याज लघुशिष्य-मभिमुखीकुर्वाणेनाऽभाणि—"भो शिष्य ! अस्ति तव पिता तिन्तन-स्वभाव[1] उच्चैर्जल्पकोऽत्यन्तकोपन किञ्चिदनभिलषिते जाते भोगीव फूत्कारभीषणश्च । जानासि त्व साम्प्रत वयमेकस्मान्महत: सप्रदायाद् भिन्नत्वमापन्ना । नास्माकमधुना केऽप्यनुयायिन , सहाया., पृष्टपूरकाश्च । त्यक्ता द्रव्यगुरवो यथाशक्य प्रवलतम विरोध-मुद्भावयिष्यन्तीति नारेक । गाढविरोधान्धकारेणाऽन्धीभूता जना अस्मानुपद्रोष्यन्ते प्रतिग्राम स्वैरितया[2] । धूनाऽनर्गलप्रणालिभि-र्गालिभि भृश निरस्करिष्यन्ते घृणितया पद्धत्या । स्थानाहार-पानीयादीनामतीव काठिन्यमनुभविष्याम. प्रतिक्षेत्रम् । इतरेऽप्यनेके प्रतिकूला परीषहा. समुत्पत्स्यन्तेतमा प्रतिपदम् । तत्रोग्रप्रकृते[3] तव पितु कथ निर्वाहो भावीति साशङ्कं मे मन. । ततो नाह भाविन्या-मग्निपरीक्षायामनुत्तीर्णप्राय ते पितर रक्षितुमिच्छामि मदाज्ञाधीने साधुसमुदाये । त्व कि मत्सामीप्य समीहसेऽथवा ते पितुस्तद् गम्भीर विचिन्त्य स्वेच्छया निर्णय[4] । यत स ते ससारपक्षीय पूज्य पिता, यदि तत्र जिगमिषसि, तर्हि यथासुख गच्छ । मामेव चेत् कल्याण-कारण मन्यसे, तर्हि तादृश निश्चिनु । मत्पक्षतो[5] भवेरिति नाल्पोऽपि ममाग्रह । एव्यत्काल सम्यगाकलय्य मार्गद्वये शुभोदर्कमेक पन्थान-माद्रियस्व ।"

स्पष्टा निरवद्यामपक्षग्राहिणी श्रीभिक्षोरुक्ति निशम्य निर्भरभ-क्त्यैकरस-रसालो भारीमालो नि सकोच निवेदयामास—"भगवन् ! गार्हस्थ्यपक्षतो निश्चित पूज्या मे पितर । किन्तु पितृभि. सार्धमह भवता चरणसरोजे[5] स्वमुपायनीचकार, ततस्तेभ्योऽपि मे भवता

---

१ चिडचिडे स्वभाव वाला, इतिभाषा । २ स्वेच्छया । ३ उग्रस्वभावस्य । ४ निर्णय कुरु । ५ 'व्याश्रये तसु' इति तसुप्रत्यय., मत्पक्षग्राहीत्यर्थ. ।

गुरु से अलग हुए तव वे दोनो भी चार वर्ष वहा रहकर अपने दीक्षा गुरु के साथ ही पृथक हो गये , पृथक होने के वाद श्री भिक्षु स्वामी ने निश्छल भाव से अपने छोटे शिष्य को अभिमुख करके कहा—"ओ शिष्य ! तुम्हारा पिता तनतनाट करने वाला जोर मे वोलने वाला, अत्यन्त क्रोधी और थोडा भी अनचाहा होने पर साँप की तरह भीपण फुफकार करने वाला है । तुम जानते हो, अव हम एक महान सम्प्रदाय से पृथक हो गये है । अभी हमारे कोई भी अनुयायी, सहायक और पृष्ठ-पोपक नही है । जिनसे पृथक हुए है वे द्रव्य गुरु यथाशक्य प्रवलतम विरोध करेंगे, इसमे कोई सशय नही है । प्रचण्ड विरोध के अन्धकार से अन्धे हुए मनुष्य हर ग्राम मे हमारे साथ मनमाना उपद्रव करेंगे । अनर्गल गालियो से घृणा पूर्वक वहुत तिरस्कार करेंगे । प्रत्येक क्षेत्र मे स्थान, आहार, पानी आदि की वडी कठिनाई सहन करनी पडेगी । हर कदम पर दूसरे भी अनेक प्रतिकूल परिपह पैदा होंगे । वहा उग्र प्रकृति के तुम्हारे पिता का कैसे निर्वाह होगा ? इस विपय मे मेरा मन वडा सदिग्ध है । इस कारण भावी अग्नि-परीक्षा मे अनुत्तीर्ण प्राय तुम्हारे पिता को अपने आज्ञाधीन साधु-समुदाय मे नही रखना चाहता । तुम मेरे साथ रहना चाहोगे अथवा अपने पिता के साथ इसका गभीर चिन्तन करके अपनी इच्छानुसार निर्णय लो, क्योंकि वे तुम्हारे संसार-पक्षीय पिता है, यदि वहा जाना चाहो तो सुख पूर्वक वहा जा सकते हो ! अगर मेरे साथ रहना है तो वैसा निश्चय करलो । मेरी ओर से इस विपय मे थोडा भी आग्रह नही है । अपने भविष्य का सम्यक् चिन्तन करके दो मार्गो मे से शुभ फल वाले एक पथ को स्वीकार करो ।"

श्री भिक्षु की स्पष्ट निरवद्य और पक्षपात रहित वाणी सुनकर निर्भर भक्ति-रस से प्लावित 'भारीमाल' ने नि सकोच निवेदन किया "भगवन् ! ससार पक्ष से निश्चित मेरे पिता पूज्य है, किन्तु पिताजी के साथ मैंने अपने आपको आपके चरणो मे भेट कर दिया । इस कारण उनसे भी वढकर मेरा

---

६. स्वम्-आत्मान उपदीचकार ।

सबन्धो दृढता जगाम। पुनरात्मकल्याणाय दीक्षामग्राहिषमहम्। यत्र मे कल्याण समुज्जृम्भते तत्रैव मया निर्भीतिन मनसा स्थातव्यम्। साम्प्रत धर्मपक्षीया भवन्त एव गुरवो, मातर., पितरश्च। पिपतिषामि[1] चेत्पितृचरणाना मोहजाले तदा नातिरिणक्ति[2] मे सयमोऽपि ससारम्। अतोऽह श्रीमता सङ्गमभङ्गपुण्योदयलब्ध चिन्तारत्नतुल्य कथमपि न त्यक्ष्यामीत्यपरिवर्तनीयो विचारविशदो मे निर्णय ।"

विधेयशिष्यस्य[3] सत्यसुरभिता सुमनोमालेव निसर्गनिर्मलां विवेक-विकचा वचनावलिं कर्णेकृत्वा स्पष्टवक्ता भिक्षु स्तत्-पितर व्याहार्षीत्—"कृष्णजित्! त्वामुग्रस्वभावसेवित्वान्नाह मया सह रक्षितुमिच्छामि। त्वयेदानी कि कर्तव्य, क्व गन्तव्यमिति गम्भीरदृशा पर्यालोच्यम्।

"किमुक्तम्? न रक्षितुमहमिष्ये भवता सहगामितया, तदाऽह मत्पुत्रमपि नेष्यामि मया सार्धम्" उक्तमरुणीभूय पित्रा।

'कोऽवरुन्धे त्वदीया सपत् त्वदग्रतस्तिष्ठति' न्यगादि सारल्येन श्रीभिक्षुणा।

"उत्तिष्ठ, पुत्र! गच्छावोऽन्यत्र कुत्रापि, किमेभि. स्वार्थ-तत्परै·? ये मा प्रवयस[4] मत्वा मुमुक्षतेऽसहायम्, उभौ समील्य कि कर्तु न शक्नुवत ?" एव जल्पन् झगिति पुत्र करग्राह गृहीत्वाऽन्यत्र स्थितः।

'पित! अह कथमपि सद्गुरुराज श्रीभिक्षु न जिहासामि। यतोऽह बालोऽस्मि, मद्भविष्यमपवारित[5] विद्यते। यत्राऽऽयतिर्मे शुभवती स्यात्, तत्रैव मया स्थातव्यम्। हितेच्छुना भवताप्यह तत्रैव रक्षणीयो यत्राह सर्वजनीना सार्वत्रिकीमुज्ज्वलता श्रयेयम्। न कि पारेसमुद्र प्रेषयन्ति प्रेष्ठानपि[6] पुत्रान् हितकाम्यया पितर. ?

---

१. पतितुमिच्छामि। २ अतिरिच्यते। ३ विनयस्थ-शिष्यस्य। ४ स्थविरम्-वृद्धमित्यर्थ। ५ छन्नम्। ६ अतिशयेन प्रियान्।

सम्बन्ध आपके साथ हो गया है और फिर मैंने आत्म-कल्याण के लिए दीक्षा ग्रहण की थी। जहा मेरा कल्याण सभव हो, वही मुझे निर्भीक मन से रहना चाहिए। अब धर्म पक्ष से आप ही मेरे गुरु है और माता-पिता हैं। अगर पिता के मोह जाल मे पड़ूँगा तो मेरा सयम भी ससार से अतिरिक्त कुछ नही होगा। इसलिए मैं परिपूर्ण पुण्य के उदय से प्राप्त, चिन्ता रत्न के तुल्य आपका सानिध्य किसी भी प्रकार नही छोड़ूँगा, यह मेरा सुविचारित अपरिवर्तनीय निर्णय है।"

विनयी शिष्य की सत्य-सुरभित सुमन माला के समान निसर्ग-निर्मल और विवेक से विकस्वर वचनावलि को सुनकर उसके पिता को भिक्षु स्वामी ने कहा—"किसनोजी ! स्वभाव उग्र होने के कारण मै तुम्हे अपने साथ नही रख सकता। तुम्हे कहा जाना है और क्या करना है, इस विषय मे गभीर दृष्टि से पर्यालोचन कर लेना चाहिए।"

"क्या कहा ? मुझे आप अपने साथ नही रख सकते ! तो मै अपने साथ अपने पुत्र को भी ले जाऊँगा।" क्रोध मे लाल होकर किसनोजी ने कहा।

"कौन रोकता है, तुम्हारी सम्पत्ति तुम्हारे आगे है"—सरलतापूर्वक श्री भिक्षु ने कहा।

"उठो पुत्र ! कही अन्यत्र चले, इन स्वार्थ-परायणो से क्या प्रयोजन ? ये मुझ बूढ़े को असहाय छोडते है। दो मिलकर हम क्या नही कर सकते ?" ऐसा कहते हुए जल्दी से पुत्र का हाथ पकडकर दूसरी जगह जाकर बैठ गए।

"पिताजी मैं किसी भी प्रकार सद्गुरुराज श्री भिक्षु को नही छोडना चाहता। क्योंकि मै बालक हूँ, मेरा भविष्य आवृत है। जहा मेरा आगामी जीवन सफल हो वही मुझे रहना चाहिए। मेरे हितेच्छु आपको भी मुझे वही रखना चाहिए जहाँ सार्वजनिक सार्वत्रिक उज्ज्वलता पाऊँ। क्या हित की कामना से पिता अपने प्यारे पुत्रो को भी समुद्र के पार नही भेज देता

किमाकाशवासी कुमुद-बान्धवो[1] नानन्दयति परिवर्धितवेल पारावारम् ! अल तया पित्रो पार्श्वस्थायिकया[2] यया न लक्ष्यतेऽभ्युदयलक्षणा जीवनपद्धति । अत भिक्षुस्वामिभिः सह मे स्थितिर्द्रव्यतो भावतश्चापि क्षेमकरी भाविनीति प्रातिभ[3] ज्ञानम् । ततस्तत्रैव सरक्ष्यतामहमदोलायितमानसेन भवता' विज्ञप्त सावष्टम्भ सविनय पुत्रेण ।

"स्फुटव्यपदेशेन[4] तव वृथोपदेशेनालम् । वेद्यते मया रहस्यम्, नाह केनापि प्रकारेण रक्षितास्मि तत्र" प्रोचे कल्लस्वरेण[5] सामर्ष पित्रा ।

"यद्येवम्, तर्हि सत्याग्रह करिष्येऽहमपि । श्रूयताम्—भविष्यति ममाहारो भिक्षुकरादेव, अन्यथाऽगृहीताशन एव स्थास्यामि यावज्जीवम्" प्रतिज्ञात ससाहस पुत्रेण ।

"द्रक्ष्याम्यह बालवदाग्रहगृहीतामविनीता प्रतिज्ञाम् । अस्ति यावदुदर भक्तपूरित तावदेवानशन सुकर भो ! गच्छन्तु चत्वारो यामा दिवसस्य, त्रियामाप्यद्यतनी न कि गतयामाऽयामा भवित्री बुभुक्षितस्य पिपासितस्य ते" प्रकटित व्यङ्ग्यध्वनिना पित्रा ।

"आनीता माधुकरी पित्रा । प्राप्त मधुर स्निग्ध सुरभित भव्यं भोजनम् । एहि-एहि, समागत लाभान्तरायाऽपगमत पथ्य स्वादिष्ठमशनम्, सहैव भुञ्जीवहि, जातमनशनेन ते" प्रैरि पुन पित्रा ।

न दत्त किमप्युत्तरम्, स्थित तूष्णी भजमानेन तनयेन ।

"शृणोसि न वा, आगच्छ सत्वरमागच्छ वत्स ! शीतीभाव भजते भोजनम् । करोम्यन्यथाऽहमेकाक्येवाऽऽहारम् ।" चेष्टित पुनरपि तातेन । परन्तु नाप्त किमप्युत्तरम् । इत्थ व्यतीता दिवसत्रयी, पीत

---

१ चन्द्र. । २ समीपस्थित्या ३ प्रतिभाजन्यम् । ४ व्यपदेश । बहानेबाजी, इतिभाषा । ५. स्वरभेदस्तु कल्लत्वम् (इतिहैम) ।

है ? क्या आकाश मे रहने वाला चन्द्रमा वेला से बढे समुद्र को आनंदित नही करता ? पिता के उस सान्निध्य से क्या लाभ जिससे अभ्युदय लक्षण वाली जीवन-पद्धति न जानी जा सके। इसलिए भिक्षु स्वामी के चरणो मे मेरा रहना द्रव्य और भाव दोनो से कल्याण-प्रद है—यह मेरी वुद्धि की स्फुरणा है। इस कारण निश्चित मन से आप मुझे वही रखे" यो पुत्र ने विनय पूर्वक जोर देकर विनति की।

"इस स्पष्ट छलमय तेरे व्यर्थ उपदेश मे क्या रखा है ? मैं सब रहस्य जानता हूँ। मैं तुझे यहा किसी भी प्रकार नही छोड़ूँगा" क्रोधावेश से अस्पष्ट स्वर मे पिता ने कहा।

"यदि ऐसा है तो मैं भी सत्याग्रह कर दूगा। सुने ! "मैं श्री भिक्षु स्वामी के हाथ से ही भोजन करूँगा, अन्यथा जीवन पर्यन्त आहार ग्रहण नही करूगा।" पुत्र ने साहस-पूर्वक प्रतिज्ञा करली।

"वालक की तरह दुराग्रह से गृहीत इस अयोग्य प्रतिज्ञा को भी देख लूँगा। जब तक पेट भोजन से भरा हुआ है तब तक ही अनशन सरल लगता है। दिन के चार पहर वीत जाने दे, क्षुधा-व्यग्र और पिपासाकुल की तेरी आज की त्रियामा (तीन पहर वाली रात) भी सौ पहरो वाली क्या नही वन जाएगी ?" व्यग ध्वनि से पिता ने कहा।

पिता मधुर-स्निग्ध, सुगन्धित द्रव्यो वाली भिक्षा ले आया। आ ! आ ! लाभान्तराय के दूर होने से पथ्य स्वादिष्ट आहार भिक्षा मे आया है। आ ! साथ ही खाएँ। बस हो गया तेरा अनशन," पिता ने फिर प्रेरणा दी।

पुत्र ने कुछ भी उत्तर नही दिया, मौन ही रहा।

"सुनता है या नही, आ ! जल्दी आ ! पुत्र ! भोजन ठडा हो रहा है। अन्यथा मैं अकेला ही आहार करता हूँ।" पिता ने फिर प्रयास किया। परन्तु कुछ भी उत्तर नही आया। इस तरह तीन दिन वीत गए, न

न पानीयम्, न च गृहीत भोज्यम् । अनेके शीतोष्णा उपाया जनकेन निरमायिषत, परन्तु न ते फलभारभ्राजिष्णवो बभूवुः । अन्ते क्षुधा-तृषा म्लानमुखमपि प्रतिज्ञया विकस्वर विलोक्य पुत्र सहज प्रेम्णा परिगलितमभूत्सितोपला—जरठमपि पितुर्हृदयम् । धिङ् माम्, वृथा व्यथयेऽह सुकुमालमपि दृढप्रतिज्ञ बालम् । आकरोत्पन्नो मणि. कि तिष्ठत्याकरे हि । स तु 'कस्यचिन्मूर्धाभिषिक्तस्य मौलेरलङ्करणतां यातीति न नवीनम् ।

"कथमपि न स्वीकरिष्ये मत्कथनमङ्गपुत्र !" प्रोक्त स्नेहार्द्रेण पित्रा, स्पष्टमुत्तर देहि, का ते हार्दिकी इच्छा ?

'इद कथन न कथमपि स्वीकर्त्तुं शक्यते मया' स्पष्ट विज्ञप्तं पुत्रेण ।

"नूनमेषैव चेत्तवेच्छा, तर्हि चल, गच्छावो भिक्षूपकण्ठम्" प्रोक्त सप्रेम पित्रा ।

"सत्वर गच्छन्तुतमामुत्कोऽस्मि[2] तत्र गन्तुमहम्" जल्पित रणरण-केन पुत्रेण ।

तत्काल द्वावपि प्रतस्थाते । उपभिक्षु समागत्य प्रोक्त शीतलता सेवमानेन पित्रा—"भगवन् ! अय भवन्तमेवाऽर्हति, पूजयति, श्लाघते, स्तौति स्मरति, ध्यायति चाभिनन्दतितमाम् । ममाति-भीषणपरीक्षायामपि न किञ्चिदपि शैथिल्य सिषेवेऽसौ । अतोऽय भवतामेव, भवद्-योग्य एव, भवच्छिष्य एव, भवत्पुत्र एव च । ततोऽस्य स्वीकारो भवता सहर्ष करणीयः, सविनया विज्ञ-प्तिरिय मे ।"

---

१ नृपस्य । २ उत्कण्ठितोऽस्मि ।

पानी पिया और न भोजन किया। अनेक ठडे-गर्म उपाय पिता ने किये, परन्तु वे कोई सफल नही हुए। अन्त मे क्षुधा-तृषा से म्लान मुख होने पर भी प्रतिज्ञा से पुत्र को विकस्वर देखकर सहज प्रेम से पिता का मिसरी के समान कठोर हृदय भी द्रवित हो गया। मुझे धिक्कार है, सुकुमाल होते हुए भी जो प्रतिज्ञा मे बडा सुदृढ है, उस बालक को व्यर्थ मे व्यथित कर रहा हूँ। खान मे पैदा हुआ मणि क्या खान मे ही रहता है? वह तो किसी राजा के मस्तक का अलकार बनता है इसमे कोई अनोखापन नही।

"पुत्र! क्या तू किसी प्रकार मेरे कथन को स्वीकार नही करेगा" पिता ने स्नेह-स्निग्ध होकर कहा। स्पष्ट उत्तर दे, तेरी हार्दिक इच्छा क्या है?

"मैं आपका यह कथन किसी भी प्रकार स्वीकार नही कर सकूगा।" पुत्र ने स्पष्ट निवेदन कर दिया।

"निश्चित तेरी अगर यही इच्छा है, तो चल, भिक्षु के पास चले" पिता ने प्रेम से कहा।

"जल्दी चले। मैं वहाँ चलने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ।" उत्कण्ठा से पुत्र ने उत्तर दिया।

तत्काल दोनो ने प्रस्थान किया। भिक्षु के समीप जाकर विनीत भाव से पिता ने कहा—'भगवन्! यह आपकी ही अर्चा करता है, आपकी ही पूजा करता है, आपकी ही श्लाघा करता है, आपकी ही स्तवना करता है, आपको ही याद करता है, आपका ध्यान लगाता है और आपका ही अभिनन्दन करता है। मेरे द्वारा कडी परीक्षा करने पर भी यह किंचित् भी विचलित नही हुआ। इसलिए यह आपका ही है, आपके ही योग्य है, आपका ही शिष्य है और आपका ही पुत्र है, आप इसे सहर्ष स्वीकार करें, यह मेरा सविनय निवेदन है।

"पुन परीक्षणीयम्, न ममाग्रह कोऽपि" उट्टङ्कितं नि सकोच स्वामिना ।

"परीक्षित मयाऽस्य चेत पूर्णतया, भवत्स्वेव तल्लीन वर्तते तत्" प्रत्युक्त पुनर्जनकेन ।

तत्काल भविष्यदुज्ज्वलभालो भारीमालो भिक्षुस्वामिनश्चरण-चञ्चरीकता जगाम । तत्करेणैव कृत्स्नकष्टवारणामष्टमतपस[1] पारणा चकार ।

"मदर्थमपि काचित्सुखदा व्यवस्था करणीया कर्त्तुमर्हेण भवता, यथा ममापि वृद्धावस्था सुखेन पूरिता स्यात्" विज्ञप्त पित्रा स्वामि-नामग्रत ।

"कथ न ! अस्ति मम मस्तके कापि युष्मदर्थं वरेण्या योजना" अभाणि श्रीभिक्षुणा ।

रघुनाथाचार्याणा गुरुभ्रातृस्थानीया आसन् जयमल्लाभिधा विज्ञा आचार्यास्तदानीन्तने काले । तेभ्य समर्पितोऽय प्रेम्णा कृष्ण-जिन्मुनि । "एव जात गृहत्रये वर्धापनम्" श्रीजयमल्लाचार्यैं प्रचारि-तेयमुक्ति ।

साम्प्रतं चतुर्दशवर्षीयो भारीमालो भावनया, श्रद्धया, विनयेन, सहिष्णुतया च श्रीभिक्षुस्वामिन सेवितु प्रवृत्त ।

"गुरु-विरोधिनो दया-दान-निषेधिनोऽमीति न देयमेभ्य स्थाना-हार-पानीयवस्त्रौपधादि-साहाय्यम्" इत्यादि निषेधपर सदेश श्रीभिक्षोरागमनात्पूर्वमेव गन्तव्यग्रामेषु प्रसारितो नोभूयते स्म । न मिलति स्म कर्हिचित्पूर्णमन्नम्, कदाचित्पर्याप्तमम्भ । स्थानौ-षधवस्त्रपात्रादीना कठिनतायास्तु कथनमेव किम् ?

---

१. तीन दिन के उपवास का ।

"और परीक्षा कर लो। मेरा कोई आग्रह नही है।" नि सकोच भिक्षु स्वामी ने कहा।

"मैंने इसका हृदय पूर्णतया परख लिया है, यह आपमे ही तल्लीन है" पिता ने प्रत्युत्तर दिया।

तत्काल सौभाग्यशाली भारीमाल श्री भिक्षु स्वामी के चरण कमलो मे चले गये। उनके हाथ से ही समस्त कष्टो को निवारण करने वाले तेले का पारण किया।

"आप करने के लिए समर्थ है। मेरे लिए भी कोई समुचित व्यवस्था कर दे। जिससे मेरी भी वृद्धावस्था सुख से पूरी हो जाए" किसनोजी ने श्री भिक्षु स्वामी के आगे विज्ञापना की।

"तुम्हारे लिए भी मेरे मस्तक मे कोई अच्छी योजना कैसे न हो ?" श्री भिक्षु स्वामी ने कहा।

श्री रघुनाथ आचार्य के गुरुभाई जयमल्लजी नामक विज्ञ आचार्य उस समय मे थे। किसनोजी को प्रेम से उन्हे समर्पित कर दिया। 'इस तरह तीन घरो मे वधावना हुआ।" यह उक्ति आचार्य जयमल्ल जी से प्रसारित हुई।

चौदह वर्ष की लघु वय के भारीमाल भावना, श्रद्धा, विनय और सहिष्णुता से श्री भिक्षु स्वामी की सेवा करने लगे।

"ये गुरु के विरोधी हैं और दान दया के निषेधक हैं इसलिए इनको कोई स्थान, आहार, पानी, वस्त्र और औषधि की सहायता न दे" इस प्रकार का सदेश– श्री भिक्षु स्वामी के आगमन से पूर्व ही गन्तव्य ग्रामो मे प्रसारित हो जाता था। कभी पूरा भोजन नही मिलता और कभी पूरा पानी नही मिलता। स्थान, औषधि, वस्त्र और पात्र आदि की कठिनता का तो कहना ही क्या ?

रणेष्वर्धचक्रीवोत्पद्यमानेषु[1] परीषहेषु न सूक्ष्ममपि कातर्यं भेजे वीराग्रणी श्रीभिक्षु । केचिज्जनाः निष्पक्षतया गृण्वन्ति स्म श्रीभिक्षो सत्या प्ररूपणा विजनेऽवसरे। तेषु केचिदेव दृढहृद सत्यान्वेषिणो गुरुबुद्ध्यापि स्वामिनं स्वीकुर्वन्ति स्म ।

तस्मिन् समये जोधपुरीया केचन श्रावका श्रीभिक्षोर्विचार-धाराया सूक्ष्मतत्त्वमधिगम्य तदनुयायिता स्वीकृत्य तत. स्वपुरे गत्वा च प्राचीन स्थानक परित्यज्य कस्मिश्चिदापणे सामायिकमकार्षु । अकस्मात्तत्र व्रज्या विदधाना दिवानोपाधिविभूषिता 'सघवाह'[2] गोत्रेणाख्याताः श्रीफतेहसिहाभिधा गणमान्या पुरुषा. समाजग्मु । हट्टे कृतसामायिकान् कांश्चित् श्राद्धान् विलोक्य ते जिज्ञासाञ्चक्रिरे —"भो. कथमद्यात्र यूय सामायिकव्रतमुररीकुर्वन्त स्वमुपाश्रय विरहितवन्त. । किं नव्यमत्र जागर्ति कारणम् ?"

धृतसामायिकैरमायिकैस्तै भिक्षुस्वामिन पृथग्—भवनस्य वार्ता सविस्तरा समाख्यापि तेषा पुरत । वस्तुतो विचाराचारक्रान्त्या प्रफुल्ल रूपमिदम् । जडिमानमाप्त बहु जीर्ण किमपि जायत एव परिवर्त्तनार्ह न चित्रणीयमिदम् ।

नव्यक्रान्तिचमत्कृतैरिव पुनस्तैरप्रच्छि—"कति सन्ति श्रमणा-स्तत्सहयायिन ।'

श्रावका —त्रयोदश-सख्या भजन्ति ते महानुभावा ।

सघवाहा —एवम्, यूय कति श्रद्धालवोऽत्र धृतसामायिका वर्तध्वे। परिगणय्य कश्चित्—'त्रयोदश' एव ।

सघवाहा.—बाढम्-बाढम्, त्रयोदश साधवस्त्रयोदश एव श्रावका. कीदृश सुन्दर सयोग !!

तत्रैवोर्व्वन्दमेन केनचित्सेवक-जातीय-कविना तत्काल राज-स्थानीयभाषायामेक पद्य न्यगादि—

---

१ अर्धचक्रीव वासुदेववत् । २ सिंघी गोत्र से, इतिभाषा

उत्पन्न होते हुए परिषहो मे वीर शिरोमणि श्री भिक्षु स्वामी ने युद्ध मे—वासुदेव के समान थोडी भी कातरता नही की। कुछ लोग निष्पक्षता से श्री भिक्षु की सत्य प्ररूपणा एकान्त अवसर मे सुनते थे। उनमे कुछ सत्यान्वेषी सुदृढ हृदय वाले भिक्षु स्वामी को गुरु रूप मे भी स्वीकार करते थे।

उस समय जोधपुर के कुछ श्रावक श्रीभिक्षु स्वामी की विचार धारा का सूक्ष्म तत्व पहचान कर उनके अनुयायी बन गए थे। वे एक बार प्राचीन स्थानक छोडकर कोई दुकान मे सामायिक कर रहे थे। घूमते हुए अकस्मात् गणमान्य सिंघी' गोत्र से प्रसिद्ध दीवान फतेहसिंह जी उधर से कुछ आदमियो के साथ गुजरे। दुकान पर कुछ श्रावको को सामायिक करते हुए देखकर जिज्ञासा की—तुम लोगो ने यहां सामायिक क्यो की है, अपने उपाश्रय को कैसे छोडा ? इसमे क्या कारण है ?

सामायिक करने वाले निश्छल व्यक्तियो ने भिक्षु स्वामी के अलग होने की समग्र बात विस्तार पूर्वक उन्हे बताई। यथार्थ मे विचार और आचार की क्रान्ति का यह विकस्वर रूप प्रकट हुआ है। जडता प्राप्त प्रत्येक जीर्ण वस्तु परिवर्तन के योग्य हो जाती है इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है।

नई क्रान्ति मे चमत्कृत से होकर फिर उन्होने पूछा—कितने साधु उनके सहगामी है ?

श्रावक—वे महानुभाव तेरह हैं।

सिंघी जी—अच्छा आप यहा कितने श्रावक सामायिक करते हैं ? गिन-कर किसी ने कहा—तेरह ही।

सिंघी जी—बहुत सुन्दर, बहुत सुन्दर, तेरह ही साधु तेरह ही श्रावक कितना अच्छा सयोग है।

वही खडे किसी सेवग जाति के कवि ने तत्काल राजस्थानी भाषा मे एक पद्य कहा—

"साध साधरो गिलो करे, तें आप आपरो मत ।
देखोरे स्हैरश लोकां ! तेरापन्थी तत ।"

निशमितो भिक्षुस्वामिना यदोदन्तोऽयम्, तदैव गम्भीरार्थवेदिना स्फुटमेवमभाणि—"प्रभो ! 'तेरापथ' अर्थादय तव पन्था, न मम किमपि। मत्सर्वस्व तुभ्यमेव समर्पयामि। त्वदाज्ञा हि मे प्राणा । इतरत्—पञ्च महाव्रतानि, पञ्च समितय, गुप्ति-त्रिक च अमूनि त्रयोदशवचनानि यस्त्रिकोटिविशुद्ध यावज्जीव पालयति स तेरा-पन्थानुयायी मुनि । यश्चांशिकतया बिभर्ति स तेरापन्थी श्रावक । तद्दिनादारभ्य 'तेरापन्थ' इत्याख्यया ख्यातिमाप्तोऽय सम्प्रदायो जगतीतले ।"

तेरापन्थिना मान्यता यथा दयाजन्यो हि धर्मो, न हिंसाजन्य. 'सव्वे पाणा न हतव्वा' इति वचनप्रामाण्यात् । व्रतेष्वेव धर्मो, ना व्रतपोषणेषु । सततममूल्योऽध्यात्मतत्त्वहेतु धर्मो, नार्थ-बलेन क्रेतव्य. कदापि सः । आत्मशान्त्या धर्म न केवल-क्षणिकदेह-शान्त्या। उपदेशाद् कस्यचिद् हृदयपरिवर्त्तन धर्म, न पुनर्बल-प्रयोगादिभि किमपि । शुद्ध-साध्य-प्राप्तये शुद्धसाधनाना प्रयोगो धर्म., नाऽशुद्ध-साधनानाम् । कापि क्रिया यावन्नकरण-योगतुलाया याथार्थ्यमर्हति तावन्न सा निरवद्यतया स्वीकर्तव्या । नैतच्चतुरस्रम्, यत् स्वस्य करणे पापम्, तदेव परेण कारापण पुण्यमिति । मिथ्यात्विनापि शुभा क्रिया शुभैव, न सा ससारवर्धनीति मन्तव्या। स्वायुर्बलतो जीवाना जीवने न दया । स्वायुर्बले क्षीणे जीवाना मरणे न हिंसा । यो मारयति स हिंसक । यो न मारयति स दयावान् । 'जीवतु' इति वाञ्छा राग । 'म्रियताम्' इति वाञ्छा द्वेष । 'तरतु ससारसमुद्रादयम्' इत्यभिलाषा वीतरागस्य धर्म. । इत्यादि ।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये
महाकाव्ये गद्यप्रबन्धे षोडश: समुच्छ्वास.

"माध माधरो गिलोकरै, ते आप आपरो मन्त ।
देखो रे स्हैर रा लोका, तेरापन्थी तन्त ॥"

जब भिक्षु स्वामी ने यह समग्र वृत्तान्त सुना तो गम्भीर अर्थ लेते हुए उन्होने स्पष्टता की—प्रभो ! "तेरा पथ" अर्थात् यह तुम्हारा पथ है, मेरा कुछ भी नही । मेरा सर्वस्व तुम्हे ही समर्पित करता हूँ । तुम्हारी आज्ञा ही मेरे प्राण है । तेरापथ का दूसरा अर्थ करते हुए उन्होने कहा—पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति इन तेरह वचनो को त्रिकोटी विशुद्ध जो जीवन पर्यन्त पालता है, वह तेरापथ का अनुयायी मुनि है । जो आशिक रूप से पालता है वह तेरापथी-श्रावक है । इसी दिन से "तेरा पथ" इस नाम से ससार मे यह सम्प्रदाय ख्याति प्राप्त हुआ ।

तेरापथियो की मान्यता यो है—धर्म दया मे ही है, हिंसा जन्य नही, क्योकि 'सव्वे पाणा ण हतव्वा' ऐसा आगम का उद्घोष है । धर्मव्रतो के पोषण मे ही है अव्रत पोषण मे नही । अध्यात्महेतु धर्म सदा अमूल्य ही है, किन्तु धन और शक्ति के वल से वह खरीदा नही जा सकता । धर्म आत्म-शाति द्वारा प्राप्य है, किन्तु केवल क्षणिक देह-शान्ति से नही । उपदेश से किसी का हृदय परिवर्तन करना ही धर्म है, किन्तु वल प्रयोगादि से नही । शुद्ध-साध्य की प्राप्ति के लिए विशुद्ध साधनो का प्रयोग ही धर्म है, किन्तु अशुद्ध-साधनो से नही । कोई क्रिया जब तक करण योग की तुला मे यथार्थ नही उतरती तब तक वह निरवद्य नही मानी जाती । यह सही नही है कि किसी कार्य के अपने करने मे पाप, वही काम औरो से करवाने मे पुण्य का हेतु हो । मिथ्यात्वियो की शुभ (दानादि) क्रिया शुभ ही है उसे ससार बढाने वाली नही माननी चाहिए । जीवो के अपने आयुवल से जीने मे कोई दया नही है । आयुवल क्षीण होने पर जीवो के मरने मे कोई हिंसा नही है । जो मारता है वह हिंसक है । जो नही मारता है वह दयावान है । प्राणियो के जीने की कामना करना राग है और मरने की वाछा करना द्वेष है, किन्तु ससार सागर से तरने की अभिलाषा वीतराग का धर्म है ।

सोलहवा समुच्छ्वास समाप्त



सप्तदशः समुच्छ्वासः | *

कारस्कर[1]स्तदैव बद्ध-परिकरो भवेद् यदा तन्मूल दार्ढ्य-मासादयति । विलुलित-मूलस्तु वात्यया पात्यते, गजोष्ट्रादिना घात्यते, तीव्रातपेन दह्यते, हिमान्या चाशुहन्यते । परन्तु तस्याङ्घ्रयः[2]चेदवनिगर्भे बद्धमूलाः स्युस्तदा प्राय. पूर्वोक्ता उपप्लवास्तदुपरि स्वकीयामकिञ्चित्करतामनुभवन्ति ।

विरोधिनां प्रचण्डवातूले[3] वहमानेऽपि सत्यसन्धायै स्तम्भ इवाऽनामितकन्धर श्री भिक्षुश्चातुर्मासिक समयमभिमुखीन मत्वा सहयायिनो मुनीन् सबोध्य कथयामास— 'मुनय ! त्रयोदशमुनीना प्रथीयसि विरोधिवातावरणे स्थानाहारादिसाकल्यान्नैकत्र स्थले निर्वाह सभवी । आत्मना चतुर्थोऽह त्रिभिर्मुनिभि सह मेदपाट देश प्रतिष्ठासामि[4] । युष्माभिरपि यथा निर्दिष्टस्थाने यथाऽवसर चतुर्मासी व्यत्येतव्या । कासाञ्चन मान्यतानामद्यावधि परस्पर-मस्माक भेदो वरीवर्त्ति, समयाभावान्न तासा निष्कर्ष. साम्प्रत सभवी, अत. शुचि-पूर्णिमाया[5] मर्हत्सिद्धान् साक्षीकुर्वाणैरस्माभि पुन. साधुत्व प्रतिपत्तव्यम् । व्यतीते चातुर्मास्ये पुनरस्माक सम्मेलन यदा भावि, तदानी सर्वा मान्यता. समन्वेषयिष्याम । सम्यक् समन्वयो यदि

---

१ वृक्ष । २ पादा -मूलानीत्यर्थ । ३. वाताना समूहो वातूल । ४ प्रस्थातुमिच्छामि । ५. आषाढपूर्णिमायाम् ।

★ | सत्तरहवां समुच्छ्वास

वृक्ष तव ही पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है जव उसका मूल सुदृढ होता है। कम्पित मूल वाला तो प्रखर वायु से गिर जाता है, हाथी, ऊँट आदि मे आघात पा जाता है। तीव्र ताप से जल जाता है एव हिमपात से जल्दी ही मूच्छित हो जाता है, परन्तु उसकी जडे यदि भूमि मे जमी हुई होती है तो पूर्वोक्त उपद्रव उसे कोई विशेप हानि नही पहुँचा सकते।

विरोधियो के भयकर तूफान चलते रहने पर भी सत्य-प्रतिज्ञा के लिए स्तम्भ की तरह विना झुके श्री भिक्षु स्वामी ने चातुर्मासिक समय समीप देखकर सहयोगी मुनियो को सवोधन करके कहा—"साधुओ ! फैले हुए विरोधी वातारण मे तेरह साधुओ का स्थान, आहार आदि की कठिनाई के कारण एक क्षेत्र मे निर्वाह सम्भव नही है। मैं तीन साधुओ के साथ मेदपाट (मेवाड) प्रस्थान करना चाहता हूँ। तुम लोग भी यथा निर्दिप्ट स्थान मे यथा अवसर चतुर्मास के लिए विहार कर दो। कुछ मान्यताओ मे हमारे परस्पर अव तक भिन्नता है। समय के अभाव के कारण उनका निष्कर्ष अभी सभव नही है। अत आपाढ-शुक्ला पूर्णिमा के दिन अरहन्त, सिद्धो को साक्षी करके हम सव को पुन साधुत्व स्वीकार कर लेना चाहिए। चतुर्मास पूर्ण होने पर जव हमारा फिर सम्मेलन होगा तव सव मान्यताओ का समन्वय कर

भविष्यति तदा वयमेकमौक्तिकमालाया मणितामाधास्याम, यदि दौर्भाग्यान्नाभिनिविष्टा भवित्री तत्त्वेषु तुल्या मतिरस्माक, तदा स्पष्ट भिन्नत्वमस्त्येव।

इत्थमपरे नवमुनयो द्वाभ्या त्रिभिर्वा सघाटकरूपता भजमाना पृथक् पृथग् ग्रामनगरेषु प्रावृषेण्यमनेहसमतिवाहयितु प्रतस्थिरे। श्रीभिक्षुरपि त्रिभिर्मुनिभि. सह मेदपाटाय विजहार।

पूर्वप्राप्त-सङ्घ-सन्देशेन भापिता जना. श्रीभिक्षोर्नाम्नाप्युद्विजन्ते, नहि चातुर्मासिकस्थितये केऽपि विनयन्ते तम्।

हा! दुस्तरोऽय, सकीर्णोऽय,क्षुद्रोऽय साम्प्रदायिक-व्यामोह.। यत्र धीमानपि न विभावयितु शक्नोति। यत् किमपि शोश्रूयते जनश्रुत्या तत् सत्यमिति सहसैव प्रतिपद्यते। साम्प्रदायिकताव्यामूढोऽकृतमपि कुरुते, अवाच्यमपि वक्ति, अदृष्टमश्रुतमपि चाभ्याख्याति। हन्त! मताग्रहोरगदष्टाना भवति खलु मानवताया अपि लोप। परस्य यथार्थकथनमपि निरर्थकमिवाऽऽभाति। वक्रोक्तिरिवाकलय्यते सामान्योक्तिरपि।

अहह! वहुविनाशितमस्माकमनया साम्प्रदायिकतापिशाच्या। धर्मनाम्ना जाजायन्ते दुष्परिणामा कलहा। प्रतिपक्षिणमधरयितु पर पर प्रयतते। परस्योत्थानेऽपरो द्वेष्टि।

चित्रम्! धर्मस्तु शिक्षयति, प्रेरयति, चेष्टतेऽनुशास्ति, चोपदिशति रागद्वेषनिग्रहार्थम्। मताग्रहपङ्कमग्नास्तु विलोक्यन्ते भृश रागद्वेषवशवदा। एकमेव देव देवत्वेनोरीकुर्वाणास्तुल्यागमा एक-सन्तानीया अपि कुक्कुरा इव मतान्धतया परस्पर कलहायन्ते, तदा परेषा का कथा? तत उत्पद्यते महती ग्लानिर्माध्यस्थ्यभाव-भावितात्मना हृदि। अत एव हसधिषणो गुणग्राही महामना न निमज्जति साम्प्रदायिक-

लेंगे। यदि सम्यक् समन्वय हो जाएगा तो हम एक मोतियो की माला के मोती बन जाए गे। यदि दुर्भाग्य से हमारी तात्विक मान्यताएँ एकरूपता न ग्रहण कर सकी तो भिन्नता स्पष्ट ही है।

इस तरह दूसरे नौ मुनियो ने दो या तीन का एक सघाटक (ग्रुप) बनाकर अलग-अलग ग्राम नगरो मे वर्षा-काल का समय बिताने के लिए प्रस्थान कर दिया। श्री भिक्षु स्वामी ने भी तीन मुनियो के साथ मेदपाट (मेवाड) के लिए विहार कर दिया।

पूर्व प्राप्त सघ सदेश से भीत लोग श्री भिक्षु के नाम से उद्विग्न होने लगे। चतुर्मास करने के लिए किसी ने भी विनति नही की।

हा! यह साम्प्रदायिक व्यामोह बडा क्षुद्र है, सकीर्ण है और मुश्किल से लघनीय है। जहाँ बुद्धिमान भी कुछ नही सोच सकता। जन श्रुति से जो कुछ सुनता है, उसी को सहसा ही सत्य मान लेता है। साम्प्रदायिकता मे अन्धा होकर अकृत्य को भी कर डालता है, अवाच्य को भी बोल देता है। अदृष्ट और अश्रुत को भी कह देता है। हन्त! मत-आग्रह के सर्प से डसे हुओ के मानवता का भी लोप हो जाता है। दूसरे का यथार्थ कथन भी निरर्थक-सा लगता है। सामान्य उक्ति को भी वक्र-उक्ति की तरह मानता है।

दुःख है—इस साम्प्रदायिकता पिशाची ने हमारा बहुत विनाश किया है। धर्म नाम से बडे भयकर दुखदायक कलह होते है। प्रतिपक्षी को गिराने के लिए खूब प्रयास किया जाता है। एक की उन्नति मे दूसरा जलभुन जाता है।

आश्चर्य है! धर्म तो राग-द्वेष के निग्रह के लिए शिक्षा देता है, प्रेरणा देता है, उपदेश देता है और चेष्टा करता है। मताग्रह के कीचड मे फसे हुए तो बहुत राग-द्वेष के वशीभूत हो जाते है। एक ही देव को देव रूप मे स्वीकार करने वाले, समान आगम वाले, अपने आपको एक की सन्तान मानने वाले भी कुत्तो की तरह मतान्धता से परस्पर कलह करते है। तब दूसरो की क्या कहनी? उससे मध्यस्थ विचारधारा वाले व्यक्तियो के हृदय मे महान ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। इसलिए हस-बुद्धि वाले गुणग्राही

ताया निबद्धरे[1]। यत्र गुणमौक्तिकाना प्राप्तिस्तत्रैव नि.सकोचतया तदङ्गीकारे चेष्टते स.।

अस्तु, रूढमतावलम्बिभिर्जनै स्थाने स्थाने भृश तिरस्कृत. श्रीभिक्षुराषाढमासे काम्पिल्यपुरे (केलवापुरे) चतुर्मासीमधिवस्तुं समाजगाम।

पूर्वमेव कोलाहलाकुलाऽभूत्केलवापुरी यत् समायात्यत्र दान-दयाऽपलापको निन्हवो भिक्षु., न कैरपि स स्थानाहारादिदानैः सत्करणीय इति।

इत स्कन्धाऽऽरोपितोपधिपुस्तकादिभार श्रीभिक्षुः सभिक्षु[2] स्थानार्थमितस्ततो बम्भ्रम्यमाणस्तत्रस्थान् श्रावकान् पर्यपृच्छत्—'क्व तिष्ठामो वयमिति'। कश्चिदुत्तरमपि न ददाति। कश्चित्सघृणं नक्र[3] मोटयति। कश्चिन्नाह जानामीति प्रत्युत्तरति। कश्चिदन्यं पृच्छन्त्विति निगद्याऽपसरति। 'केनाहूता अत्र समागता' इति वक्रोक्त्या कश्चित्सगर्हं तिरस्करोति। 'गच्छन्तु कस्यचिद्भवद्भक्तस्य गृहे' इतीरयन् कश्चिदात्मान पृथक्करोति। परन्तु स्थितप्रज्ञ इव श्रीभिक्षु सर्वान् पराभवान् समतया सहमानस्तितिक्षमाणो बालग्रथिलालापतुल्यास्तान् मन्वान. क्षमाशूराणामनुगामी शान्तस्तस्थौ।

कुत्रापि स्थानमविन्दमान. 'पृच्छकेन सदा भाव्यम्' इत्युक्ति चरितार्थयन् पौन.पुन्य पृच्छा चकार। केनचिद् द्वेषेर्ष्याघृणानिघ्नेन स्वामिनमर्दयितु[4]मनसाप्युपरि मधुरेण न्यगादि—भो ! युष्माभिर्नाप्त स्थानमद्यावधि ? कीदृक्षा धूर्त्ता जना वृथैव भवन्तमितस्ततो

१. कर्दमे। २ भिक्षुभि सह समिक्षु.। ३ नाक इतिभाषा। ४ पीड-यितुमनसा।

महामना साम्प्रदायिकता के कीचड मे नही फमते । जहाँ गुण मोतियो की प्राप्ति होती है, वही नि सकोचता से उनको लेने की चेष्टा करते है ।

अस्तु, रुढमतावलम्बियो के द्वारा स्थान-स्थान पर व्यर्थ ही तिरस्कृत श्री भिक्षु आषाढ महीने मे 'केलवा' (राजस्थान) मे चतुर्मास विताने के लिए आये ।

उनके पहुँचने मे पूर्व ही केलवापुरी कोलाहल से व्याकुल हो गई थी कि यहाँ दान-दया का खण्डन करने वाला निन्हव भिक्षु आ रहा है । कोई भी स्थान-आहार आदि देकर उसका सम्मान न करे ।

इधर कधो पर उपकरण पुस्तक आदि का भार लिए हुए साधुओ के साथ श्री भिक्षु स्वामी स्थान के लिए इधर-उधर घूमते हुए वहाँ के निवासी श्रावको को पूछ रहे थे—'कहाँ ठहरे हम ?' किसी ने तो उत्तर ही नही दिया । किसी ने घृणा पूर्वक नाक सिकोड लिया । किसी ने उत्तर दिया मैं कुछ नही जानता । किसी ने कहा—दूसरे को पूछो, यो कहकर चला जाता था । किसके निमत्रण पर आये, कोई यो वक्रोक्ति से गर्हा-पूर्वक अपमान कर रहा था । कोई—आप अपने भक्त के घर जाए—यो अपने को वचा रहा था । परन्तु स्थित-प्रज्ञ के समान श्रीभिक्षु सव पराभवो को समभाव से सहते हुए वालक और ग्रथिल के तुल्य उनके वचनो को मानते हुए क्षमाशूरो के अनुगामी वनकर विल्कुल शान्त रहे ।

कही भी स्थान न पाते हुए भी "सदा पूछते रहना चाहिए" उस उक्ति को चरितार्थ करते हुए उन्होने वार-वार पृच्छा की । द्वेष-ईर्ष्या घृणा आदि के वशवर्ती होकर किसी ने श्रीभिक्षु को पीडित करने की भावना से मृदु शव्दो मे कहा—"स्वामी जी ! आपको अव तक स्थान नही मिला ? कैसे

भ्रामयन्ति, गच्छन्तु—मुनियोग्य विविक्त स्थानमह दर्शयामीति प्रलप्य श्रीभिक्षोरग्रगो वभूव । समयज्ञ. स्वाम्यपि तदनुगो जज्ञे । यत्रातिप्राचीनतमाष्टमतीर्थकृत श्रीचन्द्रप्रभस्वामिनो महाप्रभावि जैन मन्दिरमन्धकारबाहुल्यादन्धाऽपवरकनाम्ना (अन्धारी ओरी) प्रसिद्धम्, अनेकचर्मचटकाकुलायगर्हितम्,[1] केनचिद् यक्षराजेनाधिष्ठितमिदमिति किंवदन्त्या भयावहम्, विशालशिलयाऽवरुद्धोर्ध्वंदमागमनम्, तत्र भिक्षुस्वामिन निनाय स हिताभास.[2] सत्वरम् । "स्थेयमत्र सुखेन भवता यथेच्छम् । कार्तिकी पूर्णमास्यऽप्यत्रैव धर्मध्यान-परायणतया नेतव्या भो । अस्ति समग्रनागरजनस्य सहर्षमाज्ञा । वहूपकारो भावीति निर्णयो मे" उक्त सव्यङ्ग, सकटाक्ष च तेन ।

गुणग्राहि-पुङ्गव श्री भिक्षु. प्रोवाच—"अस्तु फलप्राग्भारभारिणी ते कल्याणी वाणी । अर्हत्सिद्धाना प्रभावत. सर्व शुभ भावीति मे हृद्ध्वनि. । अतिवाहयिष्यामो वयमत्रैव चतुर्मासीम्" इति जल्पाका श्रीभिक्ष्वादिमुनयो नमस्कारमहामन्त्र स्मरन्तो निर्भयमन्तर्मन्दिर प्रविविशुः ।

पुरे यत्र तत्र मिलिता जना. परस्परमित्थमालेपु—श्रुतम् ! आगता. खलु तेरापन्थिनोऽत्र चतुर्मासीमतिवाहयितुम् ।

तदन्यतम—क्व स्थानमाप्तास्ते ? केनाऽदायि तेभ्य स्थानम् ?

अन्य—न जानाति किमु ? अन्धापवरके स्थितास्ते !

विहस्य इतर—वराकाना विनाशाय वर स्थान दत्तम् । रात्रौ चमत्कार· स्वय भविष्यति ।

अपर—खलु[3] जीवित्वापि दयाविरोधिनाम् । ये न परेषा जीवितं

---

१ चर्मचटका, चमगीदड, कुलाय—उनके घोसले, इतिभाषा ।
२ हिताभास-उपरि हित इव आभासते परन्तु अन्त.कुटिल. । ३. खलु

धूर्त लोग है निरर्थक ही आपको इधर उधर भटकाते है। आओ, साधुओ के योग्य एकान्त स्थान मैं दिखाऊँ"—यो कहकर श्रीभिक्षु के आगे चलने लगा। समय के जानकार श्री भिक्षु स्वामी भी उसके पीछे चलने लगे जहाँ अति प्राचीन तीर्थंकर चन्द्रप्रभ स्वामी का महा प्रभावी जैन मन्दिर था, जो अन्धकार वाहुल्य के कारण 'अधारी ओरी' के नाम से प्रसिद्ध था। जो अनेक चमगादडो के घोसलो के कारण गर्हित था। वह किसी यक्षराज के द्वारा अधिष्ठित है, ऐमी किंवदन्ती से भयकर था। कोई भी व्यक्ति नीचे झुके विना अन्दर प्रवेश पा न सके इम प्रकार एक विशाल शिला से जिसका मुख द्वार अवरुद्ध किया हुआ था। वह दुर्भावना से श्री भिक्षु स्वामी को वहा ले आया। "स्वेच्छापूर्वक आप यहा रहे। धर्मध्यान मे निमग्न आप कार्तिक मास की पूर्णिमा यही विताए। मारे नागरिको की सहर्प आज्ञा है। वहुत उपकार होगा यह मेरा निर्णय है" उमने व्यग पूर्वक कटाक्ष करते हुए कहा।

गुण-ग्राहियो मे श्रेष्ठ श्री भिक्षु स्वामी ने कहा—"तुम्हारी कल्याणी वाणी सफल वने। अर्हत-मिद्धो के प्रभाव से सव कुछ शुभ होगा यह मेरी हृदय-ध्वनि है। हम यही चतुर्मास विताए गे" यह कहते हुए श्री भिक्षु आदि मुनियो ने नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करते हुए निर्भय होकर मन्दिर के अन्दर प्रवेश किया।

नगर मे जहाँ-तहाँ मिलते हुए मनुष्य परस्पर कह रहे थे—सुना ! तेरापथी यहाँ चौमासा करने के लिए आ गये है।

किसी ने कहा—उन्हे कहाँ स्थान मिला ? उनको किमने स्थान दिया ?

दूमरे ने कहा—नही जानता क्या ? वे 'अधेरी ओरी' मे ठहरे है।

हसकर दूसरा वोला—वेचारो को मारने के लिए अच्छा स्थान वताया। रात्रि मे स्वय चमत्कार हो जाएगा।

किसी ने मुह खोला—दया विरोधियो के जीने से भी क्या मतलव ? जो दूसरो के जीवन की वाञ्छा नही करते उनके जीने की अभिलाषा से

प्रतिषेधे, तेन अस्य योगे त्वा प्रत्यय.।

वाञ्छन्तितराम्, तेषामल जीवनवाञ्छया । एव समस्तेऽपि पुरे समेषा जैनानामाननेषु प्राय एषैव कथा प्रसारमाप्ता ।

व्यतीत दिवा[1] । भिक्षोः परीक्षा कर्त्तुमुत्क इव सविता[2] नक्त[3] सावकाश विदधत्स्वयमस्ताचलमधितस्थौ ।

यदास्पद दिवसेऽपि किञ्चिदन्धकारमय तत्तमस्विन्यां[4] कीदृग् भवतीति स्वयमभ्यूह्यम्। निर्भीतैरेभि. प्रतिक्रमणादि कृत्य सम्पादितम् । स्वाध्यायध्यानादिना सुखमेषामेकप्रहरमिता यामिनी व्यतीता । शयनसमये लघुशिष्यो भारीमाल प्रश्रवणपरिष्ठापनार्थ ततो वहिर्भागे नि.शङ्कमेकाक्येव जगाम । रजोहरणेन भूमि प्रमृज्य विधिना परिष्ठाप्य यावत्प्रत्यावलते तावदकस्मात्कश्चिन्महोरगस्तद्धैर्यमवधीरयितुमिव तस्य पादौ दृढ रज्जुवन्ध ववन्ध ।

अहो ! सर्पनाम्नापि लोका भयद्रुता वोभवति, तत्र वालोऽपि हर्यक्षशावक[5] इव भारीमालोऽकृतकोलाहलोऽग्रे गन्तुमसमर्थस्तत्रैव तस्थौ ।

"कि करोपि रे भारीमाल ! नाधुनावधि परिष्ठाप्य प्रत्यागतोऽसि । अकल्प्यमिद साधूना कृते क्षपायामनावृते स्थले स्थातुम् यदन्यत्र परिष्ठापनादिकार्येभ्य" शिक्षापरेण रवेण श्रीभिक्षुणा शब्दायितम् ।

शिष्य —"नाह चलितुमर्होऽस्मि, कथमागच्छामि ।"

श्रीभिक्षु —"किमुक्तम् ! कि गन्तुमसमर्थोऽसि ! कि जात ते चरणयो ?"

शिष्य —"भगवन् ! पिण्डिकयोरहिना चक्रवन्धं वद्धोऽस्मि ततो नेतस्ततो भवितुमर्हामि ।"

---

१. दिवा इत्यव्ययम्, तेनास्य विशेषणे नपुसकत्वम् । २ सूर्य । ३ नक्तम् राव्यर्थे । ४ निशायाम् । ५. सिंह-शावक. ।

क्या प्रयोजन ? इस प्रकार सारे ही नगर मे सब जैनो के मुँह पर प्राय. यही कथा थी।

दिन वीता। भिक्षु की परीक्षा करने को उत्सुक-सा सूर्य रात्रि को सावकाश बनाता हुआ अस्ताचल पर पहुँच गया।

जो स्थान दिन मे भी कुछ अन्धकारमय हो, वह रात्रि मे कैसा बन जाता है यह स्वय ही ज्ञातव्य है। निर्भय रहकर इन्होने प्रतिक्रमण आदि कृत्य किया। स्वाध्याय-ध्यान आदि से इनकी एक प्रहर रात्रि सुख-पूर्वक वीत गई। शयन-समय मे लघु शिष्य भारीमाल प्रश्रवण प्रतिष्ठापन के लिए वहाँ से बाहर निकल अकेले ही गये। रजोहरण से भूमि का प्रमार्जन करके विधि-पूर्वक परठ कर जब वापिस आने लगे तब अकस्मात् उनके धैर्य की परीक्षा हेतु मानो उत्सुक एक बडे सर्प ने उनके दोनो पैरो को रस्सी की तरह बाध लिया।

अहो! सर्प के नाम से ही लोग भयभीत हो जाते है, वहाँ बालक होते हुए भी सिंह शावक के समान भारीमाल ने कोई कोलाहल नही किया। आगे चलने के लिए असमर्थ थे इसलिए वही रुक गये।

"अरे! भारीमाल! क्या करता है? अब तक परठ कर वापिस नही आया? परिष्ठापना आदि कार्य के अतिरिक्त साधुओ को रात्रि के समय अनावृत स्थान मे रहना नही कल्पता।" शिक्षामय आवाज मे श्री भिक्षु स्वामी ने कहा।

शिष्य—मैं चल नही सकता कैसे आऊँ?

श्री भिक्षु—क्या कहा? क्या चलने मे असमर्थ है? क्या हुआ तेरे पैरो को?

शिष्य—भगवन्! पैरो मे सर्प लिपटा हुआ है। इसलिए इधर-उधर नही हो सकता।

श्रीभिक्षु,—"किमहिना क्रमयो' परिवेष्टितोऽसि ? आगच्छाम्यह तत्रैव।" इति निगद्य स्वामी निर्भय तत्र समागात्। भीषणभुजग-निगडितमङ्घ्रियुगल शिष्यस्य निभाल्य नमस्कारमहामन्त्रं श्रावयामास। 'चत्तारि मगल', 'लोगस्स उज्जोयगरे', 'उवस्सग्गहर पास' इत्यादि महाप्रभाविस्तोत्राणि स्पष्टमुच्चार्य, पुन कथयाम्बभूव—"नागदेव! यदि भवदीय पदमिदम्। नेहते चेद् भवान् साधूना स्थायिकामत्र, तर्हि नूनमुदयति भानौ वयमन्यत्र गमिष्याम', किन्तु बालमुनेश्चरणयोरनया रीत्या स्वकायपरिवेष्टन नौचित्यमञ्चति वृन्दारकाणाम्।"

भव्यभव्य श्री भिक्षोर्वचनामृत निपीय विगतकोप इव पन्नगो बालमुनेश्चरणयुगल प्रणनम्यमान इव परितः स्वशरीर भ्रामयन् सत्वरमन्तर्दधे। सह शिष्येण वीतसाध्वस[1] श्रीभिक्षु पुनराभ्यन्तरमागमत्। ईर्यापथिकी प्रतिक्रम्य सुख सुष्वाप। सार्धैकप्रहरमान निद्राय सततागमस्वाध्यायरसिक. स्वामी द्वित्रिवादनसमये पुनरुत्थितो धर्मध्यानपरायणोऽनित्यजागरा जागर्यामास'।

अकस्माद्धवलनेपथ्यभृदेक कश्चिच्छ्रीभिक्षोर्नयनपथमवतीर्ण झगिति नमस्कृत्य स्वामिन सम्मुख स्थित्वा विज्ञपयति स्म—"भगवन्! मदाश्रितमिद स्थानम्। अहो भाग्य मम यदत्रभवन्तोऽत्र समागत्येद मन्दिर पवित्रितवन्त। सहर्ष शासन मे भवद्भ्य स्थातुम्। सेविष्येऽहमपि श्रीमता चरणारविन्दम्। सर्वेऽप्युपद्रवा स्वय शान्ता भविष्यन्ति। केवलमिदमेव विज्ञपनीयम्—यन्मन्दिरस्याग्रतो देवच्छन्दद्वय[2] विद्यते तयोरेकस्मिन् भवतैव स्थातव्य नान्यैर्मुनिभि। अन्यच्च—मन्दिरस्य बहिर्भागे प्रातरह पन्नगरूपेण रेखामङ्कयिष्यामि,

---

१ वीतभयम्। २. 'चबूतरा' इतिभाषायाम्।

श्री भिक्षु—क्या पैरो मे सर्प लिपटा हुआ है ? ठहर, मैं वही आता हूँ; यह कहकर श्री भिक्षु स्वामी निर्भय वनकर तत्काल वहाँ आये। शिष्य के दोनो पैर भयकर सर्प मे आवेष्टित देखकर उन्होने नमस्कार महामन्त्र सुनाया। "चत्तारि मगल" "लोगस्स उज्जोयगरे" "उवसग्गहर पास" आदि महान प्रभावशाली स्तोत्रो का स्पष्ट उच्चारण करके कहा—"नागदेव ! यदि यह आपका स्थान है; और अगर आप यहा साधुओ का रहना नही चाहते हैं तो सूर्योदय होने पर हम कही अन्यत्र चले जाएँगे, किन्तु बाल मुनि के चरणो को इस प्रकार परिवेष्टित करना देवताओ के लिए उचित नही।"

श्री भिक्षु के भव्य वचनामृत का पान कर क्रोध का परित्याग करता हुआ-सा सर्प बाल मुनि के दोनो चरणो के सब ओर चक्कर लगाकर प्रणाम करता हुआ-सा क्षणो मे ही आखो से ओझल हो गया। श्री भिक्षु शिष्य के साथ निर्भय बने वापिस अन्दर आ गये।' 'चतुर्विंशतिस्तव' करके सुख पूर्वक शयन किया। लगभग डेढ प्रहर नीद लेकर सतत आगम स्वाध्याय के रसिक श्री भिक्षु दो-तीन बजे वापिस उठ गये। धर्म-ध्यान मे तल्लीन बनकर अनित्य जागरण करने लगे।

अकस्मात् सफेद कपडे पहनी हुई एक आकृति श्री भिक्षु के सामने प्रकट हुई। तत्क्षण नमस्कार करके श्री भिक्षु को निवेदन करने करने लगी—"भगवन् ! यह स्थान मेरे अधिकार मे है। मेरा सौभाग्य है कि आपने यहाँ पर पधार कर इस मन्दिर को पवित्र किया। आपको यहा ठहरने की मेरी सहर्ष आज्ञा है। मैं भी आपके चरणो की सेवा करूगा। सब उपद्रव अपने आप शान्त हो जाएँगे। केवल इतनी-सी विनती है कि मन्दिर के आगे दो चबूतरे हैं, उनमे किसी एक पर आप ही बैठे दूसरे साधु नही। दूसरी बात मन्दिर के बाहर सुबह मैं सर्प के रूप मे रेखा खीचूगा उसके अन्दर की सीमा

तस्या अभ्यन्तरे भागे न परिष्ठाप्य पानीयप्रस्रवणादिक किमपि, इति भवद्भि. समन्तात् सूचनीयाः सर्वेऽप्यनुगामिनो मुनय· । अपर भद्र, न चिन्त्य किमपि ।"

इति विज्ञप्योत्तिष्ठन् पुन सकेतयामास—"अह मनुष्योऽस्मीति न भवता भ्रान्तिभाजा भाव्यम् ।"

श्रीभिक्षु .—"नाह भवन्त मनुज मन्ये, देवयोनिभवमित्येव मे निःशङ्को निर्णय. ।"

झगिति देवो तिरोदधे । 'केन पथा गत.' इति न लक्षित श्रीभिक्षुणा ।

अहो ! "देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो" इतिशास्त्र-निरूपण सम्यक् सपन्नम् । ये प्रतिदिनमीषत् प्रातिकूल्यमासाद्य तद्व्यपोहार्थं देवान् नमस्यन्ति, पर्युपासते च तथापि तैर्न सुप्राप देव-दर्शनम् ।

प्रातः प्रतिक्रमणवेलात पूर्व यदान्येऽपि मुनयो जागरूका अभवन् तदा सक्षिप्त स्वामिना देवकथन सूचितम् । इतो महामहिम्नो दर्शनोत्सुक इव तरणिरुज्जगाम ।

प्रतिलेखनादिक कार्य समाप्य श्रीभिक्षुर्भिक्षुभि सह मन्दिरबहि-र्भागमाभेजे, तदानीमुरगः प्रत्यक्षीभूय स्वगत्या रेखामङ्कयामास । स्वामिना मुनीनुद्दिश्य प्रोक्तम्—"नास्मिन् भूभागे कैरपि किमपि परिष्ठापनीयम् ।" सर्वै सावधानं तदङ्गीकृतम् ।

रात्रौ किं जातमिति श्रोतु काम्पिल्यपुरीया.[1] जना कौतुहलाकुला आसन् । किमपि निश्चितमनिष्टमाशङ्कमाना प्रतीक्षाञ्चक्रिरे । प्रात. श्रीभिक्षुप्रभृतिमुनीन् निरापदो निरामयान् विलोक्य

---

१. केलवा के, इतिभाषा ।

मे पानी प्रश्रवण आदि का परिष्ठापन न करे। यह आप अपने सहवर्ती सब साधुओ को अच्छी तरह सूचित कर दे। और सब अपने आप ठीक होगा कुछ भी चिन्ता की बात नही।"

यह विज्ञप्ति कर खडे होते हुए पुन. सकेत किया—'मै मनुष्य हूँ, आप ऐसी भ्रान्ति मे न रहे।'

श्रीभिक्षु—"मैं आपको मनुष्य नही मानता। आप देव है यह मेरा निश्चित निर्णय है।"

आखो की झपकी के साथ ही देव अन्तर्हित हो गया। देव कौन से रास्ते से गया यह पता भी न चला।

अहो! "देव भी उसको नमस्कार करते हैं जिसका मन सदा धर्म मे रहता है" यह शास्त्र का निरूपण पूर्ण रूप से सही सम्पन्न हो गया। जो प्रतिदिन थोडी-सी प्रतिकूलता देखकर उसको दूर करने के लिए देवता को नमस्कार और पर्युपासना करते रहते है फिर भी उन्हे देव दर्शन नही प्राप्त होता।

प्रात. प्रतिक्रमण के समय से पूर्व ही जब दूसरे मुनि भी जाग गये तब श्री भिक्षु ने देव कथन की सक्षिप्त सूचना सब को दे दी। महामहिमाशाली श्री भिक्षु के दर्शनो का उत्सुक-सा सूर्य उदित हुआ।

प्रतिलेखन आदि कार्य सम्पन्न कर श्री भिक्षु मुनियो के साथ मन्दिर के बाहर आये। तब सर्प ने प्रत्यक्ष होकर अपनी गति से एक रेखा बनाई। श्री भिक्षु ने मुनियो को लक्षित करके कहा—कोई भी इस भू-भाग मे कुछ भी न परठे। सावधान होकर सबने उसे स्वीकार किया।

रात्रि मे क्या हुआ, यह सुनने के लिए केलवा निवासी कुतूहल से आकुल थे। निश्चित ही कोई नया अनिष्ट पैदा हुआ होगा, इसकी प्रतीक्षा मे थे। प्रात. श्री भिक्षु आदि साधुओ को निरापद और स्वस्थ देखकर आश्चर्य मे

विस्मयस्मेराननाः बभूवुः। कर्णाकर्णिकया प्रसृमरं शार्वरीयमुदन्तं[1] निशम्य चमत्कृता इव सञ्जज्ञिरे, अस्ति किमपि सामर्थ्यमेतेष्विति विभावयन्त आकृष्टान्तःकरणाश्च संवृत्ताः। तत्रत्यै राष्ट्रवरवंशीयैः[2]-राजन्यैः श्रीमोखमसिंहमहोदयैरप्यथावि स्वामिना घटनाचक्रम्। धार्मिक-भावनया प्रेरिताः कृतवन्तः स्वामिना दर्शनम्। उपवासत्रयस्य पारणमपि श्रीभिक्षोरभवत्पुराधिपतिकरेणैव। शुभारम्भेण सर्वं शुभं भावीति स्वामिना निर्णीतम्।

आगतमाषाढपूर्णिमायाः शुभं दिनम्। तस्मिन् श्रीभिक्षुस्वामि-प्रभृतिसर्वैरपि मुनिभिर्यत्रतत्रस्थैरर्हत्सिद्धान् साक्षीकुर्वाणैरुत्कृष्टभावनया स्व-पर-कल्याणकाङ्क्षिभिः पुनः सर्वसावद्ययोगान् प्रत्याख्याय त्रिकोटिविशुद्धं सामायिकं चारित्रं प्रतिपन्नम्। सदा सर्वत्र, सर्वतः, सर्वे पूर्णयत्नवद्भिर्भाव्यमिति स्वामिना शिष्यमण्डली सोत्साहमुद्बोधिता। यया श्रद्धया वयमेकं शिथिलाचारिणां गणं विरहय्य निःसृताः स्म, तया परमया श्रद्धया संयमाचरणे सावधानता वर्तनीया प्रतिपदमस्माभिः।

घस्रे[3] जना जनापवादभीरवः प्रायो न सेवन्ते स्वामि-सामीप्यम्, परन्तु सुप्तप्रायेषु नागरिकेषु दशवादनानन्तरं द्वित्रास्त्रिचतुराः पञ्चषा रात्रौ शनकैः स्वामिनमुपासते 'किं तत्त्वं' मिति जिज्ञासन्ते च। स्वामी तान् हेतु-दृष्टान्त-युक्त्यादिभिरागमरहस्यं प्रबोधयति। केचिद् विविक्तात्मानः प्रबुद्धा अपरानप्यानयन्ति स्वामिनः समीपम्। स्वामिना केवलसाधुषु क्रियमाणं सार्वजनिकं व्याख्यानमपि दूरेण यत्रतत्रस्थिता जनाः शृण्वन्ति। कथनं सत्यमित्यनुभवन्तः कृतसाहसाः केचिद्दिवसेऽप्यागच्छन्ति। तत्त्वान्वेषिणः केचित्स्वामिकथनं पूर्णं सत्यमिति मन्वानास्तदनुयायितामपि स्वीकुर्वन्ति। अनया पद्धत्या

---

१. रात्रिभवं वृत्तान्तम्। २. राठोड वंशी, इति भाषा। ३. दिवसे।

विस्फारित नयन हो गये। एक कान से दूसरे कान फैलती हुई रात वाली घटना को सुनकर लोग चमत्कृत-से रह गये। इनमे कोई अद्भुत शक्ति है यह चिन्तन करते हुए वे अन्दर ही अन्दर उनकी ओर आकृष्ट हो गये। वहा के राठोडवशीय राजा श्री मोखमसिहजी ने भी श्री भिक्षु स्वामी की घटनावलि को सुना और धार्मिक भावना से प्रेरित होकर स्वामी जी के दर्शन किए। तीन दिन के उपवास का पारण भी श्री भिक्षु ने उन्ही के हाथ से किया। जिसका आरम्भ शुभ से हुआ है उसका सब शुभ होगा यह निर्णय श्री भिक्षु ने किया।

आषाढ पूर्णिमा का शुभ दिन आया। उस दिन श्री भिक्षु स्वामी आदि सभी साधुओ ने जो जहाँ-तहाँ ठहरे हुए थे अर्हन्तो, सिद्धो को साक्षी करके उत्कृष्ट भावना से अपने और पराये कल्याण की कामना करते हुए पुन. सर्व सावद्य योगो का प्रत्याख्यान करके त्रिकोटि विशुद्ध सामायिक चारित्र स्वीकार किया। सदा सबको, सब जगह, सब प्रकार से सावधान रहना चाहिए, यो श्री भिक्षु ने अपने शिष्य मण्डली को सोत्साह उद्बोध दिया। जिस श्रद्धा से हम शिथिलाचारियो के एक सघ को छोडकर निकले है उसी परम श्रद्धा से हमे सयम-साधना मे कदम-कदम पर बढना चाहिए।

दिन मे लोक जनापवाद से त्रस्त प्राय स्वामी जी से सम्पर्क नही साधते थे, परन्तु लोगो के सो जाने पर दश बजे के बाद रात्रि मे दो, चार, पाच यो गुपचुप उपस्थित होते और तत्व क्या है ? इसकी जिज्ञासा करते। स्वामी जी उन्हे हेतु दृष्टान्त और युक्ति आदि के द्वारा आगम रहस्य बताते। कुछ विवेकशील प्रबुद्ध दूसरे मनुष्यो को भी स्वामी जी की सेवा मे लाते। स्वामी जी के द्वारा केवल साधुओ मे दिया गया सार्वजनिक व्याख्यान भी दूर से जहाँ तहाँ बैठे हुए लोग सुनते थे। इनका कथन सत्य है यह अनुभव करते हुए साहस करके दिन मे भी आते। कुछ तत्वगवेषी स्वामी जी के सिद्धान्त को पूर्ण सत्य मानकर उनके अनुयायी भी बनते। इस प्रकार धीरे-

शनैः शनैः सर्वमपि पुर तेरापन्थानुयायि सपन्नम् । नगराधिपा अपि सम्यक्तया श्रीभिक्षोर्भक्ताः समजनिषत ।

इत्थं श्रीभिक्षुस्वामिनोऽभिनिष्क्रमणस्य पौरस्त्ये हि चरणन्यासे सफलता श्री स्वयवरा प्रोल्ललास ।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचितेऽभिनिष्क्रमणाख्ये
महाकाव्ये गद्यप्रबन्धे सप्तदशः समुच्छ्वासः

तत्समाप्तौ समाप्तमिदमभिनिष्क्रमणाख्यं महाकाव्यम्



धीरे सारा नगर तेरापथ का अनुगामी हो गया। नगर के अधिपति (श्री मोखमसिंह जी) भी श्री भिक्षु के पूर्ण रूप से भक्त बन गये।

इस प्रकार श्री भिक्षु स्वामी के अभिनिष्क्रमण के प्रथम चरण-न्यास को ही सफलता श्री ने स्वय वरण कर लिया।

सत्तरहवां उच्छ्वास समाप्त

'अभिनिष्क्रमण' महाकाव्य भी समाप्त



काव्यकर्त्तुःप्रशस्तिमयं श्लोकनवकम्

भिक्षुस्तत्त्वपटु., स्तुवन्ति गुणिनो भिक्षु, कृता भिक्षुणा,
दिक्सूचार्हतवर्त्मन स्फुटतया, तस्मै नमो भिक्षवे।
भिक्षोर्विभ्यति कान्दिशीकचरिता, भिक्षो शुचि सयमो,
भिक्षौ भान्ति गभीरतादिसुगुणा, भिक्षो! ध्रुवं पाहि माम् ॥१॥

कुम्भे कि नु समाविशेज्जलनिधि. सूर्य शरावोदरे?
बाहुभ्या किमु मीयते सुरपथ. पद्भ्या धरित्री तथा?
श्रीभिक्षोर्महिमानमेति किमिय लघ्वी मदीया कृति?
यद्वा बालविजृम्भित सुमतिभिर्मत्वा क्षमा दीयताम् ॥२॥

काव्याना पदवी नयन्तु, नहि वा, काव्य मदीय बुधा.,
श्रीभिक्षोरभिधाऽत्र मङ्गलमयी भूय. प्रकाश गता
जात तेन पवित्रित मम मनो, जिह्वा च कर्णद्वय,
तेनाऽह परिपुष्टपुण्यनिचय. प्राप्स्यामि शस्त फलम् ॥३॥

तत्पट्टे भारमल्लो धृतविनयगुणो राजचन्द्रस्तृतीय
तुर्योऽभूज्जीतमल्लोऽद्भुतमतिविभव पञ्चम शक्रनामा।
षष्ठो माणिक्यलालस्तदनुगुणनिधिर्डालचन्द्र प्रतापी,
भाग्येश. कालूरामोऽष्टमपदमहितोऽदीपि कारुण्यमूर्त्ति ॥४॥

श्रेष्ठ प्रशस्तममल गुणिवृन्दमान्य,
यत् किञ्चिदस्ति मयि तत् सकल तदीयम्।

प्रशस्ति-श्लोक

श्री भिक्षु तत्व-पटु थे। गुणीजन भिक्षु की स्तवना करते है। भिक्षु ने अर्हत् मार्ग को स्पष्ट बताया था, उस भिक्षु को नमस्कार है। शिथिलाचारी लोग भिक्षु से डरते है। भिक्षु का सयम विशुद्ध था। भिक्षु मे गम्भीरता आदि अनेक गुण विद्यमान थे। हे भिक्षो ! मेरी रक्षा करो। ॥१॥

क्या घट मे समुद्र समा सकता है ? और क्या सूर्य, शराव (छोटा मिट्टी का पात्र) के पेट मे समाविष्ट हो सकता है ? क्या आकाश बाहुओ के द्वारा मापा जा सकता है और पृथ्वी पैरो से मापी जा सकती है ? इसी तरह श्रीभिक्षु की गरिमा को मेरी यह लघु कृति क्या व्यक्त कर सकती हे ? इसे तो बाल-क्रीडा समझकर विद्वज्जन मुझे क्षमा प्रदान करे। ॥२॥

विद्वान लोग मेरे इस काव्य को काव्य की पदवी दे या न दे। श्री भिक्षु का मगल-मय नाम इसमे खूब प्रख्यात हुआ है। उससे मेरा मन, जिह्वा और कान पावन हो गये है, इस कारण मैं पुण्यशाली निश्चित ही प्रशस्त फल पाऊँगा। ॥३॥

उनके पट्ट पर विनय गुण से परिपूर्ण श्री भारमल्ल जी स्वामी हुए। तृतीय पाट पर श्री राजचन्द्र जी स्वामी हुए। चौथे पाट पर अद्भुत मति वाले श्री जीतमल्ल जी स्वामी हुए। पचम पाट पर श्री मघवागणी हुए। छट्ठे पाट पर श्री माणकगणी हुए। सप्तम पाट पर प्रभावशाली श्री डाल गणी हुए। आठवें पाट पर करुणा-मूर्ति और महाभाग्यवान् श्री कालू गणी हुए। ॥४॥

मेरे मे जो कुछ प्रशस्त, निर्मल, श्रेष्ठ और गुणी जनो के द्वारा सम्माननीय

कालु न विस्मरति मे हृदय कृपालु,
कल्याणकारणमपूर्वविशेषताऽऽप्तम् ॥५॥

नवमासनमास्त कुशाग्रमति-र्मतिमन्महनीय-विशिष्टगति',
गतिमापदनेन जिनेन्द्रसृति, सृतिसेविभिरत्र धृतास्ति रति. ।
प्रगनि प्रगति. प्रगति सुतरा भवतादिति यस्य मति स्फुरति,
निजनामहता वत' शीतकता, कठिनापि कृति किमिति प्रकृता॥६॥

तस्य श्रीतुलसीगणेरनुमति सप्राप्य भिक्षुप्रभो.,
काव्य चार्वभिनिष्क्रमाख्यममल सदृब्धवान् सत्वरम् ।
वर्षाणा द्विशत व्यतीतमनघ तत्सुन्दरे प्रक्रमे,
भक्तेरञ्जलिमर्पयन् मुनिरय मोमुद्यते चन्दनः ॥७॥

उपलक्ष्य द्विशताब्दीमाचार्या राजनगरेऽस्थु ।
काकरोलि - नगरेऽभूत्-प्रावृड्वासो ममाप्यर्घ्य. ॥८॥

तत्रेय शुभरचना पूर्त्तिमगाद् भव्यवचनानाम् ।
७ १ ० २
[1]सवति ऋषि-भू-नभ-कर-कीकाष्टम्या शुभ भूयात् ॥९॥

इति काव्यकर्त्तुः प्रशस्ति समाप्तिमाप्ता
शुभ भूयात्, श्रीरस्तु

---

१ अङ्काना वामतो गतिरितिवचनात्—कर-२, नभ-०, भू-१, ऋषि-७, अनया पद्धत्या विक्रमीय २०१७ सवति कार्तिकाष्टम्याम् ।

है, वह सब उन्ही का है। अपूर्व विशेषताओ से मडित, कल्याणकारी और कृपालु कालूगणी को मेरा हृदय कभी नही भूल सकता। ॥५॥

विशिष्ट गतिशील, मतिमान पुरुषो के द्वारा पूजनीय, कुशाग्रीय बुद्धि के धनी श्रीतुलसीगणी नवमे आसन पर आसीन हुए। जिनके द्वारा जिनेश्वर देव का मार्ग गतिमान बना और सन्मार्गगामी पुरुषो को आनन्द मिला। जिन-शासन की खूब प्रगति हो ऐसी जिनकी बुद्धि मे स्फुरणा हुई। कडे से कडा कार्य भी उन्होने सहज मानकर प्रस्तुत किया इसलिए सुस्ती का तो नाम-निशान भी जिनके पास न रहा। ॥६॥

उन आचार्य श्री तुलसी गणी की अनुमति पाकर मैंने शीघ्र यह भिक्षु स्वामी का 'अभिनिष्क्रमण' नाम निर्मल काव्य बनाया है। तेरा पथ के द्विशताब्दी समारोह के अभिराम अवसर पर भक्ति की यह अजलि समर्पित करते हुए 'चन्दन मुनि' अतिशय प्रमुदित हो रहा है। ॥७॥

द्विशताब्दी उत्सव के उपलक्ष्य मे आचार्य श्री तुलसी का वर्षावास राजनगर मे हुआ और मेरा काकरोली नगर मे हुआ। ॥८॥

वही यह शुभकृति सवत् २०१७ कार्तिक की अष्टमी को पूर्ण होती हुई शुभकर सिद्ध हो। ॥९॥

प्रशस्ति समाप्त



परिशिष्ट

शब्द-सूचिः

अभिनिष्क्रमण-काव्यान्तर्गत-जैन–पारिभाषिक-
शब्दानां सतात्पर्या सूचि

अतिचार अपने स्वीकृत नियमो का अतिक्रमण।

अतिथि-संविभाग—जैन श्रावको के वारह व्रतो मे वारहवाँ व्रत—मुनि को भोजन, पानी, वस्त्र आदि १४ प्रकार का दान देना।

अनशन—भोजन, पानी आदि का कुछ समय के लिए या यावज्जीवन तक परित्याग।

अनुकम्पा दान—दीन-हीन को सहायतार्थ दिया जाने वाला दान।

अवसर्पिणी—अवनतिकाल—सुख से दु ख की ओर जाने वाला काल। कालचक्र का पहला चक्र, इसका कालमान दस कोडा कोड सागर का होता है।

अशुभयोग—असद् प्रवृत्ति।

आगम—गणधरो द्वारा गुम्फित तीर्थंकरो की वाणी को 'आगम' कहते है।

आदक्षिण-प्रदक्षिण—गुरु वदना मे की जाने वाली प्रदक्षिणा की विधि-विशेप।

आधाकर्मिक—जैन साधु के लिए वर्जनीय ४२ भिक्षा दोपो मे प्रथम दोप—मुनि-निमित्त वनाई गई वस्तु का ग्रहण।

इर्यापथिकी गमनागमन से सम्वन्धित क्रिया।

इर्यासमिति—पाँच समितियो मे प्रथम समिति—गमनागमन मे साव-धानी निर्दिष्ट करने वाली प्रवृत्ति।

उत्पाद—जैन साधु के लिए वर्जनीय ४२ दोपो मे १६ ऐसे दोप है जो भिक्षा-प्राप्ति के निमित्त मुनियो द्वारा उत्पन्न किये जाते है।

उद्गम—जैन साधु के लिए वर्जनीय ४२ दोषो मे १६ ऐसे दोष हैं, जो कि गृहस्थो के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।

उदीरण—नियत समय से पूर्व कर्मो को उदय मे ले आना।

उपकरण—वस्त्र, पात्र आदि १४ प्रकार की वस्तुएँ,—जिन्हे—जैन मुनि सयम-जीवन-निर्वाह के लिए रखते है।

उपाश्रय—जैन मुनियो के ठहरने के लिए स्थान विशेष।

एकेन्द्रिय जीव—एक इन्द्रिय वाले जीव, यथा—पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि पाँच स्थावर।

औदारिकशरीर—स्थूल पुद्गलो से निष्पन्न एव रस आदि धातुमय शरीर को औदारिक शरीर कहते है।

औद्देशिक—जैन-मुनि के लिए वर्जनीय ४२ भिक्षा दोषो मे द्वितीय दोष. किसी साधु विशेष के उद्देश्य से बनी वस्तु का ग्रहण।

कल्प्याकल्प्य—आचरण करने योग्य को कल्प्य और उमसे भिन्न को अकल्प्य कहते है।

केवल ज्ञान—जैन दर्शन मे चर्चित पाच ज्ञानो मे पाचवा ज्ञान जो चार घनघातिक कर्मो के क्षय से मिलता है।

कषाय-चतुष्टयी—क्रोध, मान, माया व लोभ।

गणधर—तीर्थंकर की वाणी को ग्रहण कर उसे गुम्फित करने वाले विशेष साधु। यथा-भगवान् महावीर के गौतम आदि ग्यारह गणधर थे।

गुणस्थान—आत्मा की क्रमिक विशुद्धि।

गुप्ति—मन, वचन व काया के गोपन को गुप्ति कहते है।

गोचर्या—जैन मुनियो की भिक्षावृत्ति का नाम। "गोरिवचर्या इति गोचर्या।"

घनघाति कर्म— आत्मा के मूल गुणो के घातक कर्म।

चक्रवर्ती—भरत क्षेत्र के ६ खण्ड का राजा अधिपति।

चतुर्दश पूर्वी—'दृष्टिवाद' नामक जैन आगम (बाहरवा अग) के चौथे अध्ययन मे वर्णित उत्पाद अग्रायणीय आदि १४ पूर्वो के ज्ञान को धारण करने वाले।

छद्मावस्था—केवल ज्ञान प्राप्त होने से पूर्व की अवस्था।

जिनकल्पी—छद्मस्थ अवस्था मे तीर्थंकरो की जैसी चर्या होती है वैसी ही कठिन चर्या (प्रतिज्ञा) को ग्रहण कर विहरण करने वाला मुनि।

तीर्थ—साधु-साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप सघ चतुष्टय को तीर्थ कहते हैं।

तीन मनोरथ—जिनकी जैन श्रावक नित्य भावना करते है।

१—कब मैं आरम्भ परिग्रह का त्याग करूँगा।

२—कब मैं सयम-साधुत्व अगीकार करूँगा।

३—कब मैं अनशन लेकर प्राण त्याग करूँगा।

तीर्थङ्कर नाम गोत्र—जिस पुण्य-प्रकृति के बन्ध के द्वारा तीर्थङ्कर-पद की प्राप्ति हो, उसे तीर्थङ्कर नाम गोत्र कहते हैं।

द्रव्य-दीक्षा—यथार्थ ज्ञान के अभाव मे ग्रहण की गई दीक्षा।

द्वीन्द्रिय—दो इन्द्रिय वाले जीव, यथा शख, लट आदि।

दु षम आर—जैन दर्शन मे चर्चित काल के ६ विभागो मे पाचवा विभाग।

देवाधिदेव—तीर्थंकर, अर्हत्।

नय—वस्तु के किसी एक अश को जानने वाले और अन्य अशो का खडन न करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है।

निह्नव -विरुद्ध प्ररुपणा करने वाला।

निरवद्य—पाप रहित।

निर्ग्रन्थ—जैन मुनि की प्रागृकालीन सज्ञा।

निर्जरा तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने मे जो आत्म-उज्ज्वलता होती है उसे निर्जरा कहते है।

निक्षेप—जीवादि पदार्थों का वाचकों मे यथोचित भेद मे आरोप करने को 'निक्षेप' कहते है। निक्षेप चार प्रकार के है—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव।

पच महाव्रत—जैन मुनियो के पाँच प्रमुख व्रत।

यथा—सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरतिर्महाव्रतम्।

परीषह- साधु-चर्या मे उत्पन्न होने वाले कष्ट विशेष जो २२ प्रकार के है।

पञ्चमार—देखे-दु षमार।

पञ्चम ज्ञान—देखे - केवल ज्ञान।

परिष्ठापन—लघु नीति आदि अनुपयोगी पदार्थ का यथाविधि विसर्जन परिष्ठापन कहलाता है।

पश्चात्-कृत—साधु-पर्याय को छोडकर पुन गृहस्थ बनने वाला।

प्रत्याख्यान—त्याग।

प्रतिक्रमण—दोनो सन्ध्याओ मे किया जाने वाला जैनो का प्रायश्चित्त-सूत्र।

प्रतिलेखन—वस्त्र-पात्र आदि उपकरणो को अहिंसात्मक दृष्टि से देखना।

प्रतिसेवी—मूल तथा उत्तर दोनो गुणो मे दोष लगाने वाला साधु।

पौषध—जैन श्रावक के बारह व्रतो मे ग्यारवा व्रत।

पारणा—उपवास आदि तपस्या की पूर्त्ति।

बलदेव—वासुदेव का ज्येष्ठ भ्राता।

भागवती दीक्षा—जैन-मुनि-दीक्षा।

भावितात्मा—ध्यान, स्वाध्याय, तप आदि से आत्मा को भावित करने वाले तत्त्वगवेषी मुनि।

मन पर्यव - जैनदर्शन मे चर्चित पाँच ज्ञानो मे चौथा ज्ञान। दूसरे के मनोभावो को जानना।

माधुकरी—मधुकर (भ्रमर की भाँति) घर २ से थोडी २ भिक्षा ग्रहण करना (जैन भिक्षा विधि का पर्यायवाची नाम)

मिथ्यात्वी-मिथ्यादृष्टि—तत्त्व या तत्त्वांश पर मिथ्याविश्वास रखने वाला।

मुहूर्त—दो घडी (४८ मिनट) कालमान को मुहूर्त कहते है।

मेदपाट—राजस्थान प्रान्त का उदयपुर डिवीजन।

रजोहरण—जीव दया निमित्त प्रमार्जन आदि के लिए ऊन से वना जैन मुनि के पास रहने वाला एक उपकरण।

लघु मासिक प्रायश्चित्त—जैन शास्त्र के विधानानुसार प्रायश्चित्त विशेप।

बकुश—शरीर की विभूपा करते हुए उत्तर गुणो मे दोप लगाकर चारित्र को मलिन करने वाला मुनि।

वासुदेव—अर्ध चक्रवर्ती (तीन खण्ड भूमि का स्वामी)

विकथा—स्त्री, भोजन, पानी, देश राजा, आदि के सम्वन्ध मे चर्चा करना।

विचिकित्सा—धर्म फल मे सशय।

वैयावृत्य—निर्जरा के १२ भेदो मे १०वा भेद। आचार्य, उपाध्याय, शैक्ष व ग्लान आदि मुनियो की सेवा करना।

स्थानकवासी—श्वेताम्वर जैनो की एक शाखा।

सप्तभङ्गी—वस्तु-तत्त्व को स्याद्वाद दृष्टि के द्वारा समझने के लिए स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति आदि सात भेदो का नाम।

सम्यक्दृष्टि—यथार्थ दृष्टिकोण वाला।

समिति—गमनागमन, भापण आदि प्रवृत्तियो मे सजगता को समिति कहते हैं।

समाचारी—जैन मुनियो के आवश्यकी, नैपेधिकी आदि दस प्रकार के व्यवहारात्मक आचार।

सामायिक—जैन श्रावक के १२ व्रतो मे ९वा व्रत जो ४८ मिनट के लिए सर्व पाप कार्यों से मुक्त होकर समतामय वनने का एक अनुष्ठान।

सावद्ययोग—पापकारी प्रवृत्ति।

सिद्ध—अष्ट कर्मों के सर्व बन्धनो का क्षय करके आत्म-स्वरूप मे स्थित आत्मा सिद्ध कहे जाते है।

सूत्र—जैन आगमो का पर्यायवाची शब्द।

संवेग—मुक्ति की अभिलाषा।

श्रमण—जैन-मुनि का प्राग् ऐतिहासिक नाम।

श्रावक—व्रतधारी गृहस्थ।

त्रिकोटि-विशुद्ध -तीन करण (करना, करवाना, अनुमोदन करना) व तीन योग (मन, वचन, काया) से विशुद्ध को त्रिकोटि-विशुद्ध कहते है।

